तर्कसङ्ग्रहः

(विस्तृत भूमिका, तर्कदीपिका संस्कृत व्याख्या,
हिन्दी अनुवाद एवं चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या सहित)

डॉ॰ राकेश शास्त्री

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
152

श्रीमदन्नंभट्टविरचितः

तर्कसङ्ग्रहः

(विस्तृत भूमिका, तर्कदीपिका संस्कृत व्याख्या, हिन्दी अनुवाद एवं चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या सहित)

व्याख्याकारः
डॉ० राकेश शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्रीगोविन्द गुरु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बांसवाड़ा (राज०)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

तर्कसङ्ग्रहः

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

© सर्वाधिकार सुरक्षित
पुनर्मुद्रित संस्करण 2016
पृष्ठ : 2+288
मूल्य : ₹ 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-688-1

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

समर्पण

सरस्वती के वरदपुत्र, देववाणी के अनन्योपासक,
संस्कृत, वेद एवं दर्शन के उद्भट विद्वान्, प्रातःस्मरणीय,
परम श्रद्धेय गुरुवर्य

डॉ० दयानन्द जी भार्गव

पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, संस्कृत–विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

के कर–कमलों में सादर–

डॉ० राकेश शास्त्री

यत्किञ्चित्

श्रीमद् अन्नम्भट्ट विरचित तर्कसङ्ग्रह वैशेषिकदर्शन का प्रकरणग्रन्थ है, क्योंकि लगभग बारह पृष्ठों में निबद्ध अत्यन्त लघुकलेवर वाले इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने वैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को समझाने का सफल प्रयास किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ संवादात्मक प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध होने से अत्यधिक रोचक बन गया है।

मूलग्रन्थ में ही विषय को अत्यधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने पर भी सम्भवत: उससे असन्तुष्ट ग्रन्थकार ने इसकी 'तर्कदीपिका' टीका की स्वयं ही संरचना करके विषय को अपेक्षाकृत और भी अच्छे ढंग से विस्तारपूर्वक समझाया है। पुनरपि छात्रों में दर्शन विषय और वह भी न्यायवैशेषिक के प्रति अत्यधिक क्लिष्टता की भावना का अवलोकन करके अपनी सांख्यकारिका एवं वेदान्तसार पर 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या डायग्राम के साथ प्रस्तुत करने के बाद इस लघुग्रन्थ पर भी मैंने लेखनी चलाने का विचार किया।

इस विषय की महत्ता इसी से प्रतीत होती है कि आकार में अत्यन्त लघु होते हुए भी अनेक विद्वानों द्वारा इस पर लगभग पच्चीस टीकाओं का लेखन किया गया है, जिन्होंने वैशेषिकदर्शन के साहित्य में अभूतपूर्व समृद्धि की है। जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है यह वस्तुत: तर्कप्रधान शास्त्र है तथा स्वयं ग्रन्थकार ने इसकी 'तर्कदीपिका' टीका में बौद्ध, मीमांसा, चार्वाक एवं वेदान्तादि अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए उनका तार्किक पद्धति से खण्डन करते हुए अपने मत की प्रस्थापना की है।

इसलिए मूलग्रन्थ की भावना को हृदयङ्गम करने के लिए ग्रन्थकार द्वारा विरचित 'तर्कदीपिका' टीका का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसी कारण अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा तर्कसङ्ग्रह सहित इस टीका को पाठ्यक्रम में निर्धारित भी किया गया है। अत: इसकी उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए इसे अध्ययन में सम्मिलित किया गया है।

अपने अन्य ग्रन्थों के समान ही इस ग्रन्थ के लेखन में भी मेरा प्रमुख प्रयास विषय की सरलतम प्रस्तुति ही रहा है। इस दृष्टि से जहाँ मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद दिया गया है, वहीं तर्कदीपिकानुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या विस्तारपूर्वक देने का प्रयास किया है। जिसके विशेष शीर्षक के अन्तर्गत तत्तत् स्थल सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी जिज्ञासु पाठक के लिए प्रस्तुत की गई है। इसके अतिरिक्त यह शाश्वत तथ्य है कि किसी भी विषय को चित्रात्मक शैली के माध्यम से अत्यन्त सहजरूप से समझा जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक खंड की व्याख्या के पश्चात् 'डायग्राम' द्वारा सरल प्रस्तुति का भी लगभग 65 चित्रों में विनम्र प्रयास किया है।

इस पुस्तक में मौलिकता मेरा लेशमात्र भी दावा नहीं है तथापि इस विषय पर डॉ० दयानन्द भार्गव एवं डॉ० पंकज कुमार मिश्र जैसे अनेक विद्वानों के ग्रन्थों को देखकर इसे नूतनशैली में प्रस्तुति की व्याकुलता ही कार्यरूप-परिणति का कारण रही है। साथ ही यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस ग्रन्थ के लेखन में अब तक प्रकाशित हिन्दी एवं संस्कृत में लिखे गए ग्रन्थ ही मेरा मुख्य आधार रहे हैं। अत: उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति मैं श्रद्धा से अवनत होकर हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरा यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सका है इसका निर्णय तो इस विषय के विशिष्ट विद्वान् प्राध्यापक एवं जिज्ञासु अध्येता छात्र ही कर सकते हैं तथापि इस अवसर पर मेरा अत्यन्त विनम्रतापूर्वक केवल इतना ही निवेदन है कि यदि इस प्रस्तुति के अवलोकन से छात्रों को इस दर्शन के प्रति अथवा तर्कसंग्रह कृति के प्रति क्लिष्टता की भावना थोड़ी भी कम हो सकी तो मैं इसे अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

इस ग्रन्थ के सुन्दर एवं आकर्षक प्रकाशन के लिए संस्कृत प्रेमी प्रियबंधु श्री प्रवीण गुप्त, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ। ईश्वर उन्हें अन्य दर्शन ग्रन्थों के प्रकाशन की भी सामर्थ्य प्रदान करें।

इति शम्।

राकेश शास्त्री

1-जे-38
हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
बांसवाड़ा (राज०)
9460308623

विषयानुक्रमणिका

यत्किञ्चित्	3
भूमिका	13-73
(क) दर्शन से अभिप्राय	13
(ख) दर्शन का विकास	13
(ग) भारतीय दर्शन का परिचय	14
(अ) नास्तिक दर्शन	14
(1) चार्वाक दर्शन	14
(2) जैन दर्शन	14
(3) बौद्ध दर्शन	15
(आ) आस्तिक दर्शन	16
(1) पूर्वमीमांसा	16
(2) उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन)	16
(3) सांख्यदर्शन	17
(4) योगदर्शन	18
(5) न्यायदर्शन	18
(6) वैशेषिकदर्शन	19
(घ) वैशेषिक सम्प्रदाय की प्राचीनता	19
(ङ) न्यायवैशेषिक दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध	20
(च) वैशेषिकदर्शन का नामकरण	22
(छ) वैशेषिकसूत्र कालं	24
(ज) वैशेषिकसूत्र का परिचय	25
(झ) वैशेषिकदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ	25

(1) उलूक 26
(2) कणाद 28
(3) वाक्य टीकाकार 30
(4) श्रायस्क आचार्य 31
(5) रावण भाष्यकार 31
(6) कटन्दी 32
(7) आत्रेय 33
(8) प्रशस्तपाद 33
(9) प्रशस्तपाद के टीका ग्रन्थ 35
(i) व्योमवती 35
(ii) किरणावली 35
(iii) न्यायकन्दली 36
(iv) लीलावती 36
(v) सूक्ति 37
(vi) सेतु 37
(vii) भाष्यनिकष 37
(viii) कणादरहस्य 37
(10) चन्द्रानन्द 37
(11) शिवादित्यमिश्र 37
(12) वल्लभाचार्य 38
(13) केशवमिश्र 39
(14) विश्वनाथ न्यायपञ्चानन 40
(क) भाषा-परिच्छेद 40
(ख) न्यायसूत्रवृत्ति 40
(15) जयनारायण तर्कपञ्चानन 40
(ञ) आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनका तर्कसंग्रह : एक परिचय 41
(ट) तर्कसंग्रह की टीकाएँ 42
(ठ) तर्कसंग्रह का वैशेषिकदर्शन साहित्य में स्थान 43
(ड) तर्कसंग्रह में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त एवं विषय 43

(अ) सप्त पदार्थ 44
(1) नवद्रव्य 44
(2) गुण 45
(3) कर्म 46
(4) सामान्य 47
(5) विशेष 48
(6) समवाय 49
(7) अभाव 50
(क) प्रागभाव 50
(ख) प्रध्वंसाभाव 50
(ग) अत्यन्ताभाव 51
(घ) अन्योन्याभाव 51
(आ) चतुर्विध प्रमाण 52
(क) प्रत्यक्षप्रमाण 52
(i) निर्विकल्पक 52
(ii) सविकल्पक 53
(ख) अनुमान प्रमाण 53
(i) अनुमान की पञ्चावयव प्रक्रिया 55
(ii) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष का स्वरूप 56
(iii) त्रिविध कारण 56
(iv) त्रिविध लिङ्ग 57
(ग) उपमान प्रमाण 59
(घ) शब्द प्रमाण 59
(इ) वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु 60
(क) आकांक्षा 60
(ख) योग्यता 60
(ग) सन्निधि 60
(ई) षड्विध सन्निकर्ष 61
(i) संयोग 61

(ii) संयुक्त समवाय 61
(iii) संयुक्त समवेत समवाय 61
(iv) समवाय 61
(v) समवेत समवाय 61
(vi) विशेष्यविशेषण भाव 62
(उ) हेत्वाभास 62
(1) सव्यभिचार हेत्वाभास 62
(2) विरुद्ध हेत्वाभास 63
(3) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास 64
(4) असिद्ध हेत्वाभास 64
(5) बाधित हेत्वाभास 65
(ऊ) आत्मा 66
(ए) परमाणुवाद का सिद्धान्त 67
(ऐ) सृष्टि-प्रलय-निरूपण 70

तर्कसंग्रह

मूल, तर्कदीपिका, हिन्दी अनुवाद एवं 'चन्द्रिका' व्याख्या

प्रत्यक्षखण्डम् 78
(1) पदार्थ (सप्त) प्रकरण 78
(क) द्रव्य (नव) 80
(ख) गुण (चतुर्विंशति) 82
(ग) कर्म (पञ्च) 86
(घ) सामान्य (द्विविध) 89
(ङ) विशेष (अनन्त) 91
(च) समवाय (एकल) 93
(छ) अभाव (चतुर्विध) 97
(2) द्रव्य लक्षण एवं भेद प्रकरण 102
(i) पृथिवी का लक्षण एवं भेद 102
(ii) जल का लक्षण एवं भेद 112
(iii) तेजस् का लक्षण एवं भेद 115
(iv) वायु का लक्षण एवं भेद 119

(v) आकाश का लक्षण एवं भेद 123

(vi) काल का लक्षण एवं भेद 126

(vii) दिशा का लक्षण एवं भेद 128

(viii) आत्मा का लक्षण एवं भेद 132

(ix) मन का लक्षण एवं भेद 137

(3) गुण-लक्षण एवं भेद प्रकरण 140

(i) रूप का लक्षण एवं भेद 140

(ii) रस का लक्षण एवं भेद 144

(iii) गन्ध का लक्षण एवं भेद 146

(iv) स्पर्श का लक्षण एवं भेद 148

(v) रूपादि की स्थिति 150

(vi) संख्या का लक्षण एवं स्थिति 155

(vii) परिमाण का लक्षण एवं भेद 157

(viii) पृथक्त्व का लक्षण 159

(ix) संयोग का लक्षण 160

(x) विभाग का लक्षण 162

(xi) परत्व-अपरत्व का लक्षण एवं भेद 164

(xii) गुरुत्व का लक्षण 166

(xiii) द्रवत्व का लक्षण एवं भेद 168

(xiv) स्नेह का लक्षण एवं स्थिति 171

(xv) शब्द का लक्षण एवं भेद 173

(xvi) बुद्धि का लक्षण एवं भेद 175

(क) स्मृति का लक्षण

(ख) अनुभव का लक्षण

(अ) यथार्थ अनुभव का लक्षण 178

(आ) अयथार्थ अनुभव का लक्षण 178

(4) प्रमाण प्रकरण 181

(i) यथार्थ अनुभव के भेद 181

(ii) करण के प्रकार 183

(iii) करण का लक्षण 183
(iv) कारण का लक्षण 183
(v) कार्य का लक्षण 183
(vi) कारण के प्रकार 188
(अ) समवायिकारण का लक्षण 188
(ब) असमवायिकारण का लक्षण 188
(स) निमित्त कारण का लक्षण 188
(vii) करण का निकृष्ट लक्षण 188
(viii) प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण 194
(ix) प्रत्यक्षज्ञान के भेद 194
(अ) निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण 194
(ब) सविकल्पक ज्ञान का लक्षण 194
(x) सन्निकर्ष का लक्षण एवं प्रकार 199
(क) घटप्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की स्थिति 199
(ख) घटरूप-प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की स्थिति 199
(ग) रूपत्वप्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की स्थिति 199
(घ) शब्दप्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की स्थिति 199
(ङ) शब्दत्व प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की स्थिति 199
(च) अभाव प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष 199
अथाऽनुमानखण्डः **206**
(xi) अनुमान प्रमाण का लक्षण 206
(क) अनुमिति का लक्षण 206
(ख) परामर्श का स्वरूप 206
(ग) व्याप्ति का लक्षण 206
(घ) पक्षधर्मता का लक्षण 206
(xii) अनुमान के भेद 211
(क) स्वार्थानुमान का स्वरूप 211
(ख) परार्थानुमान का स्वरूप 214
(ग) पञ्चावयव वाक्य की स्थिति 216
(घ) स्वार्थानुमिति परार्थानुमिति का करण 219

(xiii) लिङ्ग के भेद एवं लक्षण 219
(क) अन्वयव्यतिरेकी का लक्षण 219
(ख) केवलान्वयी का लक्षण 219
(ग) केवल व्यतिरेकी का लक्षण 219
(xiv) पक्ष-सपक्ष एवं विपक्ष की स्थिति 224
(क) पक्ष का लक्षण 224
(ख) सपक्ष का लक्षण 224
(ग) विपक्ष का लक्षण 224
(xv) हेत्वाभासों के प्रकार 226
(क) सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण एवं प्रकार 226
(ख) विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण 231
(ग) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का लक्षण 232
(घ) असिद्ध हेत्वाभास के प्रकार 234
(अ) आश्रय-असिद्ध हेत्वाभास 234
(ब) स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास 234
(स) व्याप्यत्व-असिद्ध हेत्वाभास एवं उपाधि का स्वरूप 234
(ङ) बाधित हेत्वाभास का लक्षण 239
अथोपमानखण्डः 241
(xvi) उपमान प्रमाण का लक्षण 241
अथ शब्दखण्डः 244
(xvii) शब्द प्रमाण का स्वरूप 244
(xviii) वाक्यार्थ-ज्ञान के हेतु 247
(xix) वाक्य के प्रकार 250
अवशिष्ट-परिच्छेद 254
गुणनिरूपणम्
(xx) अयथार्थ अनुभव के भेद 254
(क) संशय का लक्षण 254
(ख) विपर्यय का लक्षण 254
(xxi) तर्क का स्वरूप 254
(xxii) स्मृति के भेद 258

(xxiii) सुख का लक्षण 260
(xxiv) दुःख का लक्षण 260
(xxv) इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न का लक्षण 260
(xxvi) धर्म-अधर्म का लक्षण 260
(xxvii) आत्मा के विशेषगुणों की स्थिति 260
(xxviii) संस्कार का स्वरूप एवं भेद 260

अथ कर्मखण्डः **263**

(5) कर्मों के लक्षण **263**
(6) सामान्य का लक्षण **264**
(7) विशेष का लक्षण **265**
(8) समवाय का लक्षण **265**
(9) अभाव के लक्षण एवं भेद **266**
(क) प्राग्-अभाव का लक्षण 266
(ख) प्रध्वंस-अभाव का लक्षण 266
(ग) अत्यन्त-अभाव का लक्षण 266
(घ) अन्योन्य-अभाव का लक्षण 266

परिशिष्ट-1
डायग्राम 10 272-283
परिशिष्ट-2
तर्कसंग्रहकार एवं उनकी कृति के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें 284-285
सहायक ग्रन्थ-सूची 286-288

• • •

भूमिका

(क) दर्शन से अभिप्राय–देखना अर्थ में प्रयुक्त $\sqrt{}$दृश् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति होती है। (अष्टाध्यायी-3/3/114, नपुंसके भावे क्तः) आचार्य पाणिनि ने 'ल्युट्' प्रत्यय का भाव, करण तथा अधिकरण तीन अर्थों में प्रयोग स्वीकार किया है। (ल्युट् च-3/3/115, करणाधिकरणयोश्च-3/3/117) यहाँ भाव से अभिप्राय पूर्णतया शुद्ध धातु के अर्थ से है। इसप्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ देखना। अर्थात् वह विद्या, ज्ञान अथवा साधन जिसके द्वारा किसी विषय, वस्तु को देखा जाए अथवा जाना जाए 'दर्शन' कहलाती है।

दर्शन का मानवजीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि मनुष्य के जीवन का कोई भी पक्ष दर्शन की परिधि से बाहर हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में जब मनुष्य ने विचार करना प्रारम्भ किया होगा, तभी से उसके कुछ अनुभव स्थायी आकार लेने लगे होंगे। अतः स्थायी आकार से आकारित उसके ये अनुभव ही कालान्तर में दर्शनरूप में परिवर्तित हो गए होंगे।

(ख) दर्शन का विकास–सृष्टि के आदिकाल में मनुष्य की उत्पत्ति के पश्चात् प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को देखकर वह अत्यधिक आश्चर्य चकित हुआ होगा तथा उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ रहीं होंगी। जैसे–यह प्रकृति क्या है? अर्थात् सूरज, चाँद, तारे, पर्वत, नदियाँ, वृक्षादि ये सभी क्या हैं? इन्हें तथा मुझे बनाने वाला कौन है? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? यह संसार क्या है? इसे बनाने वाला कौन है? तथा उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? आदि-आदि।

ये कुछ प्रश्न ही उसके मन एवं मस्तिष्क में रहे होंगे, जिन्होंने उसे चिन्तन के लिए बाध्य किया होगा। इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों को आगे चलकर विद्वान् मनीषियों ने दर्शनरूप में प्रतिष्ठित किया। उक्त समस्याओं पर अलग-अलग चिन्तकों ने

अपनी-अपनी शैली से भिन्न रूप में चिन्तन किए एवं निष्कर्ष प्राप्त किए। इसीप्रकार अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ होगा। इन्हीं चिन्तन शैलियों को बाद में भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन आदि शब्दों से पुकारा गया।

इसप्रकार दर्शनरूपी ज्ञान की इस स्रोतस्विनी का प्रवाह आदिकाल से अबाधगति से चला आ रहा है। जिसका उद्गमस्थल हमें वैदिक ज्ञान के अक्षय भंडार ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। उसमें प्रयुक्त दार्शनिक सूक्त नासदीय एवं पुरुष आदि तत्कालीन मानव की नैसर्गिक जिज्ञासा के परिचायक हैं।

(ग) भारतीय दर्शन एक परिचय—भारतीय दर्शन विषयक विचारधाराओं को मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—आस्तिक एवं नास्तिक। जिनमें वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया गया है वे आस्तिक दर्शन एवं जो दर्शन वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते, उन्हें महत्ता प्रदान नहीं करते, उन्हें नास्तिक दर्शन की संज्ञा प्रदान की गई। नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत मुख्यरूप से चार्वाक, जैन एवं बौद्धदर्शनों की गणना की गई तथा आस्तिक दर्शनों की संख्या छः मानी गई—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त), सांख्य, योग, न्याय एवं वैशेषिकदर्शन। अब हम इन सभी दर्शनों का यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

(अ) नास्तिक दर्शन—इनमें सर्वाधिक प्राचीन **(1) चार्वाक दर्शन** माना गया है। इसी को 'लोकायत' के नाम से भी जाना जाता है। यह वस्तुतः भौतिकवादी दर्शन है। आचार्य बृहस्पति एवं चार्वाक इसके प्रमुख आचार्य रहे हैं। यह दर्शन आत्मा, परमात्मा, परलोक आदि को नहीं मानता है। इसके अनुसार प्रत्यक्षरूप से दिखायी देने वाला संसार ही सब कुछ है। इसलिए व्यक्ति को यहाँ जब तक भी जीना है वह सुखपूर्वक जीने का ही प्रयास करे, भले ही इसके लिए उसे ऋण ही क्यों न लेना पड़े, क्योंकि शरीर की मृत्यु के बाद इसे जला दिए जाने पर भला इसका पुनः इस संसार में आगमन कैसे हो सकता है? अतः व्यक्ति को हमेशा दुःखों से दूर ही रहना चाहिए।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

चार्वाक का मानना है। जब तक जियो सुखपूर्वक जियो, ऋण करो और घी पियो। शरीर के जल जाने पर भला पुनः इस संसार में आना कैसे हो सकता है?

(2) जैनदर्शन—यह भी नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत ही आता है। प्रथमशती में स्थित 'उमास्वाति' इसके प्राचीन आचार्य माने गए हैं तथा पञ्चम शती के 'सिद्धसेन

दिवाकर' को जैन न्याय के प्रणेता आचार्य के रूप में जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अकलङ्कदेव, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्रसूरि, मल्लिसेन आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। इस दर्शन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं पर विचार किया गया है। इसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है जो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वस्तु के अलग-अलग रूपों की सत्यता का प्रतिपादन करता है। इस विचारधारा में कुल चौबीस तीर्थंकर हुए, जिनमें प्रथम ऋषभदेव तथा अंतिम भगवान् महावीर माने गए हैं।

जैनदर्शन के अन्तर्गत तीर्थंकरों के उपदेश तथा जैन साधुओं के चरित्र को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। इसके प्रमुखरूप से श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हैं। यहाँ पञ्चपरमेष्ठियों की पूजा का विधान किया गया है। जिनमें अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आते हैं। दिगम्बर जैन साधु पूर्णतया नग्न रहते हैं तथा श्वेताम्बर जैन साधु श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। इस दर्शन में अहिंसा का सर्वाधिक महत्त्व है। किसी भी प्राणी को मन, वचन अथवा कर्म द्वारा पीड़ा पहुँचाना ही यहाँ हिंसा के अन्तर्गत माना गया है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन पुनर्जन्म, कर्म और स्याद्वाद के सिद्धान्तों को भी मान्यता प्रदान करता है।

(3) **बौद्धदर्शन**–यह भी नास्तिक दर्शनों में माना गया है। इसमें मुख्यरूप से चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है–(1) वैभाषिक, (2) सौत्रान्तिक, (3) विज्ञानवादी और (4) शून्यवादी। पालिभाषा में लिखे गए त्रिपिटक ग्रन्थों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। द्वितीय शती में स्थित 'नागार्जुन' इस दर्शन के प्राचीन आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित कमलशील, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्रीमिश्र आदि भी प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन आचार्यों द्वारा लिखे गए प्रमाण-समुच्चय, प्रमाण-वार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतु-बिंदु, तत्त्व-सङ्ग्रह तथा तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका इस दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ माने गए हैं।

यह दर्शन सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत नहीं मानता है। साथ ही अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता है। भगवान् बुद्ध ने इसे जनमानस में प्रतिष्ठापित करके संसार को दुःखमय बताते हुए लोगों के निर्वाण के मार्ग को प्रशस्त किया। इसके अनुसार दुःख का मूलकारण 'तृष्णा' है। इसलिए अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण पाने से ही दुःख की निवृत्ति सम्भव है। इस दर्शन में आठ मार्गों की प्रमुखता प्रतिपादित की गई है–सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक् समाधि। इसके मत में निर्वाण द्वारा ही व्यक्ति पुनर्जन्म के बंधन से मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

(आ) आस्तिक दर्शन–वेदों में आस्था प्रदर्शित करके उन्हें प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने वाले आस्तिक दर्शनों की संख्या छः है–

(1) पूर्वमीमांसा–आचार्य जैमिनी इसके प्रणेता माने गए हैं। यह वेद को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। वेद सम्मत होने पर भी यह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता है। इसके अनुसार सृष्टि अनादि एवं नित्य है। अतः इसके कर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वैदिक क्रियाओं के सम्पादन के लिए यहाँ वैदिक देवी-देवताओं की परिकल्पना को मान्यता प्रदान की गई है।

कर्म और कर्मफल के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यहाँ अपूर्व नामक तत्त्व की मौलिक कल्पना की गई है। शबरस्वामी, प्रभाकर भट्ट, कुमारिल भट्ट तथा पार्थसारथि मिश्र इस दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के अतिरिक्त उपमान एवं अनुपलब्धि प्रमाणों को भी मान्यता प्रदान की गई है। यद्यपि सभी आचार्य इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः कर्मकाण्ड एवं यज्ञादि विषयक वैदिक वाक्यों की व्याख्याओं के नियमों का प्रतिपादन करना है। मोक्ष के लिए यहाँ कर्म एवं ज्ञान दोनों की ही आवश्यकता बताई गई है।

इस दर्शन के आद्यग्रन्थ जैमिनीयसूत्र में 16 अध्याय 90 अधिकरण तथा 2644 सूत्र हैं, जिन पर शबरस्वामी ने उत्कृष्टभाष्य की संरचना की।

(2) उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन)–आचार्य बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' इसका आधारग्रन्थ है। इसी का दूसरा नाम 'वेदान्तसूत्र' भी है। इस दर्शन के प्रमुख आधार उपनिषद्ग्रन्थ रहे हैं, क्योंकि उन्हीं के वाक्यों को यहाँ पद-पद पर उद्धृत किया गया है। ब्रह्म, जीव, जगत् और माया इस दर्शन के प्रमुख विवेच्य रहे हैं। ब्रह्मसूत्र पर लिखा गया आचार्य शङ्कर का 'शारीरक भाष्य' इस दर्शन का अद्भुत ग्रन्थ माना गया है। इसमें ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस भाष्य के महत्त्व का इसी से पता चलता है कि इस पर भी अनेक विद्वान् आचार्यों द्वारा अनेक टीकाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। वाचस्पति की 'भामती टीका' इनमें विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त श्री हर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य', चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वदीपिका', विद्यारण्यस्वामी की 'पञ्चदशी', 'विवरणप्रमेयसङ्ग्रह', 'जीवनमुक्तिविवेक', मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि', अप्पयदीक्षित का

'सिद्धान्तलेश-संग्रह' इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं किन्तु सदानन्द विरचित वेदान्तसार को सरलतम होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

इस दर्शन के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदाय भी हैं। ये सभी वैष्णव-वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र सभी वेदान्त सम्प्रदायों के प्रमुख आधार ग्रन्थ रहे हैं। ब्रह्म और जीव का ऐक्य प्रतिपादन करना ही इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य रहा है।

(3) सांख्यदर्शन–महर्षि कपिल इसके प्रवर्तक आचार्य हैं। पुरुष एवं प्रकृति इन दो तत्त्वों को यहाँ नित्य माना गया है। इसलिए इसे द्वैतवादी दर्शन भी कहा जाता है। पुरुष चेतन एवं प्रकाशस्वरूप है जबकि सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। इसे जड़ माना गया है। जब इस पर पुरुष का प्रकाश पड़ता है तो ये तीनों गुण एक-दूसरे को दबाने लगते हैं, परिणामस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस क्रम में सबसे पहले महत् अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है और उसके बाद महत् से अहङ्कार की सृष्टि होती है।

इसी अहङ्कार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ) वाक्, पाणी, पाद, वायु और उपस्थ (पञ्चकर्मेन्द्रियाँ), शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध (पञ्चतन्मात्राएँ) तथा मन यह सोलह का गण उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं से क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसप्रकार यह दर्शन कुल 25 तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है। इसके अनुसार इन्हीं पच्चीस तत्त्वों के सम्यक्ज्ञान से व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति होती है।

ज्ञानप्राप्ति के लिए यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। सत्कार्यवाद इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कारण में कार्य की उपस्थिति को पहले से ही स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को भी मान्यता प्रदान करता है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने के कारण इसे 'निरीश्वर सांख्य' भी कहा जाता है। तत्त्वों की संख्या को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण इसे सांख्यदर्शन कहा गया।

आसुरि, पञ्चशिख, विन्ध्यवासी, जैगीषव्य, वार्षगण्य आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य माने गए हैं तथा सांख्यसूत्र, षष्टितंत्र, अर्वाचीन सांख्यसूत्र, एवं समाससूत्र प्रसिद्ध ग्रन्थों में परिगणित हैं, किन्तु इन सभी में सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका रही है। जिस पर गौडपाद भाष्य, माठरवृत्ति, जयमङ्गला,

युक्तिदीपिका तथा वाचस्पति मिश्र की सांख्य तत्त्वकौमुदी आदि प्रमुख टीकाएँ लिखी गईं।[1]

(4) योगदर्शन–भारतीय दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस दर्शन के प्रणेता आचार्य पतञ्जलि रहे हैं। अत: उनके द्वारा विरचित 'योगसूत्र' इस दर्शन का आधार ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ पर लिखा गया 'व्यासभाष्य' सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याग्रन्थ माना गया है, जिस पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' तथा आचार्य विज्ञान भिक्षु की 'योगवार्तिक' दो प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त भोज वृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्याग्रन्थ भी योगसूत्रों पर लिखे गए।

यह दर्शन वस्तुत: सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को ही स्वीकार करता है, अन्तर केवल इतना है कि यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है एवं सांख्यदर्शन उसकी सत्ता को मान्यता प्रदान नहीं करता। इसलिए कुछ विद्वान् इसे 'सेश्वरसांख्य' की संज्ञा भी प्रदान करते हैं। इस दर्शन में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पाँच चित्त की प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं एवं चित्त की इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना ही योग है–'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ योग के अङ्ग माने गए हैं। इनके निरन्तर अभ्यास से चित्त की वृत्तियाँ स्वत: ही विलीन हो जाती हैं। बस इसी स्थिति में चित्त की एकाग्रता से यह दर्शन कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करता है।

(5) न्यायदर्शन–बुद्धि को तीक्ष्ण, परिष्कृत एवं विशद बनाने वाले तर्कप्रधान न्यायदर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम माने गए हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा पदार्थ की परीक्षा करना ही न्याय है। इसके लिए 'आन्विक्षिकी' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। यहाँ प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों को मान्यता प्रदान की गई है। यह दर्शन आत्मा को गुणों का आश्रय मानता है। इसके अनुसार आत्मा के जीवात्मा और परमात्मा दो भेद होते हैं तथा आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रत्यभाव, फल, दु:ख तथा अपवर्ग ये सभी प्रमेय विषय हैं।

यह दर्शन जगत् की सत्ता में परमाणु को समवायी तथा ईश्वर को निमित्तकारण मानता है तथा आगमप्रमाण के माध्यम से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है। अन्य

---

1. विस्तृत अध्ययन हेतु लेखककृत सांख्यकारिका 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, गौडपादभाष्य सहित, प्रकाशक-संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली, 1998

दर्शनों के समान ही यह भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य दुःखों की हमेशा के लिए निवृत्ति मानता है। उसी को यहाँ 'मोक्ष' कहा गया है।

आचार्य गौतम के अतिरिक्त गंगेश उपाध्याय, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति-मिश्र, जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश, गदाधरभट्ट आदि उल्लेखनीय आचार्यों ने इस दर्शन के साहित्य में श्रीवृद्धि की है। इनमें भी आचार्य केशवमिश्र की तर्कभाषा को यहाँ इसकी सरल शैली के कारण विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

(6) वैशेषिकदर्शन–'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा गया। सर्वदर्शनसंग्रह में इसे 'औलूक्य दर्शन' भी कहा गया है। तदनुसार इसके प्रणेता 'उलूक' नामक आचार्य थे। महर्षि कणाद को भी इसका प्रणेता आचार्य माना जाता है। जैन लेखक आचार्य राजशेखर ने न्यायकंदली टीका में जनश्रुति के आधार पर इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति इसप्रकार दी है–

"कणाद मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर परमपिता परमात्मा ने स्वयं उलूक के रूप में अवतरित होकर उन्हें इस दर्शन के सिद्धान्तों का उपदेश प्रदान किया था, इसीलिए इसे 'औलूक्य दर्शन' कहा जाता है।"

वैशेषिकदर्शन छः तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है। सातवें तत्त्व 'अभाव' का समावेश इसमें बाद में हुआ है। जहाँ तक प्रमाणों का सम्बन्ध है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने गए हैं। शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में न मानकर उसे अनुमान में अन्तर्भूत कर लिया गया है।[1] न्यायवैशेषिक दोनों ही दर्शन असत्कार्यवाद और आरम्भवाद का प्रतिपादन करते हैं। वैशेषिकदर्शन के अनुसार मोक्ष की स्थिति में आत्मा में कोई ज्ञान नहीं रहता है।[2]

(घ) वैशेषिक सम्प्रदाय की प्राचीनता–प्राचीनता की दृष्टि से विद्वानों ने भारतीय दर्शनों में से सांख्य एवं वैशेषिक इन दोनों ही सम्प्रदायों को सर्वाधिक प्राचीन माना है। चीन के बौद्ध ग्रन्थ संग्रह में भी केवल इन्हीं दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है।[3] उन्होंने सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' एवं वैशेषिकदर्शन के 'दशपदार्थशास्त्र' नामक ग्रन्थों का कथन किया है।

---

1. भारतीय दर्शन शास्त्र (न्यायवैशेषिक), डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, 1953, पृ० 96
2. यद्यपि तर्कसंग्रहकार ने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है।
3. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, डॉ. सूर्यकान्त, पृ० 385

विद्वन्मान्यता है कि वैशेषिकदर्शन के प्रवंतक का नाम 'उलूक' था जो भगवान् बुद्ध से लगभग 800 वर्ष पूर्व हुआ। वह दिन में ग्रन्थ का लेखन करता था तथा रात्रि में भिक्षा मांगने के लिए निकलता था। इसी कारण इसका नाम 'उलूक' पड़ा। इसने एक लाख श्लोकों वाले वैशेषिक शास्त्र का निर्माण किया।[1]

बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्द पञ्ह' में वैशेषिकदर्शन विषयक सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख माना गया है, जिसमें राजा मिलिन्द को (150 ई० पू०) सांख्य, योग, वैशेषिक एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता कहा गया है।[2]

इसके अतिरिक्त कुमारलात के ग्रन्थ 'सूत्रालङ्कार' में आई कथा के अनुसार वैशेषिकदर्शन के विद्वान् एवं बौद्धदर्शन के विद्वान् के मध्य शास्त्रार्थ के अवसर पर बुद्ध की 'सूर्य' से तथा वैशेषिक की 'उलूक' से उपमा दी गई है।

साथ ही ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में स्थित नागार्जुन के शून्यवाद का खण्डन न्यायसूत्रों में किया गया है। इनके भी ग्रन्थ 'दशभूमिविभाषा शास्त्र' में सांख्य एवं योग के साथ-साथ वैशेषिकदर्शन का भी उल्लेख किया गया है। अतः इन सभी तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैशेषिकदर्शन सम्प्रदाय वस्तुतः प्राचीन है, यद्यपि वैशेषिकसूत्र की रचना पर्याप्त बाद की है।[3]

(ङ) न्यायवैशेषिक दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध–न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शन यद्यपि मूलरूपेण पृथक् हैं तथापि इन दोनों में अत्यन्त प्राचीन काल से परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है, जिसके सङ्केत हमें सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होते हैं (महा०शा०पर्व-5.3.5)। जहाँ नारद को न्यायशास्त्र में निपुण बताते हुए ऐक्य, संयोग, समवाय तत्त्वों का वेत्ता कहा गया है जो वास्तव में वैशेषिकदर्शन के विषय हैं।[4] इसके अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता में न्याय एवं वैशेषिकदर्शन के पदार्थों के वर्णन के आधार पर भी इन दोनों दर्शनों के परस्पर पूरक होने की पुष्टि होती है, क्योंकि भौतिक पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखे गए न्यायसूत्र वस्तुतः वैशेषिक से लिए गए ही प्रतीत होते हैं।

---

1. दशपदार्थशास्त्र, एच० ऊई०, पृ० 3
2. भारतीय दर्शनशास्त्र-न्यायवैशेषिक, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० 97
3. वही।
4. न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः।
   ऐक्य संयोगनानात्वसमवायविशारदः।। (महा०शा०प० 5/3/5)

इसीप्रकार कुछ वैशेषिकसूत्र भी न्यायसूत्रों को आधार बनाकर लिखे गए प्रतीत होते हैं।[1] अत: उनके समकालीन होने की पुष्टि होती है, तथापि इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूलत: वैशेषिकसूत्र निश्चय ही न्यायशास्त्र की अपेक्षा प्राचीन हैं, किन्तु उनमें बाद में कुछ नये-नये सूत्र जुड़ते रहे जो न्याय से प्रभावित रहे। विद्वत्मान्यता के अनुसार-"वर्तमान वैशेषिकदर्शन में अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनका प्रशस्तपाद को पता ही नहीं था, जो नि:सन्देह प्रशस्तपाद के पश्चात् जोड़े गए हैं।"[2]

इसके अतिरिक्त वैशेषिकसूत्रों में आरम्भ में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाणों को मान्यता प्रदान की गई है, किन्तु वहाँ अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाण का खण्डन नहीं किया गया है, जबकि न्यायदर्शन चार प्रमाणों को मान्यता प्रदान करने के साथ-साथ अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाणों का खण्डन भी करता है। इस तथ्य के आधार पर वैशेषिकदर्शन न्यायदर्शन से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

अनुमान प्रमाण की व्याख्या भी वैशेषिकदर्शन को न्याय से पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि वैशेषिक ने अनुमान को इन्द्रिय का विषय बताते हुए उसे तीन प्रकार का बताया-(क) किसी की सत्ता के आधार पर अन्यत्र उसी का अनुमान, (ख) किसी की असत्ता के आधार पर दूसरे की सत्ता का अनुमान तथा (ग) किसी की सत्ता के आधार पर अन्य की सत्ता का अनुमान।[3]

जबकि न्यायदर्शन अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत्, तथा सामान्यतोदृष्ट तीन भेद करते हुए अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित परिभाषा प्रस्तुत करता है, जो उसे वैशेषिकदर्शन का परवर्ती सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त हेत्वाभास के वर्णन के आधार पर भी वैशेषिकदर्शन को न्याय की अपेक्षा प्राचीन कहा जा सकता है, क्योंकि वैशेषिकदर्शन हेत्वाभास को 'अनपदेश' कहकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। उसके अनुसार 'अपदेश' के अभाव में अनपदेश होता है। यहाँ वस्तुत: उसके अनुमान का प्रासाद 'अपदेश' पर ही टिका हुआ है, जबकि न्यायसूत्र में हेत्वाभास के भेदों का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।

---

1. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-बोडास, भूमिका, पृ० 28
2. वही, पृ० 29
3. वैशेषिकसूत्र 3/1

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जहाँ एक ओर न्यायदर्शन की अपेक्षा वैशेषिकदर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर अपनी भावभूमि के लिए न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन का ऋणी भी प्रतीत होता है। अत: इन दोनों का पिता-पुत्र का सम्बन्ध कहा जा सकता है। सम्भवत: इसी कारण बाद में इन दोनों दर्शनों को न्याय-वैशेषिक के अभिन्न रूप में वर्णित किया गया, जो आज भी विद्यमान है, क्योंकि आधुनिक दर्शन-परम्परा में ये दोनों 'समानतन्त्र' ही कहलाते हैं। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक इन दोनों दर्शनों की स्वतन्त्र परम्पराएँ रहीं।

(च) वैशेषिकदर्शन का नामकरण–जैसा कि हम पूर्व में भी सङ्केत कर चुके हैं कि यह दर्शन 'काणाद', 'काश्यपीय', 'औलूक्य' एवं 'पैलुक' शब्दों से व्यवहृत हुआ है, किन्तु इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'वैशेषिकदर्शन' रहा है। यद्यपि इस नामकरण में अधिकांश विद्वान इस दर्शन द्वारा 'विशेष' नामक विलक्षण पदार्थ की मान्यता को मुख्य हेतु मानते हैं तथापि इस सम्बन्ध में कुछ अन्य विद्वन्मान्यताएँ भी हैं जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(i) आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ में इसके नामकरण का रहस्योद्घाटन करते हुए चीन देश के दार्शनिक चिस्तान (549-622 ई०) तथा क्वहेइची (623-682 ई०) द्वारा संगृहीत एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है।[1] तदनुसार–"कणाद सूत्रों का वैशेषिक नामकरण अन्य दर्शनों से, विशेषत: सांख्यदर्शन से विशिष्ट अर्थात् अधिक युक्तियुक्त होने के कारण किया गया था।"

(ii) इसके अतिरिक्त डॉ० श्री नारायण मिश्र ने अपने ग्रन्थ वैशेषिकदर्शन: एक अध्ययन में इसके नामकरण के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों को प्रस्तुत किया है।[2]

चीनी विद्वान् की एक परम्परा कणाद के बुद्धिवैशिष्ट्य से आवेष्टित होने के कारण इस दर्शन को 'वैशेषिकदर्शन' नामकरण का हेतु मानती है।

डॉ० एच० ऊई द्वारा संकेतित एक मान्यता के अनुसार 'दशपदार्थ शास्त्र' के प्रणेता आचार्य चंद्र को भी चीनी भाषा में 'विशिष्ट उपदेश' कहा गया है। अत: उनके द्वारा निर्दिष्ट दर्शन वैशेषिक हुआ। यद्यपि स्वयं प्रो० ऊई ने इससे अपनी असहमति व्यक्त की है।

(iii) वैशेषिकसूत्र के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का मत है

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर वाराणसी, पृ० 213 (1971)
2. वैशेषिकदर्शन: एक अध्ययन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 6

कि–"अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।"[1]

(iv) इसके अलावा षड्दर्शन समुच्चय की वृत्ति में आचार्य मणिभद्र नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्य-गुणादि विशेष तत्त्वों की व्याख्या होने के कारण इसके 'वैशेषिक' नामकरण में हेतु मानते हैं।[2]

(v) नैषधीयचरित नामक महाकाव्य में प्रसिद्ध व्याख्याकार नारायण भट्ट ने द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व ज्ञापकत्व को ही इस दर्शन के 'वैशेषिक' नामकरण में हेतु माना है।

(vi) महामहोपाध्याय कालीपद तर्काचार्य भी पर्याप्त अंशों में मणिभद्राचार्य की व्याख्या से सहमत प्रतीत होते हैं।[3]

(vii) उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली' नामक टीका में 'तत्त्व-निश्चयपूर्वक' व्यवहार करने वालों को 'वैशेषिक' उपाधि प्रदान की है।[4] उन्होंने वहाँ 'विशेष' शब्द को तत्त्व-निश्चय का वाचक माना है–

विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः, तेन व्यवहरतीत्यर्थः।

(viii) श्री नारायण मिश्र ने 'वैशेषिक' शब्द की संभावित दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए[5] 'विशेष' शब्द की–"विशिष्यते सर्वतः व्यवच्छिद्यते येन स विशेषः" व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है तथा साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों को ही किसी भी तत्त्व से भिन्नता का आधार माना है।

इसप्रकार सभी दृष्टियों से इस दर्शन के नामकरण पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विद्वानों का बहुमत इस दर्शन में अन्य

---

1. यदिदं वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत् खलु तन्त्रान्तरात् विशेस्यार्थस्य अभिधानात्।
–चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार भाष्य, पृ० 5
2. नैयायिकेभ्यो द्रव्य-गुणादि-सामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्।
–षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति, पृ. 4
3. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, पृ० 7
4. किरणावली, उदयनाचार्य, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, पृ० 613
5. (क) विशेषाभ्याम् (च०वि०, द्वि०व०) व्यवच्छेकाभ्याम् साधर्म्य-वैधर्म्याभ्याम् प्रभवति इति वैशेषिकम्।
   (ख) विशेषाभ्याम् (तृ०वि०, द्वि०वि०) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम् (दार्शनिकश्च वैशेषिकः) इति, वैशेषिकदर्शन : **एक अध्ययन, पृ० 8**

दर्शनों से विलक्षण 'विशेष' नामक पदार्थ की व्याख्या को ही इसके 'वैशेषिक' नामकरण में मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण कारण मानता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी 'न्याय-लीलावती' नामक टीका में–'श्लाघ्य विशेषस्थित:' कहकर सम्भवत: इसी तथ्य की ओर सङ्केत किया है। डॉ० राधाकृष्णन् इत्यादि अर्वाचीन प्रतिष्ठित विद्वान् भी इसी मत को मानने वाले हैं।[1] अत: इस दृष्टि से 'विशेष' पदार्थ को ही इसके नामकरण में हेतु मानना न्याय सङ्गत प्रतीत होता है।

(छ) वैशेषिकसूत्र काल–जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि यह दर्शन न्यायदर्शन की अपेक्षा भी प्राचीन है, भले ही वर्तमान में इसके प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वैशेषिकसूत्र' की रचना बाद में हुई है। यद्यपि वैशेषिकसूत्र की रचना का निश्चित काल बताना अत्यन्त कठिन कार्य है, तथापि कुछ विद्वानों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है, जिसका हम यहां संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

डॉ० याकोबी ने न्यायसूत्र का समय 200 ई० से 500 ई० के मध्य मानते हुए, वैशेषिकसूत्र की रचना इससे पर्याप्त पूर्व मानी है।[2]

इसीप्रकार डॉ० ऊई ने अपने ग्रन्थ वैशेषिक फिलोसफी में वैशेषिकसूत्रों के अनेक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, इन सूत्रों को नागार्जुन से पूर्ववर्ती मानकर, 50 ई० से 150 ई० के मध्य वैशेषिकसूत्र की रचना मानी है।[3]

जबकि महामहोपाध्याय डॉ० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने वैशेषिकसूत्र की रचना ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक से भी पूर्व स्वीकार की है।[4]

ऐतिहासिकों की मान्यता है कि दर्शन का मूल स्रोत वेद हैं तथा वैदिकोत्तर युग में इसका क्रमबद्ध विकास हुआ है, क्योंकि इस दर्शन का सर्वप्रथम उल्लेख हमें बौद्धसाहित्य के 'मिलिन्द पञ्ह' में मिलता है तथा राजा मिलिन्द का समय 150 ई० पूर्व माना जाता है। इसके अतिरिक्त ललित विस्तर और लंकावतार में भी इसके सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, इसलिए वैशेषिकसूत्र की रचना इससे पर्याप्त पूर्व मानना सङ्गत प्रतीत होता है।

---

1. (क) भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 176
   (ख) प्रशस्तपादभाष्य भूमिका, तर्काचार्य, पृ० 4
2. जर्नल ऑफ दॉ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, वोल्यूम-31
3. वैशेषिक फिलोसफी, डॉ०एच० ऊई, पृ० 65
4. ए प्राइमर ऑफ इण्डियन लॉजिक, डॉ० कुप्पूस्वामी, मद्रास 1961, प्रस्तावना, पृ० 12

डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने तो बुद्ध से पूर्व भी वैशेषिकदर्शन के किसी प्राचीन संकलन होने की सम्भावना व्यवत की है। उनके अनुसार-"यह भी अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि वैशेषिकदर्शन का कोई प्राचीन संकलन बुद्ध से पूर्व भी प्रचलित रहा हो। इसीलिए लोगों ने इस दर्शन के बुद्ध से भी प्राचीन होने पर विशेष बल दिया है। वैशेषिकसूत्रों में बौद्ध सिद्धान्तों के विषय में मौन ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।"[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध जगत् में वैशेषिकों की विशेष मान्यता को स्वीकार करते हुए इस दर्शन की प्राचीनता को स्वीकार किया है। उन्होंने वैशेषिकसूत्र का रचनाकाल तृतीय शतक विक्रमपूर्व माना है। उनके मत में-कुछ वैशेषिक वेद को प्रमाण कोटि में नहीं मानते हैं। इसीलिए ये अर्द्धवैनाशिक अर्थात् आधे बौद्ध के नाम से भी दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। इस कारण भी बौद्ध जगत् में वैशेषिकों की विशेष मान्यता दृष्टिगोचर होती है।[2]

इस दृष्टि से पर्याप्त विचार करने पर हमें डॉ० कुप्पूस्वामी का मत अपेक्षाकृत अधिक उपयुवत प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने वैशेषिकसूत्र की रचना का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से भी पूर्व माना है तथापि इसे अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत: इस सम्बन्ध में पर्याप्त शोध की आवश्यकता है।

(ज) वैशेषिकसूत्र का परिचय–आचार्य शङ्कर मिश्र ने वैशेषिकसूत्रों की संख्या 370 स्वीकार की है।[3] जिन्हें दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के अन्तर्गत द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षण और विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे और तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीय आह्निक में अनित्य द्रव्यविभाग का, पञ्चम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेदप्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, सप्तम और अष्टम अध्याय में कतिपय गुणों का नवम में अभाव और ज्ञान का एवं अन्तिम दशम अध्याय में सुख-दु:ख-विभेद और त्रिविध कारणों का उल्लेख किया गया है।[4]

(झ) वैशेषिकदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ–वैशेषिकदर्शन

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ० हरिदत्त शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, पृ० 248
2. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 214-215
3. वही।
4. वही, पृ० 215

वस्तुत: अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। यहाँ तक कि इसकी प्राचीनता न्यायदर्शन से भी अधिक मानी गई है, इसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। इस दृष्टि से इस दर्शन के आचार्यों की भी लम्बी परम्परा होना स्वाभाविक है। अधिकांश विद्वान् महर्षि कणाद को इस दर्शन का आद्य आचार्य मानने के पक्षधर हैं।

डॉ० दयानन्द भार्गव ने तर्कसंग्रह की व्याख्या के प्रारम्भ में न्याय-वैशेषिकदर्शन के लगभग चालीस विद्वानों की विस्तृत एवं प्रामाणिक परम्परा का उल्लेख करते हुए आद्य आचार्य के रूप में कणाद तथा अन्तिम तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट को उद्धृत किया है।[1]

इस दृष्टि से प्राय: सभी विद्वान् महर्षि कणाद को ही वैशेषिकदर्शन के आद्य आचार्य के रूप में मानते हैं, किन्तु हमारे विचार में इस दर्शन के अन्य नाम औलूक्य दर्शन को दृष्टिगत रखते हुए आद्य आचार्य 'उलूक' नामक ऋषि को मानना उचित प्रतीत होता है। अत: इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों की परम्परा को हम इन्हीं से प्रारम्भ कर रहे हैं–

(1) उलूक–दर्शन दिग्दर्शन के प्रणेता राहुल सांकृत्यायन ने आत्मवादी दर्शनों के परिचय को प्रस्तुत करते हुए इस दर्शन को यूनान से जोड़ने की सम्भावना का उल्लेख किया है कि–"वैशेषिक का दूसरा नाम 'औलूक्य दर्शन' भी है। वैशेषिक के कर्ता या सृष्टि से उलूक (उल्लू) पक्षी का क्या सम्बन्ध था, यह नहीं कहा जा सकता है। कणाद का नाम उलूक होता यदि वे सरस्वती (विद्या) के नहीं, अपितु लक्ष्मी (धन) के स्वामी होते। उलूक कोई अच्छा पक्षी नहीं कि माता-पिता या मित्र सुहृद् इस नाम से कणाद को याद करते। उल्लू एथेन्स (यूनान) के पवित्र चिह्नों में था, क्या इस दर्शन का यूनानी दर्शन से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे ही तो 'उलूक' शब्द सूचित नहीं करता?"[2]

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने[3] आर्यदेव के शतशास्त्र के चीनी टीकाकार चित्सान का उल्लेख करते हुए वैशेषिकदर्शन के प्रवर्तक का नाम उलूक मानकर उन्हें भगवान् बुद्ध से लगभग 800 वर्ष पूर्व माना है।[4] महाभारत

---

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव-अवतरणिका, पृ० xxiii-xli (23-41)
2. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1944, पृ० 579
3. क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० 85
4. भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, शारदा गांधी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975, पृ० 48 से उद्धृत।

अनुशासनपर्व में विश्वामित्र की वंशवृद्धि करने वाले ब्रह्मवेत्ता तपस्वी महामनस्वी छियासठ पुत्रों में 'उलूक' के नाम का उल्लेख हुआ है।[1]

इसीप्रकार महाभारत शांतिपर्व में माघ मास शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र[2] में भीष्म के देहत्याग के अवसर पर उपस्थित व्यास, नारद, जैमिनी, मैत्रेय, असित, देवल, कौशिक, हारीत, दत्तात्रेय, च्यवन, कपिल, वाल्मीकि, कश्यप, मरीचि, पराशर, धौम्य, मार्कण्डेय आदि लगभग बावन ऋषि-महर्षियों एवं विद्वानों के साथ 'उलूक' नाम का भी कथन किया गया है।[3] यहाँ इनके लिए श्रेष्ठ ब्राह्मण जैसे सम्मानजनक शब्द का प्रयोग हुआ है।

यहाँ परिगणित आचार्यों में से अधिकांश सांख्यदर्शन के विद्वान् हैं तथा सांख्य एवं वैशेषिकदर्शनों की सर्वाधिक प्राचीनता को दृष्टिगत रखते हुए यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि महाभारत में उल्लिखित ये 'परम विप्र उलूक' ही वस्तुतः इस औलूक्य दर्शन के प्रणेता आचार्य रहे होंगे, क्योंकि महाभारतकार ने भी इनके लिए सम्मानजनक सम्बोधन का विशेषरूप से प्रयोग किया है।

यद्यपि डॉ० ऊई आदि कुछ विद्वान् कणाद का ही दूसरा नाम 'उलूक' मानने के पक्षधर हैं।[4] उन्होंने चीनी विद्वान् चित्सान के मत को उद्धृत करते हुए उल्लेख किया कि 'कणाद' का नाम इसीलिए 'उलूक' पड़ा, क्योंकि ये दिन में ग्रन्थ रचना करते थे और रात में उलूक के समान जीविकोपार्जन करते थे। वस्तुतः विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।[5]

व्योमशिवाचार्य ने भी बिना किसी कारण निर्देश के 'उलूक' पद का प्रयोग कणाद के लिए किया है।[6] नैषधीयचरित के व्याख्याकार नारायण भट्ट ने उलूक को

1. याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
उलूको यमदूतश्च तथर्षि सैन्धवायनः।। (महा. अनु. पर्व. 4/51)
ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।। (महा. अनु. पर्व 4/59)
2. शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।।
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः।। (महा. शांतिपर्व 47/3)
3. धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः।
उलूकः परमोविप्रः मार्कण्डेयो महामुनिः।। (वही 47/11)
4. वैशेषिक फिलोसफी: डॉ० ऊई, पृ. 3
5. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ. 5
6. "व्योमवती-....विना-पक्षिणा-उलूकेन", पृ. 114

कणाद का पर्याय माना है।[1] मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा से प्रकाशित वैशेषिकसूत्रवृत्ति में कणाद को ही 'उलूक वेषधारी' माना है।[2]

इसके अतिरिक्त 'वाचस्पत्यम्' कोषकार ने उलूक ऋषि की सन्तति मानकर कणाद को ही औलूक्य नाम वाला बताया है। सम्मति तर्क की व्याख्या में अभयदेव सूरि ने भी वाचस्पत्यम् कोशकार की बात का अनुमोदन किया है।[3] जैन विद्वान् राजशेखर का मानना है कि 'उलूक' रूप में भगवान् शङ्कर ने 'कणाद' को इस शास्त्र का उपदेश प्रदान किया था। इसलिए कणाद और इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन कहा जाता है।[4]

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर निष्कर्ष रूप में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत में उल्लिखित 'उलूक' ऋषि अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण ही वैशेषिकदर्शन के प्रणेता अथवा आदि आचार्य रहे होंगे। सम्भवत: उस समय इस दर्शन का कुछ साहित्य लेख भी हुआ हो जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है या फिर 'वैशेषिकसूत्र' की उपस्थिति में वह काल कवलित हो गया हो।

वैशेषिकसूत्र नामक ग्रन्थ के सूक्ष्मविवेचन के आधार पर भी यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण विवेचन का मौलिक श्रेय केवल कणाद को नहीं दिया जा सकता है, निश्चय ही ये सभी विचार तात्कालिक वैशेषिक विद्वत्सम्प्रदाय में वैचारिक किंवा ग्रन्थ रूप में अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि और कणाद के शास्त्रों को सभी शास्त्रों का उपकारक बताने वाली "कणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपस्कारकम्" उक्ति इस शास्त्र एवं इसके प्रणेता 'उलूक' को आचार्य पाणिनि से भी पर्याप्त पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि आचार्य पाणिनि के काल में यह दर्शन औलूक्यदर्शन की अपेक्षा काणाद दर्शन के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। पुनरपि विद्वत्परम्परा इस विषय में प्रमाणों की अनुपलब्धता के कारण महर्षि कणाद को ही वैशेषिकदर्शन का प्रवर्तक मानती है। अत: इस विषय पर पर्याप्त शोध की आवश्यकता प्रतीत होती है।

(2) कणाद–इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है तथापि किरणावली और त्रिकाण्डकोश के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें

1. नैषधचरित प्रकाशिका 22/36
2. वैशेषिक सूत्रवृत्ति 2/1/12
3. पृ० 140 (वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ० 5 से उद्धृत)।
4. मुनये कणादाय स्वयमीश्वर: उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायलक्षणम् पदार्थषटकम् उपदिदेश।

   न्यायलीलावती-राजशेखर, भूमिका, पृ० 2

काश्यपगोत्री तथा सोम शर्मा का शिष्य बताया है[1], क्योंकि त्रिकाण्ड कोश में इनके अन्य नाम 'काश्यप' का उल्लेख हुआ है तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें 'कश्यप मुनि' का पुत्र बताया है। वायुपुराण में इन्हें प्रभास निवासी सोम शर्मा का शिष्य और शिव का अवतार बताया है।[2]

विद्वन्मान्यता पृथ्वी पर गिरे हुए कणों अर्थात् दानों के द्वारा अपना जीवन यापन करने के कारण इन्हें 'कणाद' (कण+आद) कहने की पक्षधर रही है। इनके अन्य नाम कणभुक्, कणभक्ष आदि भी इसी भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। कुछ विद्वानों ने इनका समय 150 ई०पू०[3] तथा कुछ ने 400 ई०पू०[4] माना है।

डॉ० दयानन्द भार्गव[5] ने डॉ० एस०एन० दास गुप्त[6] के निम्न तर्कों के आधार पर महर्षि कणाद एवं उनके वैशेषिकसूत्र को 80 ई० से पूर्ववर्ती बताते हुए इसकी प्राचीनता की सीमा अनिश्चित बतायी है, तदनुसार–

(i) इसमें आत्मा के विवेचन प्रसङ्ग में बौद्धों के अनात्मवाद का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

(ii) अश्वघोष (प्रथम शती ई०) द्वारा उद्धृत 80 ई० से पूर्ववर्ती लङ्कावतार सूत्र में वैशेषिकों के परमाणुवाद का उल्लेख हुआ है।

(iii) दसवीं शताब्दी के लगभग स्थित चरक ने अपने वैद्यक शास्त्र का आधार वैशेषिकदर्शन को ही बताया है।

(iv) वैशेषिकसूत्र में अनुमान के विवेचन के अन्तर्गत नैयायिकों के पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमानों का उल्लेख नहीं हुआ है।

इसी प्रसङ्ग में यद्यपि डॉ० भार्गव ने सांख्यदर्शन के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के उल्लेख को अर्वाचीनता के प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि हम महाभारतीय सांख्य का अवलोकन करें तो उसे उलूक के साथ जोड़ने पर इस आधार पर ही इसे महाभारत काल में कहीं स्थित माना जा सकता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने

---

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 214
2. वही।
3. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, प्रथम संस्करण, पृ० 579
4. (क) भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, हरिदत्त शास्त्री, पृ० 248
   (ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० 483
5. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, अवतरणिका, (पृ० xxiii)
6. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, डॉ० एस०एन० दासगुप्त, भाग 1, पृ० 280-285

वैशेषिकसूत्र का काल तृतीय शतक विक्रम पू० मानते हुए 'कणाद' को इसी समय में स्थित माना है।[1]

डॉ० राधाकृष्णन् ने इस दर्शन के सिद्धान्त 'परमाणुवाद' को कणाद के नामकरण में एक कारण रूप में प्रस्तुत किया है जो अपेक्षाकृत अधिक समीचीन प्रतीत होता है तदनुसार–"वैशेषिकदर्शन की व्याख्या व्यवस्थित रूप से सबसे पहले कणाद (कणभुक् या कणभक्ष) के वैशेषिकसूत्र में मिलती है। यह नाम जिसका अर्थ शब्दव्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से अणुभक्षक होता है, इसके रचयिता का नाम इसलिए भी पड़ गया होगा, क्योंकि उसके दर्शन का सिद्धान्त परमाणुवाद है।"[2]

महर्षि कणाद का एक ही ग्रन्थ 'वैशेषिकसूत्र' उपलब्ध है, जिसके 370 सूत्र दस अध्यायों में निबद्ध हैं तथा प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं, जिसमें पदार्थ–द्रव्य, आत्मा, मन, शरीर, कर्म, धर्म, गुण, समवाय आदि का विवेचन करने के बाद प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाणों का कथन किया गया है। अध्याय के अनुसार इसके विषयों का हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यहाँ ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने धर्म की परिभाषा करते हुए उसके व्याख्यान की बात कही है[3] तथा स्पष्टरूप से कहा है कि–"अब मैं धर्म का व्याख्यान कर रहा हूँ, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है, वही धर्म है।" इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने इस ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष एवं अनुमान जैसी सांसारिक वस्तुओं की बुद्धिवादी विवेचना की है तथापि इस सम्पूर्ण विवेचन के पीछे उनका लक्ष्य तात्कालिक विद्वत्समुदाय में प्रचलित धर्म के प्रति उत्पन्न होने वाली अनेक शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत करना भी रहा होगा।

(3) वाक्य टीकाकार–महर्षि कणाद के वैशेषिकसूत्र पर एक अज्ञात नामा व्यक्ति की 'वाक्य' नामक टीका का उल्लेख कुछ तथ्यों के आधार पर 'वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन' के लेखक श्री नारायण मिश्र द्वारा किया गया है।[4] तदनुसार–

(i) महातार्किक जैन लेखक मल्लवादी ने अपनी कृति 'द्वादशारनय चक्र' के

---

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 215
2. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 153
3. अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।–वैशेषिकसूत्र-1/1/1-2
4. वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, उपोद्घात, पृ० 11

परिशिष्ट में वैशेषिकसूत्र की एक 'वाक्य' नामक टीका की ओर संकेत किया है। इस नवचक्र का संस्कृत रूपान्तर बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

(ii) नय चक्र में प्रयुक्त एक वाक्य[1] के व्याख्याकार श्री सिंह सूरि ने भी 'वाक्य' नामक भाष्य की सत्ता को स्वीकार किया है।[2]

(iii) स्वयं नारायण मिश्र ने अपने प्रशस्तपादभाष्य की प्रस्तावना में 'वाक्य' नामक किसी व्याख्या की उपस्थिति से इन्कार किया था,[3] किन्तु भोजराज के 'शृङ्गार प्रकाश' के उल्लेख के आधार पर[4] उन्होंने भी वैशेषिकसूत्र पर 'वाक्य' नामक वार्तिक ग्रन्थ की संभावना व्यक्त की है।[5]

(iv) इस 'वाक्य' नामक टीका के ऊपर एक भाष्य एवं उन दोनों पर एक 'प्रशस्तमति' नामक टीका होने की सम्भावना का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[6]

(4) श्रायस्क आचार्य–बड़ौदा से प्रकाशित वैशेषिकदर्शन के परिशिष्ट में प्रयुक्त[7] तिब्बती भाषा से संस्कृत में रूपांतरित 'प्रमाणसमुच्चय' के उल्लेख के आधार पर[8] इसके व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि ने यहाँ प्रयुक्त 'केचित्' का अर्थ 'श्रायस्क' मानकर 'श्रायस्कादयः' व्याख्या की है।

इस व्याख्या में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि–"इसी मत को मानने वाली कुछ और व्याख्या अथवा उपव्याख्याएँ भी सम्भव हैं, जो उस समय वैशेषिकसूत्र की रही हों", किन्तु कम से कम श्रायस्क व्याख्या की उपस्थिति से तो इंकार नहीं किया जा सकता है।

(5) रावण भाष्यकार–इस प्रकार उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही प्रयुक्त–"अन्ये तु

---

1. "असत्सम्बन्ध-परिहारार्थं निष्ठा-सम्बन्धयोरेककालत्वात् इति वाक्यं सभाष्यं प्रशस्तोऽन्यथा व्याचष्टे"। (द्वादशारनय चक्र संस्कृत रूपान्तर, पृ० 150)
2. अस्य वाक्यस्य व्याख्याग्रन्थः।
3. प्रशस्तपादभाष्य-व्याख्याकार नारायण मिश्रः, का०सं० ग्रन्थमाला-173, प्रस्तावना, पृ० 18
4. यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
   वाक्यकारो ब्रवीत्येव, तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्।। शृङ्गारप्रकाश।
5. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ०12
6. वही।
7. वही।
8. "केचित् प्रमाणात् फलमर्थान्तरमिच्छन्तः असाधारणकारणत्वात् इद्रियार्थसन्निकर्ष-म्प्रमाणमामन्ति"। (वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन में पृ० 12 उपोद्घात से उद्धृत)

प्रधानत्वात् आत्मन:-सन्निकर्षं प्रमाणमाहु:" इत्यादि अंश की व्याख्या में मित्र, बुद्धि ने 'रावणादय:' पद का प्रयोग किया है। जिसके आधार पर रावण द्वारा की गई वैशेषिकसूत्र व्याख्या की भी पुष्टि होती है। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की रत्नप्रभा नामक टीका में भी 'रावण प्रणीत भाष्य' का कथन किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त उदयनाचार्य द्वारा विरचित किरणावली में संकेतित भाष्य को पद्मनाभ मिश्र ने 'रावणभाष्य' ही स्वीकार किया है।[2]

कुछ विद्वान् रावणभाष्य को प्रशस्तपाद के भाष्य से परवर्ती मानते हैं, किन्तु रत्नप्रभा के उल्लेखों के आधार पर, जहाँ रावणमत को 'चिरन्तन वैशेषिक-दृष्टि' के रूप में उद्धृत किया गया है[3], अत: इसे प्रशस्तपाद भाष्य से पूर्ववर्ती मानना सङ्गत प्रतीत होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे वैशेषिकसूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन भाष्य माना है।[4]

(6) कटन्दी–मुरारि मिश्र विरचित अनर्घराघव नाटक के पञ्चम अङ्क में प्रयुक्त विष्कम्भक में रावण स्वयं को "वैशेषिक-कटन्दी-पण्डित" कहता है। इस अंश की व्याख्या करते हुए रुचिपति उपाध्याय ने यहाँ प्रयुक्त कटन्दी पद को रावण भाष्य के लिए प्रयुक्त माना है।

किन्तु श्री नारायण मिश्र का मानना है कि रावण का भाष्य और कटन्दी ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने 'नयचक्र' की वृत्ति में उल्लिखित 'कटन्दी टीकायाम्' उक्ति को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[5] कटन्दी के स्थान पर 'कन्दली' पाठ भी मिलता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के विचार इस विषय में उल्लेखनीय हैं–"अष्टम शतक में रावण के वैशेषिक पण्डित होने तथा भाष्य लिखने की बात इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि उसका श्रेय रामायण के प्रतिनायक को दिया गया। बहुत सम्भव है कि नास्तिक मत की बातें होने के कारण 'रावण भाष्य' लुप्त हो गया हो। वैशेषिकों का

---

1. "द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यारब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतु प्रचयो नाम प्रशिथिलावयव-संयोग: इति रावण प्रणीते दृश्यते इति चिरन्तन वैशेषिक दृष्ट्या इदम्"।– ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, रत्नप्रभा टीका, 2/2/11।
2. किरणावली, उदयनाचार्य, पृ० 5
3. तर्कसंग्रह, बोडास, प्रस्तावना, पृ० 33
4. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 217
5. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, उपोद्घात, पृ० 13

अर्द्धवैनाशिक (आधा बौद्ध) नाम इसी भाष्य के सिद्धान्तों के कारण पड़ा। ऐसी कल्पना की जा सकती है।"[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि वैशेषिकदर्शन की 'कटन्दी' अथवा कन्दली टीका एवं वैशेषिकदर्शन पर सर्वाधिक प्राचीन रावणभाष्य दोनों को अलग-अलग मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इन दोनों को ही प्रशस्तपाद भाष्यकार पूर्ववर्ती भी कहा जा सकता है। यह भाष्य एवं टीका दोनों ही अभी तक अनुपलब्ध हैं।

(7) आत्रेय–विद्वत्परम्परा इन्हें भी वैशेषिकसूत्रों का भाष्यकार मानती है। जैन दार्शनिकों द्वारा इनका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इन सभी स्थलों पर आत्रेय की सम्मति को अत्यन्त प्रभावशाली एवं सम्मानजनक रूप से उद्धृत किया गया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि निश्चय ही आत्रेय ने वैशेषिकसूत्रों पर व्याख्या लिखी होगी, जो इस संप्रदाय में 'भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध थी।[2] डॉ० वी० राघवन् एवं अनन्त लाल ठाकुर ने 'आत्रेय भाष्य' के सभी उद्धरणों का सङ्कलन भी किया है।[3] 'स्याद्वाद रत्नाकर' एवं मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित 'वैशेषिकसूत्रवृत्ति' में भी इस भाष्य के अनेक वाक्यों को उद्धृत किया गया है, किन्तु मूल रूप से यह भाष्य सम्प्रति अप्राप्त है।

(8) प्रशस्तपाद–इन्होंने महर्षि कणाद के वैशेषिकसूत्र पर इसके सूत्रक्रम को अपने क्रम से रखते हुए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की संरचना की, जिसका नाम स्वयं इन्होंने 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' रखा।[4] यही 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' आज वैशेषिक भाष्य अथवा प्रशस्तपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसे उपलब्ध वैशेषिकसूत्र-भाष्य साहित्य में प्रथम एवं प्रामाणिक भाष्य कहा जा सकता है।

इसकी मौलिक शैली के कारण कुछ विद्वान् इसे वैशेषिकसूत्रों का भाष्य न मानकर स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ मानने के पक्षधर हैं,[5] क्योंकि इसमें भाष्यकार ने

---

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 217
2. वही, पृ० 216
3. वैशेषिकदर्शन: एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ० 14
4. प्रणम्यहेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वत:।
   प्रवक्ष्यते महोदय: पदार्थधर्मसङ्ग्रह:।। (प्रशस्तपादभाष्य)
5. वैशेषिकदर्शन: एक अध्ययन, पृ० 14-15

कुछ वैशेषिकसूत्र में कहे गए पदार्थों से भिन्न पदार्थों का निरूपण भी किया है तथा सूत्र में प्रतिपादित अभावादि प्रपञ्चविस्तार का परित्याग भी किया है।

जबकि कुछ अन्य विद्वानों की सम्मति में यह ग्रन्थ वैशेषिकदर्शन का प्रवेशद्वार है, क्योंकि वैशेषिकसूत्र की भाषा संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण यही ग्रन्थ वस्तुत: वैशेषिकदर्शन के मन्तव्य को सम्यक् रूप से प्रतिपादित करने में सफल रहा है। 'पदार्थ-धर्म-सङ्ग्रह' के प्रामाणिक टीकाकार उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य को वैशेषिकदर्शन की मौलिक कृति स्वीकार किया है।

यही कारण है कि आचार्य प्रशस्तपाद का व्यक्तित्व वैशेषिकदर्शन के प्रमुख निर्माताओं के रूप में विख्यात है, किन्तु इनके स्थितिकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतवैमत्य मिलता है। डॉ० कीथ ने इन्हें दिङ्नाग की दार्शनिक कृतियों से प्रभावित बताते हुए उनका परवर्ती बताया है तथा इनका समय पाँचवीं शताब्दी माना है।[1]

जबकि प्रो० ए०बी० कीथ ने गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित न्याय प्रवेश भूमिका में इन्हें बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के भी गुरु वसुबंधु की कृतियों पर भी प्रशस्तपाद का प्रभाव प्रतिपादित करते हुए पृ० 13 से 21 में विस्तृत विवेचनपूर्वक इन्हें चतुर्थ शताब्दी में स्थित माना है। रूसी आलोचक शेरवास्की ने भी अपनी नूतन गवेषणाओं द्वारा यही सिद्ध किया है।[2]

आचार्य प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन छः पदार्थों का नितान्त प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि, प्रलय, संख्या एवं परमाणु संख्या सिद्धान्त, अणु आदिकों में मान का आधार तथा पाकज रूपोत्पत्ति के सम्बन्ध में 'पीलुपाक' के सिद्धान्तों का भी यहाँ विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। साथ ही अनेक वैशेषिक सिद्धान्तों का भी यहाँ स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

यही कारण है कि वैशेषिकदर्शन के क्षेत्र में यह भाष्यग्रन्थ इतना अधिक लोकप्रिय एवं प्रामाणिक सिद्ध हुआ कि अनेक विद्वानों द्वारा इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गईं जिससे वैशेषिकदर्शन के साहित्य में अभूतपूर्व श्रीवृद्धि हुई। जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, ए०बी० कीथ, अनु० मंगल देव शास्त्री, पृ० 613
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० 484

(9) प्रशस्तपाद के टीका ग्रन्थ

(i) व्योमवती–980 ई० में स्थित परम शैव व्योम शिवाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य पर 'व्योमवती' नामक टीका का प्रणयन किया। यह इस भाष्य की सर्वाधिक प्राचीन टीकाओं में मानी जाती है। इसका नाम व्योमशिव या व्योमकेशी भी मिलता है। बौद्ध-सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक खण्डन इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है। उदयनाचार्य ने अपनी प्रशस्तपादभाष्य की टीका किरणावली में काल के लक्षण प्रसङ्ग में 'आचार्य' पद का प्रयोग वस्तुत: व्योमशिवाचार्य के लिए ही किया हैं। व्योमशिवाचार्य को विद्वानों ने वीर शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना है।

(ii) किरणावली–इसके लेखक उदयनाचार्य हैं। इन्हें आचार्य श्रीधर का समकालीन कहा जा सकता है, क्योंकि इन्होंने अपनी पुस्तक लक्षणावली[1] में उसकी समाप्ति की तिथि 984 ई० का उल्लेख किया है। इन्होंने न्याय एवं वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों पर स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग तथा सम्मिलित तीनों ही प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। अत: विद्वानों ने इन्हें प्राचीन एवं नवीन युग की संधि पर स्थित माना है।[2]

पुनरपि न्यायवैशेषिक दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में कुसुमाञ्जलि एवं आत्मतत्त्वविवेक विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें कुसुमाञ्जलि में ईश्वरसिद्धि तथा आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा की स्थापना के साथ-साथ बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है।

न्याय के नवीनयुग में उदयनाचार्य के ग्रन्थों का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों पर टीका परम्परा भी अत्यन्त विस्तृत रही है। कहते हैं कि इन्हें अपने वैदुष्य का अत्यधिक अहङ्कार था, जो भगवान् जगन्नाथ के दर्शनार्थ मन्दिर जाते समय द्वार बन्द होने पर इनके निम्न वचनों से अभिव्यक्त होता है–

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थिति:।।[3]

चित्सुखाचार्य एवं प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने इनकी किरणावली को बहुश:

---

1. वैशेषिक पदार्थों का छोटा सा प्रक्रिया ग्रन्थ।
2. भारतीय दर्शन शास्त्र, न्यायवैशेषिक, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ० 125
3. वही, पृ० 127

उद्‌धृत किया है। वैशेषिकदर्शन के विषय में आचार्य उदयन की मान्यता है कि-" जो नितांत बुद्धि-शून्य प्राणी हैं, इस वैशेषिक शास्त्र को पाकादि विविध प्रक्रिया जाल से परिपूर्ण, प्रमाणादि विचाररहित, एक विस्तृत नीरस महासागर मानने लगे हैं। उन पर अनुकम्पा करने के लिए किरणावली का निर्माण किया जा रहा है-

अतिविरसमसारं मानवार्ताविहीनं
प्रविततबहुवेलं प्रक्रियाजालदु:स्थम्।
उदधिसममतंत्र तंत्रमेतद् वदन्ति
प्रखलजड़धियो ये तेऽनुकम्प्यन्त एते।।

वस्तुत: यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इतनी सरल, सरस, प्राञ्जल एवं प्रामाणिक व्याख्या अन्य कोई उपलब्ध नहीं है। किरणावली में बुद्धि विवेचन पर्यन्त ही उल्लेख मिलता है। अत: विद्वानों का मानना है कि उदयनाचार्य की मृत्यु के कारण यह कार्य अपूर्ण रह गया है।"

(iii) न्यायकन्दली–श्रीधराचार्य ने 991 ई० में प्रशस्तपाद भाष्य पर इस टीका की संरचना की। श्रीधराचार्य बङ्गदेश की प्रसिद्ध राढापुरी के दक्षिण में स्थित **'भूरिसृष्टि'** नामक ग्राम के निवासी थे। श्रीमद् चित्सुख मुनि विरचित तत्त्वप्रदीपिका में इसी न्यायकंदली का खण्डन किया है। इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अंधकार को भी भावरूप सिद्ध किया गया है। सूत्रकार से विरोध का परिहार करने के लिए यहाँ कहा गया है कि–

भाभावे सति तमसः प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम्।

अर्थात् तेज का अभाव तम का व्यञ्जक है। अत: तमस् को यहाँ तेज का अभाव कहा गया है।[1]

(iv) लीलावती–इस टीका की रचना श्रीवत्साचार्य ने सन् 1025 ई० में की। इन चार टीकाओं को विद्वानों ने प्राचीन टीकाओं के अन्तर्गत परिगणित किया है। शेष निम्न चार टीकाएँ नवीन हैं, क्योंकि ये चित्सुखाचार्य के परवर्ती विद्वानों द्वारा लिखी गईं हैं।[2]

---

1. तत्त्वप्रदीपिका-चित्सुखमुनि, व्याख्याकार-स्वामीयोगीन्द्रानन्द, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, भूमिका, 1956, पृ० 28
2. वही।

(v) प्रक्ति–इस टीका की र
ने 1590 ई० में की। ये बंगाल नि
इसकी गणना विद्वत्समुदाय में प्रगा
जाती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रघ
दीधिति टीका की भी रचना की तथ
शब्दशक्ति पर विचार प्रस्तुत किया
लिए इन्होंने 'तर्कामृत' नामक लघु
जगदीश मिश्र था।[2] इसी टीका का

(vi) सेतु–आचार्य पद्मनाभ
टीका की रचना की। यह टीका भी
पद्मनाभ मिश्र तर्कभाषाकार आचार्य

(vii) भाष्यनिकष–आचार्य
टीका की संरचना सन् 1850 ई० में

(viii) कणादरहस्य–आचा
समय 1425 ई० से 1475 ई० तक
आधार पर वैशेषिक सिद्धान्तों का प
विषयों का विवेचन किया है। इस
वाद-विनोद, वैशेषिकसूत्रप्रकाश, लो
किया। साथ ही इन्होंने महर्षि कण
महत्त्वूपर्ण टीका की भी संरचना की

(10) चन्द्रानन्द–ये उद्योत
की टीका का प्रणयन किया। जिस
बड़ौदा से 1961 ई० में क्रम संख्य
उपस्कार भाष्य की अपेक्षा अधिक

(11) शिवादित्यमिश्र–ये
और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों को स

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उ
2. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-दयानन्द भा
3. हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला,

(v) सूक्ति–इस टीका की संरचना वैशेषिक विद्वान् श्री जगदीश तर्कालङ्कार ने 1590 ई० में की। ये बंगाल स्थित नवद्वीप अथवा नादिया ग्राम के निवासी थे। इसकी गणना विद्वत्समुदाय में प्रशस्तपाद भाष्य की श्रेष्ठ टीकाओं के अन्तर्गत की जाती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रघुनाथ की तत्त्वचिंतामणि एवं न्यायलीलावती पर दीधिति टीका की भी रचना की तथा शब्दशक्तिप्रकाश में न्यायदर्शन की दृष्टि से शब्दशक्ति पर विचार प्रस्तुत किया है। साथ ही वैशेषिकदर्शन के प्रारम्भिक छात्रों के लिए इन्होंने 'तर्कामृत' नामक लघुग्रन्थ का भी प्रणयन किया।[1] इनका मूल नाम जगदीश मिश्र था।[2] इसी टीका का अन्य नाम 'भाष्यसूक्ति' भी है।

(vi) सेतु–आचार्य पद्मनाभ मिश्र ने सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस टीका की रचना की। यह टीका भी विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रशसंनीय रही। आचार्य पद्मनाभ मिश्र तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र के अग्रज थे।

(vii) भाष्यनिकष–आचार्य कोलाचल मल्लिनाथ नामक विद्वान् ने इस टीका की संरचना सन् 1850 ई० में की।

(viii) कणादरहस्य–आचार्य शङ्कर मिश्र ने इस टीका की रचना की। इनका समय 1425 ई० से 1475 ई० तक माना गया है।[3] इस टीका में इन्होंने प्रशस्तपाद के आधार पर वैशेषिक सिद्धान्तों का परिचय तथा नव्यन्याय के व्याप्ति और उपाधि जैसे विषयों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भेदप्रकाश, खण्डनटीका, वाद-विनोद, वैशेषिकसूत्रप्रकाश, लीलावती, कण्ठाभरण इत्यादि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। साथ ही इन्होंने महर्षि कणाद के सूत्रों पर 'उपस्कार' नामक एक अन्य महत्त्वूपर्ण टीका की भी संरचना की।

(10) चन्द्रानन्द–ये उद्योतकर के परवर्ती आचार्य हैं। इन्होंने वैशेषिकसूत्र की टीका का प्रणयन किया। जिसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से 1961 ई० में क्रम संख्या 136 पर हुआ। इनकी शैली शङ्कर मिश्र के उपस्कार भाष्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

(11) शिवादित्यमिश्र–ये ऐसे विशिष्ट प्राथमिक तार्किक थे, जिन्होंने न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों को सम्मिश्रित किया। इनका समय 975 ई० से 1025

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उमेश मिश्र, पृ० 652
2. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-दयानन्द भार्गव, अवतरणिका, पृ० 38
3. हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला, डी०सी० भट्टाचार्य, पृ० 140

ई० के मध्य माना गया है। कुछ विद्वान् इन्हें कुलार्क पण्डित से अभिन्न मानते हैं। इनके नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं–(1) सप्तपदार्थी, (2) लक्षणमाला और (3) हेतुखण्डन, इनमें सप्तपदार्थी का प्रकाशन बहुत पहले हो चुका है। इसकी रचना वैशेषिकसूत्रों के आधार पर होने पर भी ग्रन्थकार ने कुछ स्थलों पर सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों के सिद्धान्त का उल्लंघन करके स्वतन्त्ररूप से सिद्धान्त स्थिर किया है। जैसे–वैशेषिकसूत्रकार ने हेत्वाभासों की संख्या तीन और न्यायसूत्रकार ने पाँच बताई है, जबकि इन्होंने इनकी छः संख्या का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार भाष्यकार दिशाओं की संख्या दस मानते हैं, जबकि इन्होंने 'रौद्री' नामक ग्यारहवीं दिशा का भी कथन किया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उदयनाचार्य (984 ई०) ने इनकी लक्षणमाला को आधार बनाकर ही अपनी लक्षणावली की संरचना की है, जबकि अन्य विद्वान् मानते हैं कि अपनी सप्तपदार्थों में शिवादित्य मिश्र ने किरणावली का पर्याप्त उपयोग किया है।[2]

(12) वल्लभाचार्य–इनका समय 12वीं शताब्दी माना गया है। ये मिथिला के निवासी थे। इनके द्वारा विरचित 'न्यायलीलावती' नामक ग्रंथ वस्तुतः वैशेषिक सिद्धान्तों का आधार कहा जा सकता है। इसकी प्रसिद्धि उदयनाचार्य की किरणावली के समान ही विद्वानों में हुई, क्योंकि उसके समान ही इस ग्रन्थ पर भी अनेक टीका ग्रन्थों की रचना की गई। इसकी सात टीकाओं के विषय में जानकारी उपलब्ध हुई है।[3]

(i) न्यायलीलावती-प्रकाश–इसकी रचना पं० गङ्गेश उपाध्याय के सुपुत्र पं० वर्धमानोपाध्याय द्वारा 1250 ई० में की गई।

(ii) न्यायलीलावती-विवेक–यह पक्षधर मिश्र नामक विद्वान् द्वारा 1275 ई० में लिखी गई।

(iii) न्यायलीलावती-कण्ठाभरण–1450 ई० में स्थित शङ्कर मिश्र इसके रचयिता रहे हैं।

(iv) न्यायलीलावती-वर्धमानेन्दु–अभिनव वाचस्पति नामक विद्वान् द्वारा इसका प्रणयन 1450 ई० में किया गया।

---

1. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुखाचार्य, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, 1956, पृ० 18
2. वही, पृ० 28-29
3. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 220

(v) न्यायलीलावती-विभूति–इसके प्रणेता 1547 ई० में स्थित प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि हैं।

(vi) न्यायलीलावती-रहस्य–श्री मथुरानाथ तर्कवागीश ने इसकी रचना 1580 ई० में की।

(vii) न्यायलीलावती-प्रकाश–इसके रचयिता 1570 ई० में स्थित श्री रामकृष्ण भट्टाचार्य रहे हैं।

(13) केशवमिश्र–1275 ई० के लगभग मिथिला में उत्पन्न इन्होंने न्यायवैशषिक सिद्धान्तों की मिश्रित शैली में 'तर्कभाषा' की रचना की। इनके पिता का नाम 'बलभद्र मिश्र' था। साथ ही इनके दो बड़े भाई 'विश्वनाथ मिश्र' और 'पद्मनाभ मिश्र' का उल्लेख भी मिलता है। इनके शिष्य गोवर्धन मिश्र थे, जिन्होंने 'तर्कभाषा' पर 'तर्कभाषाप्रकाश' नामक व्याख्या का प्रणयन किया।[1] इन्होंने अपने बड़े भाई 'पद्मनाभ' से तर्कशास्त्र का अध्ययन करके 'स्वान्तः सुखाय' तर्कभाषा की रचना की। गोवर्धन मिश्र ने अपने गुरु की तर्कभाषा पर लिखी गई टीका 'तर्कभाषाप्रकाश' में केशवमिश्र का परिचय इसप्रकार प्रस्तुत किया है–

श्री विश्वनाथानुज-पद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कानधिगम्य सर्वान् श्रीपद्मनाभाद्विदुषो विनोदम्।।

तर्कभाषा यद्यपि मुख्यरूप से न्यायदर्शन का ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसमें वैशेषिकदर्शन सिद्धान्तों का भी पर्याप्त रूप से प्रतिपादन हुआ है। जैसे-संख्या में द्वित्वोत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है, यह वैशेषिक सिद्धान्त है। इसीप्रकार वैशेषिक की देन 'विभागज विभाग' का भी तर्कभाषा में उल्लेख हुआ है–

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।।

इसके अतिरिक्त अर्थ का निरूपण न्यायसूत्रों के अनुसार यहाँ केवल भूत और उसके गुणों का ही किया गया है, जबकि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः अर्थों का विवेचन यहाँ वैशेषिकदर्शन के अनुसार हुआ है। इतना ही नहीं इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है।

विद्वानों में यह ग्रन्थ अत्यधिक समादृत रहा। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार-विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953 ई०, पृ० 57-58

ऊपर अल्पावधि में ही लगभग चौदह टीकाओं का प्रणयन किया गया। जिनमें श्रीगोवर्धन मिश्र (1300 ई०) की तर्कभाषा प्रकाशिका, गोपीनाथ की उज्ज्वला टीका, रोमविल्व वेंकटबुद्ध की तर्कभाषा-भावटीका, श्री रामलिङ्ग की नयसंग्रह, माधवदेव की सारमञ्जरी, भास्करभट्ट की परिभाषा दर्पण, श्री बालचन्द्र की तर्क भाषा प्रकाशिका चित्रभट्ट (1390 ई०) की तर्कभाषा प्रकाशिका, श्री गणेश दीक्षित की तत्त्वप्रबोधिनी, श्री कौडिन्य दीक्षित की तर्कभाषा प्रकाशिका, श्री केशवभट्ट की तर्कदीपिका, श्री गौरीकण्ठ सार्वभौम की तर्कभाषा प्रकाशिका, नागेशभट्ट (1790 ई०) की युक्ति मुक्तावली तथा विश्वकर्मा की न्यायप्रदीप टीकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(14) विश्वनाथ न्यायपञ्चानन–सत्रहवीं शताब्दी में स्थित ये बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक तथा रघुनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वासुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पति के पौत्र थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ विद्यानिवास था, जो उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक पण्डित थे।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार–इन्होंने 'भाषा-परिच्छेद' और 'न्यायसूत्रवृत्ति' नामक दो ग्रन्थों का निर्माण किया।[1] जबकि डी०सी० भट्टाचार्य तथा महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने 'भाषा-परिच्छेद' को कृष्णदास सार्वभौम की रचना स्वीकार किया है,[2] किन्तु अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं।

(क) भाषा-परिच्छेद–इस कृति में 168 कारिकाओं के अन्तर्गत वैशेषिक सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विषय प्रतिपादन शैली की दृष्टि से इसकी गणना सर्वाधिक लोकप्रिय प्रकरणग्रन्थों में तर्कसंग्रह के अनन्तर की जाती है। इसके ऊपर महादेवभट्ट और दिनकरभट्ट ने 'मुक्तावली प्रकाश' नामक टीका ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसे दिनकरी के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त हुई, जिस पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरङ्गिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक व्याख्या ग्रन्थ की संरचना की।

(ख) न्यायसूत्रवृत्ति–विद्वान् लेखक ने इस कृति की संरचना अपनी तुरीय अवस्था में वृंदावन में रहकर 1631 ई० में की। इसमें न्यायसूत्रों की अत्यन्त सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

(15) जयनारायण तर्कपञ्चानन–इन्होंने वैशेषिक सिद्धान्तों पर 'विवृत्ति' नामक व्याख्या ग्रन्थ का प्रणयन किया। श्री नारायण मिश्र ने इसकी गणना आधुनिक

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० 222
2. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उमेश मिश्र, भाग-2, पृ० 422

व्याख्याओं में करते हुए वैशेषिक सिद्धान्तों के विवेचन की दृष्टि से इसकी अत्यधिक उपादेयता प्रतिपादित की है।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि आरम्भ में न्याय-वैशेषिकदर्शनों की स्वतन्त्र परम्परा के दर्शन होते हैं, किन्तु 15वीं शताब्दी के पश्चात् ये दोनों दर्शन-धाराएँ गंगा-यमुना के सम्मिलन के समान एक होकर ही अग्रसर हुईं तथा न्यायवैशेषिकदर्शन रूप में ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुईं। इसी कारण विद्वानों ने तर्कसङ्ग्रह ग्रन्थ की व्याख्या में भी जो वस्तुतः वैशेषिकदर्शन का ही ग्रन्थ है, न्याय परम्परा (बौद्ध जैन आदि) के विद्वानों एवं ग्रन्थों का भी परिचय प्रस्तुत किया।

किन्तु हम न्यायदर्शन की आचार्य परम्परा का विस्तृत विवेचन आचार्य केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' की 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या की भूमिका में प्रस्तुत करेंगे। विस्तार-भय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। अब हम वैशेषिक परम्परा के आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनके तर्कसङ्ग्रह का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(ञ) आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनका तर्कसङ्ग्रह : एक परिचय–सत्रहवीं शताब्दी में स्थित आचार्य अन्नंभट्ट ने वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों को आधार बनाकर सूत्ररूप में अत्यन्त सरल एवं लघुग्रन्थ 'तर्कसङ्ग्रह' की रचना की। प्रकरणग्रन्थ की कोटि में परिगणित यह कृति वस्तुतः विद्वत्समुदाय में अत्यधिक लोकप्रिय हुई।

'तर्कसंग्रह' इस नामकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में कहीं न कहीं न्यायवैशेषिकदर्शन के पदार्थों अथवा सिद्धान्तों के लिए 'तर्क' शब्द का प्रयोग प्रचलन में आ गया था। यही कारण है कि आचार्य केशव मिश्र ने अपने न्यायवैशेषिक के प्रकरणग्रन्थ तर्कभाषा में तथा आचार्य अन्नंभट्ट ने अपने तर्क सङ्ग्रह में न्यायवैशेषिक पदार्थों की विवेचना के कारण ही 'तर्क' पद का इनके नामकरण हेतु में प्रयोग किया है।[1]

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट ने अपने ग्रन्थ तर्क सङ्ग्रह में अपने काल एवं स्थानादि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है तथापि विद्वत्परम्परा इन्हें सोमयाजी तिरुमलाचार्य का पुत्र स्वीकार करती है।[2] इनका जन्म आन्ध्रप्रदेश के गरिकापाद नामक स्थान पर हुआ। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। आज भी कृष्णा नदी के तट पर चित्तूर के समीप केशवपुर में ऋग्वेदीय अन्नंभट्ट गोत्रयी ब्राह्मण निवास करते हैं।[3]

1. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-नर्वदेश्वर तिवारी, भारतीय विद्या भवन, वाराणसी, पृ० 21
2. भारतीय दर्शनशास्त्र, न्यायवैशेषिक, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० 132
3. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, व्याख्याकार डॉ० पंकज कुमार मिश्र, पृ० 20

ग्रन्थकार ने तर्कसङ्ग्रह के ऊपर स्वयं ही 'तर्क-दीपिका' नामक टीका का भी प्रणयन किया। तर्कसङ्ग्रह वैशेषिक सिद्धान्तों को सरल एवं साररूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है। पुनरपि अपनी 'दीपिका' टीका में ग्रंथकार ने परमाणुवाद, सृष्टि-प्रक्रिया, पाकप्रक्रिया आदि वैशेषिक सिद्धातों का प्रतिपादन करते हुए मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक, वेदान्तादि दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके तर्कपद्धति का अवलंब लेकर उनका विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। इस टीका के कारण इस दृष्टि से तर्कसङ्ग्रह एवं ग्रन्थकार का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

कृतित्व–आचार्य अन्नंभट्ट ने तर्कसङ्ग्रह एवं इसकी दीपिका टीका के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण दर्शनविषयक ग्रन्थों की संरचना भी की, जिनमें–

(क) जयदेव के 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' ग्रन्थ पर 'सिद्धाञ्जन' टीका

(ख) ब्रह्मसूत्र पर 'मिताक्षरा' टीका

(ग) उदयनाचार्य विरचित 'न्याय परिशिष्ट' पर 'प्रकाश' टीका

(घ) तन्त्रवार्तिक पर 'सुबोधिनी सुधासार' टीका

(ङ) अष्टाध्यायी पर 'मिताक्षरा' टीका

(च) कात्यायन के शुक्लयजुर्वेद प्रतिशाख्य पर भाष्य इत्यादि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(ट) तर्कसङ्ग्रह की टीकाएँ–आचार्य अन्नंभट्ट द्वारा विरचित तर्कसंग्रह पर भी विभिन्न विद्वानों ने लगभग 22 टीकाओं का प्रणयन किया, जिनका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं–

(1) 'वैद्यनाथ गाडगिल' की 'तर्कचन्द्रिका', (2) 'मुकुन्दभट्ट गाडगिल' की 'तर्कसङ्ग्रह चन्द्रिका', (3) 'पट्टाभिराम' की 'तर्कसङ्ग्रह टिप्पणी', (4) 'अनन्त नारायण' की 'तर्कसङ्ग्रह टीका', (5) 'गौरीकान्त' की 'तर्कसङ्ग्रह टीका', (6) 'रामनाथ' की 'तर्कसङ्ग्रह टीका', (7) 'विश्वनाथ' की 'तर्कसङ्ग्रह टीका', (8) 'नीलकण्ठ भट्ट' की 'नीलकण्ठी', (9) 'विन्ध्येश्वरी प्रसाद' की 'तरङ्गिणी', (10) 'मध्वगोविन्द हरबल' की 'वाक्यार्थ', (11) 'मुरारि' की 'तर्कसङ्ग्रह व्याख्या', (12) 'जगन्नाथ शास्त्री' की 'निरुक्ति', (13) 'केशवभट्ट' की 'न्याय चन्द्रिका', (14-15) 'गोवर्धन' एवं 'रत्ननाथ शुक्ल' की 'न्यायबोधिनी', (16) 'गोवर्धन रङ्गाचार्य' की 'न्यायार्थ लघुबोधिनी', (19-20) 'मेरु शास्त्री' की 'भाष्यवृत्ति' एवं

'वाक्यवृत्ति', (21) 'कृष्णधूर्जटि' को 'सिद्धान्त चन्द्रोदय', (22) 'हनुमान' की 'हनुमती'। इसके अतिरिक्त अज्ञातनाम वाले विद्वानों द्वारा विरचित तर्कसङ्ग्रह 'शङ्कु', तर्कसङ्ग्रहोपन्यास टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। साथ ही 'नीलकण्ठ भट्ट' के पुत्र द्वारा भास्करोदय नामक अत्यन्त विस्तृत टीका का भी प्रणयन किया गया, जो मूल तर्कसङ्ग्रह दीपिकाप्रकाश टीका के साथ नीलकण्ठी टीका सहित 1915 ई० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार उसी कृति को बनाया गया है।

(ठ) तर्कसङ्ग्रह का वैशेषिकदर्शन साहित्य में स्थान–जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह ग्रन्थ वस्तुत: तर्कों का संग्रह है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वानों ने इस प्रकार दी है–"तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्का: द्रव्यादिसप्तपदार्था:, तेषां पदार्थानां तर्काणां सङ्ग्रह: इति," क्योंकि इस ग्रन्थ में द्रव्यादि सप्त पदार्थों का प्रमाणपूर्वक सङ्ग्रह किया गया है। अत: इसे तर्कसङ्ग्रह कहा गया।

इसीप्रकार जिसके द्वारा प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाए वह तर्क अथवा प्रमाण ही तर्कसङ्ग्रह है–"तर्क्यतेऽनेनेति तर्क: प्रमाणम्।" इस ग्रन्थ में वस्तुत: पदार्थों के साथ-साथ प्रमाणों की भी विस्तृत एवं सुंदर चर्चा की गई है। भाषा की सरलता, प्राञ्जलता एवं शब्दचयन की विलक्षणता ने इस ग्रन्थ के महत्त्व को द्विगुणित कर दिया है। दर्शन के पारिभाषिक एवं क्लिष्ट शब्दों के स्पष्टीकरण में यह ग्रन्थ प्रमुख एवं अग्रणी रहा है, विषय का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त हृदयहारी होने से यह ग्रन्थ न केवल विद्वानों में आदृत रहा है, अपितु वैशेषिकदर्शन के प्रवेशद्वार के रूप में मान्य रहा है। यही कारण है कि इसे न केवल भारतवर्ष के अधिकांश विश्वविद्यालयों में, अपितु विदेशों के भी स्नातक स्तर पर पाठ्यक्रम में रखा गया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के अवसर पर स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि "बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रह:"। अर्थात् बच्चों को समझाने के लिए वैशेषिकदर्शन में सहजरूप से प्रवेश कराने के लिए, इस विषय के जिज्ञासु बालबुद्धि लोगों के लिए इस तर्कसंग्रह नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जा रहा है। ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के अनुसार यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल रहा है। अत: वैशेषिकदर्शन के प्रारम्भिक ग्रंथ के रूप में इसका महत्त्व एवं स्थान उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

(ड) तर्कसंग्रह में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त एवं विषय–अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही वैशेषिकदर्शन के अनुसार भी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य

अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति है, किन्तु यहाँ इन्हें प्राप्त करने का मार्ग भिन्न बताया गया है। इसके अनुसार-"संसार में दिखायी देने वाले द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही व्यक्ति को मोक्ष (निःश्रेयस्) की प्राप्ति होती है। इसीलिए इन्हीं सात पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करना इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है।" जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं-

(अ) सप्त पदार्थ–तर्कसङ्ग्रहकार ने यहाँ सात पदार्थों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है-"द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावाः सप्तपदार्थाः"। अर्थात् इन पदार्थों की संख्या वैशेषिकदर्शन में सात हो रही है, कम अथवा अधिक नहीं। यह प्रतीत होता है कि महर्षि कणाद एवं आचार्य प्रशस्तपाद ने आरम्भ में वैशेषिकदर्शन के छः पदार्थों का ही उल्लेख किया था,[1] किन्तु परवर्ती दर्शनाचार्यों-शिवादित्य, श्रीधर उदयन एवं व्योमशिवादि ने 'अभाव' नामक एक अन्य पदार्थ को मान्यता प्रदान करके इसकी संख्या में एक वृद्धि करके पदार्थों की संख्या कुल सात कर दी। जिसे बाद में सभी आचार्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन परम्परा वस्तुतः इसी पदार्थ-विज्ञान पर टिकी हुई है। वहाँ हमें केवल संख्या का ही भेद दिखायी देता है। जैसे-न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशयादि सोलह पदार्थों को मान्यता प्रदान की गई तो मीमांसकों ने इनकी संख्या आठ स्वीकार की। जबकि वेदान्तदर्शन ने ब्रह्म और माया दो को ही माना। इसके अतिरिक्त सांख्यदर्शन ने 25 एवं महाभारतीय सांख्य ने 26[2] तत्त्वों को स्वीकार किया। योगसूत्र में पतञ्जलि ने सांख्य के 25 तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को भी मान्यता प्रदान की।

जिस प्रकार इन सभी दर्शनों के विवेच्य विषय उक्त मान्य पदार्थ रहे हैं। उसी प्रकार तर्कसङ्ग्रहकार ने भी इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से उक्त सात पदार्थों का ही विवेचन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में कथन दिए गए क्रम से ही विवेचन प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम द्रव्य का विवरण प्रस्तुत किया है।

(1) नवद्रव्य–आचार्य अन्नंभट्ट ने सप्तपदार्थों की व्याख्या के क्रम में सर्वप्रथम द्रव्य पदार्थ का उल्लेख करते हुए-"पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन" कुल नौ संख्या को ही स्वीकार किया। यहाँ द्रव्य विशिष्ट पारिभाषिक

1. वैशेषिकसूत्र, 1/2/6 एवं प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 6
2. द्रष्टव्य लेखककृत-महाभारतीय सांख्य (एपिक सांख्य), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। द्रव्य के नामों का परिगणन करते हुए ग्रन्थकार ने वैशेषिकदर्शन को शुद्ध यथार्थवादी धरातल पर प्रस्तुत किया है, क्योंकि यह दर्शन वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों की सत्ता ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र एवं निरपेक्षरूप से स्वीकार करता है। वेदान्तदर्शन के समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' में आस्था व्यक्त नहीं करता है। उक्त सभी नौ द्रव्य पदार्थों की सत्ता मनुष्य अपने अनुभव द्वारा स्वीकार कर सकता है, इसमें किसी विशेषप्रकार की विप्रतिपत्ति की सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा और मन जैसे नितान्त अभौतिक पदार्थों के अस्तित्व में भी संशय का कोई अवसर प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि अस्मदादि से 'आत्मा' की तथा "मैं ठीक से सुन नहीं पाया, क्योंकि मेरा मन अन्यत्र था" इत्यादि अनुभवों से 'मन' की भी पुष्टि होती है। (परिशिष्ट चित्र-2)

(2) गुण–ग्रन्थकार ने द्वितीय पदार्थ गुण के चौबीस भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है–रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार ये चौबीस गुण हैं।

गुण शब्द यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैशेषिकसूत्र में गुण का लक्षण इसप्रकार किया गया है–"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्।" (1/1/16) अर्थात् द्रव्य के आश्रय में रहने वाला, गुणरहित संयोग एवं विभाग के प्रति स्वतन्त्र कारण न रहने वाला ही गुण है।

आचार्य अन्नंभट्ट ने अपनी दीपिका टीका में गुण से अभिप्राय–गुणत्व जाति से युक्त, द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए सामान्ययुक्त से ग्रहण किया है। इस दृष्टि से यदि हम संक्षेप में वैशेषिकदर्शन के 'गुण' नामक पदार्थ की व्याख्या करें तो इस प्रकार भी कर सकते हैं–

"गुणत्व जाति से युक्त, हमें द्रव्यों का आश्रय लेकर रहने वाले, अपने कार्य का असमवायिकारण, क्रिया रहित, संयोग-विभाग के प्रति कभी भी साक्षात् कारण न रहने वाले ही गुण कहलाते हैं। इनकी स्थिति कभी भी गुणों में विद्यमान नहीं होती है।"

इस प्रसङ्ग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि महर्षि कणाद ने आरम्भ में इनकी संख्या सत्रह मानी, किन्तु बाद में आचार्य प्रशस्तपाद ने इनमें–गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द इन सात गुणों को सम्मिलित करके इन्हें

चौबीस स्वीकार किया। तर्कसङ्ग्रहकार ने यहाँ इसी संख्या को मान्यता प्रदान की, क्योंकि उत्तरवर्ती सभी वैशेषिकदर्शनाचार्यों ने भी इसी संख्या को स्वीकार किया है।

अपनी दीपिका टीका में आचार्य अन्नंभट्ट ने प्रतिपक्ष की ओर से शङ्का प्रस्तुत करते हुए लघुत्व, मृदुत्व एवं कठिनत्व का गुणरूप में नामोल्लेख करके स्वयं ही उसका उत्तर इसप्रकार प्रस्तुत किया है–"गुरुत्व का अभाव ही लघुत्व है तथा मृदुत्व एवं कठिनत्व संयोग के ही प्रकार हैं।" अतः उन्हें पृथक् से गुण मानने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने उक्त चौबीस गुणों की स्थिति नौ द्रव्यों का तीन प्रकार से वर्गीकरण करते हुए इसप्रकार प्रदर्शित की है[1]–

(क) पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन में-मूर्तगुण-रूप, रस, गंध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं वेग (संस्कार) विद्यमान रहते हैं।

(ख) इसीप्रकार अमूर्त द्रव्यों में–बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द, भावना (संस्कार) आदि अमूर्त गुणों की स्थिति रहती है।

(ग) जबकि दोनों मूर्त, अमूर्त पदार्थों में पाए जाने वाले गुण उभय गुण की श्रेणी में आते हैं। जैसे-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। (परिशिष्ट- चित्र 3-क ख ग)

(3) कर्म–उद्देश्य प्रकरण में ग्रन्थकार ने जिन सात पदार्थों का कथन किया था, उनमें तृतीय पदार्थ कर्म के उन्होंने पाँच भेदों का कथन किया–उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन। इनमें ऊपर की ओर उछालना ही 'उत्क्षेपण' कहलाता है। जबकि नीचे की ओर गिरना 'अवक्षेपण' है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु का सिकुड़ना 'आकुञ्चन' तथा फैलना 'प्रसारण' कहा गया है, जबकि क्रिया अर्थात् चलना ही 'गमन' है।

ग्रन्थकार ने 'चलनात्मक कर्म' कहकर 'कर्म' नामक पदार्थ की परिभाषा की है। यह वस्तुतः मूर्त द्रव्यों में ही विद्यमान रहता है, विभु में नहीं। इस दृष्टि से सृष्टि के समस्त जड़, चेतन पदार्थों में कर्म नामक पदार्थ की स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि जल में लहरों का उठना-पत्तों का वायु से हिलना, पत्थर का गिरना या गेंद का हवा में उछलना (ज्वालामुखी आदि में पत्थरों का हवा में उछलना) तथा मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली आदि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना ये सभी स्थितियाँ 'चलन' क्रियात्मक होने के कारण 'कर्म' नामक वैशेषिक पदार्थ के अन्तर्गत मानी जाएँगी।

1. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 60

क्योंकि कर्म के द्वारा ही एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोग या वियोग होता है, अतः इसी कारण कर्म को संयोग, वियोग का कारण भी माना गया है। इसके अतिरिक्त अनित्य पदार्थों में कर्मत्व जाति भी विद्यमान रहती है, क्योंकि सामान्यतया वैशेषिकदर्शन की दृष्टि में जाति-द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों पदार्थों में विद्यमान रहती है। द्रव्य एवं गुण ये दोनों नित्य पदार्थ हैं, किन्तु कर्म नित्य न होकर क्षणिक माना गया है। अतः कर्मत्व की नित्यता सम्भव नहीं है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने उपाधि को कर्म का कारण बताया है। उनके अनुसार-

(क) क्योंकि भारी पदार्थ पृथ्वी की ओर गिरते हैं, अतः गुरुत्व उपाधि यहाँ 'अवक्षेपण' नामक कर्म का कारण है।

(ख) इसीप्रकार जलादि तरल पदार्थों में तरलता उपाधि गति का कारण बनती है। अतः द्रवत्व नामक उपाधि 'गमन' नामक कर्म का कारण है।

(ग) इसके अतिरिक्त 'भावना' नामक उपाधि के कारण जीवात्मा में क्रियाशीलता देखी जाती है।

(घ) गति का आविर्भाव अनेकशः संयोग उपाधि के कारण भी देखा जाता है, क्योंकि वृक्ष से टूटने पर फल का पृथ्वी से संयोग होता है, जो कर्म के अन्तर्गत आता है।

क्योंकि उक्त पाँचों कर्मों में संसार की समस्त गतियों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए विद्वानों ने इस विभाजन को अत्यन्त वैज्ञानिक माना है। इस विषय में डॉ० दयानन्द भार्गव के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं-

"इस विभाजन में एक वैज्ञानिक आधार है। गति तीन प्रकार की हो सकती है-ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र। वक्र गति भी दो प्रकार की है-दूरगामी और निकट लाने वाली और यही चार गतियाँ यहाँ दी गई हैं। शेष प्रकार की गतियाँ गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अतः कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया है, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है।"[1]

(4) सामान्य-आचार्य अन्नंभट्ट ने चतुर्थ पदार्थ 'सामान्य' को इसप्रकार परिभाषित किया है-"नित्यम् एकम् अनेकानुतम् सामान्यम् द्रव्यगुण-कर्म-वृत्तिः।" अर्थात् सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में रहने वाला है। यह द्रव्य, गुण और कर्म में विद्यमान रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस संसार में अनेक वस्तुओं में

1. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, व्याख्याकार, डॉ० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ० 14

भिन्नता होते हुए भी कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। जैसे-अनेक मनुष्यों के नाम, गुण, कार्यादि भिन्न होते हुए भी सभी को मनुष्य कहा जाता है। इसीप्रकार का व्यवहार सभी स्त्रियों, गायों, बकरियों आदि सभी जीवों में भी होता है।

वैशेषिकदर्शन इस अनुभूति किंवा प्रतीति का आधार 'सामान्य' या 'जाति' नामक पदार्थ को स्वीकार करता है। अर्थात् वह पदार्थ जिसके कारण एक ही प्रकार के अनेक शरीरों में समानता की प्रतीति हो उसे 'सामान्य' अथवा 'जाति' के अन्तर्गत माना जाएगा। जैसे-अनेक मनुष्यों में 'मनुष्यत्व-सामान्य' कहलाएगा तथा अनेक घड़ों में 'घटत्व' सामान्य होगा।

यह 'पर' एवं 'अपर' भेद से दो प्रकार का होता है। 'पर' से अभिप्राय यहाँ अधिक देश में रहने वाला ग्रहण करना चाहिए (परम्-अधिक देशवृत्ति) तथा 'अपर' नामक सामान्य अपेक्षाकृत कम देश में विद्यमान रहता है (अपरं न्यून देश वृत्ति)।

इनमें 'पर' नामक सामान्य पदार्थ को 'सत्ता' भी कहा गया है (परं सत्ता), किन्तु 'सत्ता' शब्द वस्तुतः विशेष अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म में ही विद्यमान रहता है। इसी को जाति भी माना गया है तथा 'अपर' नामक सामान्य पदार्थ केवल द्रव्यत्वादि ही है। इस प्रसङ्ग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में विद्यमान हो उसे जाति या सामान्य नहीं कहा जाएगा। जैसे-आकाश में आकाशत्व सामान्य नहीं होगा। इसी प्रकार घटत्व को जाति माना जाएगा, कलशत्व को नहीं।

अतः इस विषय में स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वैशेषिकदर्शन केवल समानता की प्रतीति मात्र होने को भी सामान्य या जाति स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि उसके मत में यह प्रतीति उपाधि के कारण भी होती है। इस दृष्टि से सामान्य में तीन बातों का होना अनिवार्य है-(क) नित्यत्व, (ख) अनेकानुगतत्व और (ग) समवेतत्व। अर्थात् सामान्य नित्य होता है एवं अनेक में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है।

(5) विशेष–यह पदार्थ वस्तुतः व्यक्ति की भिन्नता का प्रदर्शन करता है, क्योंकि यह भेदक धर्म है। जिसके कारण नित्य धर्मों में भेद की प्रतीति होती है, वही वस्तुतः विशेष नामक पदार्थ है। सभी नित्य धर्मों में एक भेदक धर्म स्वीकार किया गया है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार-अनित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता के प्रदर्शन के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु नित्य द्रव्यों विशेष

रूप से परमाणुओं की परस्पर भिन्नता का निर्धारण किसी अन्य आधार पर सम्भव नहीं था। इसीकारण सभी नित्य द्रव्यों में एक-एक विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक नित्य द्रव्य में अलग-अलग विशेष मानने के कारण इन्हें अनन्त माना गया है।

अन्नंभट्ट के अनुसार-यह नित्य द्रव्य में रहने वाला अनन्त है (नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव)। यहाँ विशेष से अभिप्राय वस्तुतः विश्लेषक अथवा भेदक तत्त्व से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सामान्यरूप से एक ही जाति के दो द्रव्यों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) में भेद करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। इसीलिए यहाँ विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं- "द्रव्यों को एक समान होना चाहिए, क्योंकि वे सभी द्रव्य हैं तथा उन्हें एक-दूसरे से भिन्न भी होना चाहिए, क्योंकि वे पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों में निहित पाते हैं तो उसे 'सामान्य' कहते हैं, किन्तु जब हम उस गुण को, इन पदार्थों को अन्य पदार्थों से अलग करने वाला पाते हैं, तो उसे विशेष कहते हैं।"[1]

कुछ विद्वानों के मत में 'विशेष' नामक पदार्थ की मौलिक परिकल्पना के कारण ही इस दर्शन संप्रदाय को 'वैशेषिकदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध प्राप्त हुई।

(6) समवाय–वैशेषिकदर्शन 'समवाय' को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। तर्कसङ्ग्रहकार ने इसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए, इसकी स्थिति दो अयुतसिद्ध पदार्थों में मानी है। यहाँ अयुतसिद्ध पदार्थों से आशय उन दो पदार्थों से है, जिनमें विनाश की अवस्था को छोड़कर एक-दूसरे पर आश्रित होकर विद्यमान रहता है। जैसे-अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियवान् आदि।[2]

यह समवाय एक ही है। यद्यपि क्षेत्रभेद से इसके आश्रय अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु उन सब में रहने वाला 'सभवाय' नामक पदार्थ एक ही है।

यहाँ प्रयुक्त अयुतसिद्ध पद विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है, जिसे उदाहरण द्वारा अत्यन्त सहजरूप में समझ सकते हैं। किसी वस्त्र के निर्माण में उसके धागे अपना सहयोग प्रदान करते हैं। यदि धागों को अलग-अलग कर दिया जाए तो वस्त्र

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 180
2. नित्य सम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यद् अपराश्रित-मेवाऽवतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ। यथा-अवयवाऽवयविनौ, गुणगुणिनौ।।

स्वयं समाप्त हो जाएगा। इसीलिए कहा गया अविनाश की अवस्था में जिन दो पदार्थों (पट-वस्त्र, तन्तु-धागे) में एक अर्थात् पर दूसरे अर्थात् तन्तु पर आश्रित होकर रहता है तो वे दोनों ही अयुतसिद्ध कहलाएँगे।

इस क्रम में अयुतसिद्ध पदार्थों के ग्रन्थकार ने पाँच उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति एवं नित्यद्रव्य एवं विशेष नामक पदार्थों को अयुतसिद्ध माना है। यहाँ तन्तु-पट को अवयव-अवयवी के, घटरूप एवं घट को गुण-गुणी के, चलना एवं चलने वाले प्राणी को क्रिया-क्रियावान् के, मनुष्यत्व जाति एवं मनुष्य को जाति व्यक्ति के तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष के उदाहरण रूप में भी समझा जा सकता है।

(7) अभाव–ग्रन्थकार ने आरम्भ में जिन सात पदार्थों का उल्लेख किया, उनमें अंतिम सातवें पदार्थ 'अभाव' का ग्रन्थ के अन्त में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। तदनुसार-अभाव नामक सातवाँ पदार्थ चार प्रकार का होता है–(क) प्राक्-अभाव, (ख) प्रध्वंस-अभाव, (ग) अत्यन्त-अभाव तथा (घ) अन्योन्य-अभाव।

(क) प्रागभाव–इनमें उत्पत्ति से पहले होने वाला अभाव अपने नाम के अनुसार ही (प्राक् अर्थात् पहले) होने वाला '**प्रागभाव**' होता है। जैसे-घट के उत्पन्न होने से पहले होने वाला घट का अभाव ही '**प्रागभाव**' है। यह अभाव वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही नष्ट हो जाता है। ग्रन्थकार ने दीपिका टीका में इसकी तीन विशेषताओं का कथन किया है–

(i) यह अभाव किसी भी वस्तु के समवायिकारण में विद्यमान रहता है। जैसे-घड़े का अभाव अपने समवायिकारण मिट्टी के परमाणुओं में स्थित रहता है।

(ii) यह अभाव ही अपने कार्य को उत्पन्न करने वाला होता है।

(iii) इसके अलावा 'यह कार्य उत्पन्न होगा' इसप्रकार के व्यवहार का कारण ही कार्य होता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि न्यायवैशेषिकदर्शन असत्कार्यवादी दर्शन है। इस कारण ये उत्पत्ति से पहले कारण में कार्य का अभाव स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों के अनुसार यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु अपने कार्य की उत्पत्ति के साथ ही यह नष्ट हो जाता है।

(ख) प्रध्वंसाभाव–उत्पन्न हुई वस्तु का विनष्ट होना ही 'प्रध्वंस' कहलाता है। अतः उत्पन्न हुई वस्तु के विनाश के पश्चात् होने वाला अभाव ही 'प्रध्वंसाभाव'

है। जैसे–घड़े के टूटने के बाद होने वाला उसका अभाव ही 'प्रध्वंसाभाव' कहलाएगा। आचार्य अन्नंभट्ट ने इसे प्रारम्भ सहित, किन्तु अनन्त कहा है अर्थात् इस अभाव का प्रारम्भ तो होता है, किन्तु होने के पश्चात् यह अनन्त होता है अर्थात् इस अभाव का अन्त नहीं होता यह निरन्तर बना रहता है। इसके अतिरिक्त कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् ही इस अभाव की स्थिति सम्भव है।

आचार्य अन्नंभट्ट ने प्रागभाव के समान ही इसकी भी तीन स्थितियों का कथन किया है–

(i) इस अभाव की उत्पत्ति कार्य के विनाश से ही सम्भव है।

(ii) यह भी अपने कार्य के समवायिकारण में ही मिलता है।

(iii) 'यह विनष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार का हेतु भी यही प्रध्वंसाभाव होता है।

(ग) अत्यन्ताभाव–जो अभाव पहले था, वर्तमान समय में भी है तथा भविष्य में भी रहेगा, वही अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे–वन्ध्या स्त्री का पुत्र। स्त्री के बाँझ (संतान उत्पत्ति में असमर्थ) होने की स्थिति में उसके पुत्र का अभाव, भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में रहेगा। यही अत्यन्ताभाव कहलाएगा। इसी का अन्य उदाहरण भूतल पर घट का अभाव (भूतले घटो नास्ति) भी दिया जा सकता है।

तर्कसङ्ग्रहकार ने इसका लक्षण इसप्रकार दिया है–"त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव:" अर्थात् जिसका प्रतियोगी अर्थात् कार्य तीनों कालों में से किसी भी काल में उत्पन्न ही नहीं होता है। अत्यन्ताभाव की श्रेणी में आएगा। यह अनादि और अनन्त होता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव इन तीनों में कार्य की स्थिति अर्थात् संसर्ग का अभाव होने से तीनों ही 'संसर्गाभाव' भी कहलाते हैं।

(घ) अन्योन्याभाव–एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव ही अन्योन्याभाव है। जैसे–घट में पट का अभाव। अर्थात् घट, पट नहीं है। यह अभाव भी अनादि और अनन्त होता है। तर्कसंग्रहकार ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है–"तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव:" अर्थात् इसकी स्थिति प्रतियोगी अर्थात् कार्य के तादात्म्य सम्बन्ध पर अवस्थित है। इसप्रकार उन्होंने अन्योन्याभाव को तादात्म्यसम्बन्ध का प्रतियोगी कहा है। अपने में अपना सम्बन्ध ही वस्तुत: तादात्म्यसम्बन्ध है। जैसे–पट का पट से सम्बन्ध, घट का घट से सम्बन्ध। अत: घट में पट का अथवा पट में घट का अभाव ही अन्योन्याभाव कहा जाएगा।

उक्त चार अभावों पर यदि दैनिक व्यवहार की दृष्टि से विचार करें तो हमें उक्त विभाजन अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि प्रागभाव को न मानने की स्थिति में सभी वस्तुएँ अनादि हो जाएँगी तथा प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने पर संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त होंगी। इसीप्रकार अन्योन्याभाव को न मानने पर सभी सांसारिक वस्तुएँ एक समान होंगी तथा अत्यन्ताभाव को यदि न मानें तो संसार की सभी वस्तुओं का अस्तित्व भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कालों में हो जाएगा।

(आ) चतुर्विध प्रमाण–यद्यपि वैशेपिकदर्शन आरम्भिक रूप में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करता है, तथापि आचार्य अन्नंभट्ट ने इस संदर्भ में न्याय परम्परा का अनुकरण होते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया है, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण–तर्कसंग्रहकार के अनुसार–प्रत्यक्षज्ञान का करण ही प्रत्यक्ष होता है (प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्) । अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु, जिह्वा, त्वक्, श्रोत्र एवं घ्राण) तथा पदार्थ की निकटता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसे प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। जैसे–हमारी नेत्रेन्द्रिय के सम्पर्क में घट के आने पर ही हमें घट का ज्ञान होता है उसके अभाव में नहीं, क्योंकि घट को नेत्र से देखने के बाद ही हम 'यह घट है' इसप्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जबकि नेत्रेन्द्रिय से रहित व्यक्ति इसी ज्ञान को त्वगेन्द्रिय से छूकर भी प्रत्यक्ष करके 'यह घट है' इस रूप में प्राप्त कर लेता है। ये दोनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रत्यक्षज्ञान के अन्तर्गत माने जाएँगे।

इस प्रसङ्ग में यह बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) का सन्निकर्ष (निकटता) होना अत्यावश्यक है। इसके अभाव में प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। यह दो प्रकार का माना गया है। निर्विकल्पक और सविकल्पक।

(i) निर्विकल्पक–नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि के ज्ञान से रहित होने वाला ज्ञान ही 'निर्विकल्पकज्ञान' की कोटि में आता है। इसका ज्ञान 'यह कुछ है' केवल इस रूप में ही होता है। अर्थात् यह ज्ञान की आरम्भिक अवस्था होने के कारण किसी भी पदार्थ को केवल 'वस्तुमात्र' के रूप में ही ग्रहण करता है। जैसे–घड़े के नाम, जाति, गुण आदि से अपरिचित व्यक्ति जब उसे अपनी नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रथम बार देखता है तो वह केवल इतना ही कह पाता है कि 'यह कुछ है' (किञ्चिद् इदम्)। अर्थात् यह निश्चय ही अस्पष्ट ज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि इस स्थिति में हमें

वस्तु की जाति, गुण, क्रिया एवं नामादि का ज्ञान नहीं होता है। साथ ही इस ज्ञान की विशेषता है कि यह निश्चयात्मक भी होता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं होता।

(ii) सविकल्पक–विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही 'सविकल्पक ज्ञान' की श्रेणी में आता है, क्योंकि यह ज्ञान नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषणों से युक्त होता है। जैसे–"यह श्यामवर्ण वाला डित्थ नामक ब्राह्मण है।" यहाँ पिण्ड (शरीर) विशेष के बारे में हम उसके 'डित्थ' नाम से, ब्राह्मण जाति से तथा श्यामवर्ण से पूर्णतया परिचित हैं। अत: यह सविकल्पक ज्ञान कहलाएगा। यह प्रत्यक्ष वस्तु के निश्चित एवं स्पष्टस्वरूप को प्रदर्शित करता है। इसमें व्यक्ति को उस वस्तु के गुणादि का भी स्पष्टरूप से ज्ञान रहता है। इसीलिए इसे सविकल्पकज्ञान की संज्ञा दी गई है।

सामान्यरूप से ऐसी मान्यता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी भी पदार्थ के सम्पर्क में आने के प्रथम क्षण में उस वस्तु के सभी धर्मों (नाम, जाति, गुण आदि) का ज्ञान प्राप्त नहीं करती हैं, अपितु उस समय हमें केवल पदार्थमात्र का आभास प्राप्त होता है, जिसे हम 'यह कुछ है', इस रूप में प्राप्त करते हैं। यही निर्विकल्पक ज्ञान है। उसके पश्चात् ही अपनी स्मृति के आधार पर अथवा अन्य व्यक्ति के सहयोग से हमें अग्रिम क्षणों में उसके नाम, जाति, गुण आदि का पता चलता है। इसलिए इसे सविकल्पक ज्ञान की कोटि में रखा गया है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का आरम्भिक ज्ञान हमें निर्विकल्पकरूप में ही प्राप्त होता है। उसके बाद ही उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। लगभग सभी दर्शनों ने प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है आचार्य दिङ्नाग ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष में इन निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेदों का उल्लेख किया, जिसे बाद में न्यायवैशेषिकदर्शनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

(ख) अनुमान प्रमाण–दूरस्थित पर्वत में धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान प्रमाण से होने वाली 'अनुमिति प्रमा' का प्रसिद्ध उदाहरण है, जो प्राय: सभी दर्शनों ने उद्धृत किया है। आचार्य अन्नंभट्ट ने इसे 'अनुमिति' का करण कहते हुए परिभाषित किया है (अनुमितिकरणम् अनुमानम्)। अनुमिति वस्तुत: एक यथार्थज्ञान है, जो हमारी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होते हुए भी कुछ विशिष्ट कारणों से हमें प्रतीत होता है। यह पाँच वाक्यों के सुदृढ़ आधार पर आधारित है, जिन्हें प्रबलतर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यह पञ्चवाक्य-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन रहे हैं। अनुमान-

प्रमाण इन्हीं पञ्चवाक्यों में पूर्ण होकर ज्ञान कराता है जो यथार्थ होता है। इस ज्ञान को 'अनुमिति' संज्ञा प्रदान की गई है। इसे परामर्शजन्य माना गया है (परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमिति)। यहाँ 'परामर्श' शब्द पारिभाषिक है, अतः विशिष्ट व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

ग्रन्थकार के अनुसार–व्याप्ति से विशिष्ट ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः)। जैसे–"अग्नि से व्याप्त हुआ यह पर्वत धुएँ वाला है", यह ज्ञान ही परामर्श है तथा उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान–'यह पर्वत अग्नि वाला है', ही अनुमिति है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है।

देवदत्त अपने मित्र के साथ पर्वत की ओर भ्रमण करने के लिए जाता है, किन्तु दो तीन कि०मी० पूर्व ही पर्वत में धुआँ उठता हुआ देखकर अपने मित्र से कहता है–अरे! पर्वत में तो आग लगी हुई है (पर्वतोऽयं वह्निमान्–प्रतिज्ञा वाक्य)। तब उसका मित्र कहता है कि आपने इतनी दूर से कैसे जान लिया कि "यह पर्वत अग्नि वाला है"? मुझे तो आग यहाँ से दिखायी नहीं दे रही है।

तब देवदत्त कहता है–तुम पर्वत में उठता हुआ धुआँ तो देख रहे हो? (धूमवान्–हेतु वाक्य) मित्र कहता है कि वह तो मुझे भी दिखायी दे रहा है। देवदत्त बोला– जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसे–रसोईघर में (यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्नि; यथा–महानसे–उदाहरणवाक्य अन्वयव्याप्ति)। इसके अतिरिक्त जहाँ–जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ–वहाँ धुएँ का भी अभाव होता है। जैसे–जलाशय में (व्यतिरेक व्याप्ति) यत्र अग्नि नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति (उदाहरण वाक्य)। उदाहरण वाक्य सुनकर मित्र उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहता है–सो तो है।

तब देवदत्त पुनः अपनी उसी बात को दोहराते हुए कहता है कि–क्योंकि यह पर्वत भी धुएँ से व्याप्त है (उपनय वाक्य)। अतः यह पर्वत भी अग्नि वाला है (निगमनवाक्य)। उसके मित्र को भी तर्क के आधार पर (पञ्चावयव वाक्यों द्वारा) पर्वत में अग्नि का अनुमान प्रमाण द्वारा ज्ञान होता है।

इस दृष्टि से अनुमान के दो भेद किए गए हैं–(i) स्वार्थानुमान तथा (ii) परार्थानुमान। स्वार्थानुमान में व्यक्ति दैनिक जीवन में रसोई घर आदि में स्वयं ही–"यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्निः", इस अन्वयव्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के पास जाकर धुएँ को देखते हुए–"जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है"

इस व्याप्ति को स्मरण करता है तथा स्वयं ही इस पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करते हुए इस निश्चय पर पहुँचता है कि "यह पर्वत अग्निवाला है" (पर्वतोऽयं वह्निमान्)।

यही लिङ्गपरामर्श भी कहलाता है, क्योंकि धूम अग्नि का लिङ्ग (चिह्न) है तथा अनुमान की प्रक्रिया में व्यक्ति उसका तीसरी बार पर्वत में दर्शन करता है, जिसके कारण उसे पर्वत में अग्नि होने की अनुमिति होती है। धूम का प्रथम दर्शन उसने प्रथम बार पर्वत में किया था, जब पर्वत में धुआँ उठते हुए देखा था। पुनः द्वितीय दर्शन उसे रसोईघर की स्मृति के साथ उठते हुए धुएँ का हुआ था, जहाँ उसने "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः" के सिद्धान्त को अपने मन में दृढ़रूप में स्थापित कर लिया था।

तत्पश्चात् रसोई की स्मृति के साथ पुनः पर्वत में धूम का दर्शन ही वस्तुतः तृतीय दर्शन है, जिसे देखकर वह निश्चयपूर्वक कह उठता है कि–पर्वतोऽयं अग्निमान्। इसलिए दर्शनशास्त्रियों ने इसी तृतीय लिङ्गदर्शन को 'लिङ्ग परामर्श' की संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि व्याप्ति-विशिष्ट धूम के ज्ञान को ही 'परामर्श' कहते हैं और परामर्श का नाम ही अनुमान है। इसप्रकार परामर्श अर्थात् अनुमान से 'पर्वत में अग्नि है', इस प्रकार का अनुमिति ज्ञान हो जाता है तथा उक्त अनुमान ही **स्वार्थानुमान** है। यहाँ धूम अग्नि का लिङ्ग है, क्योंकि इस चिह्न से ही अग्नि की पहचान होती है।

इसके अतिरिक्त यदि इसी पञ्चावयव प्रक्रिया का प्रयोग कोई व्यक्ति किसी दूसरे को अग्नि आदि का ज्ञान कराने के लिए करे तो वह **परार्थानुमान** कहलाएगा। इस दृष्टि से यद्यपि स्वार्थानुमान में ही परार्थानुमान भी निहित रहता है तथापि इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि स्वार्थानुमान में व्यक्ति अनुमान अपने ज्ञान के लिए करता है तथा परार्थानुमान में वही अनुमान वह दूसरे को समझाने के लिए करता है।

(i) अनुमान की पञ्चावयव प्रक्रिया–अनुमान की इस पञ्चावयव प्रक्रिया को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

प्रतिज्ञा वाक्य–पर्वतोऽयं वह्निमान् (यह पर्वत अग्नि वाला है)।

हेतुवाक्य–धूमवत्त्वात् (धुएँ वाला होने से)।

उदाहरण वाक्य–यत्र-यत्रः धूमः तत्र-तत्र वह्निः-यथा महानसे (जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे-रसोईघर में)।

उपनय वाक्य–तथा चायम् (यह भी वैसा है अर्थात् धुएँ वाला है)।

निगमन–तस्माद् अयं पर्वतो वह्निमान् (इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है।) (परिशिष्ट-चित्र-8)

(ii) पक्ष-सपक्ष और विपक्ष का स्वरूप–इसी प्रसङ्ग में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष इन तीन शब्दों को समझ लेना भी उचित होगा, क्योंकि अनुमान प्रकरण के साथ-साथ त्रिविध लिङ्ग एवं हेत्वाभास प्रकरण में भी इनकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। तदनुसार–

पक्ष–संदिग्ध साध्य वाला 'पक्ष' कहलाता है। (संदिग्धसाध्यवान् पक्षः) जैसे-धूमवत्त्व हेतु में पर्वत, क्योंकि पर्वत में धुएँ को उठते हुए देखकर व्यक्ति को उसमें अग्नि होने का संदेह हुआ। अतः इस स्थिति में पर्वत यहाँ 'पक्ष' संज्ञा वाला होगा।

सपक्ष–निश्चितरूप से साध्य वाला 'सपक्ष' होता है (निश्चित साध्यवान् सपक्षः)। जैसे-रसोईघर, क्योंकि अग्नि और धूम के साहचर्य को सिद्ध करने के लिए 'अग्नि' साध्य होगा, जिसकी रसोईघर में स्थिति अनिवार्यतः देखने को मिलती है। अतः महानस अर्थात् रसोईघर इस उदाहरण में सपक्ष संज्ञा वाला कहलाएगा।

विपक्ष–साध्यरूप अग्नि के निश्चितरूप से अभाव वाला ही 'विपक्ष' होता है–(निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः) जैसे–जलाशय (महाह्रदः)। उक्त उदाहरण के प्रसङ्ग में जलाशय को अग्नि के अभाव के उदाहरण रूप में निश्चयपूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि जलाशय में अग्नि का पूर्णतया अभाव होता है। अतः वह धूमाग्नि सिद्धि उदाहरण में 'विपक्ष' कहलाएगा।

(iii) त्रिविध कारण–किसी भी कार्य की उत्पत्ति अथवा निर्माण के लिए ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट ने समवायी, असमवायी और निमित्त तीन कारणों की अनिवार्यता प्रतिपादित की है तथा उदाहरण सहित इनके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। प्रस्तुत स्थल पर हम उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं–

(a) समवायिकारण–जिसमें समवेतरूप से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायिकारण कहते हैं। यहाँ प्रयुक्त समवेत से अभिप्राय अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध से है, इसके कारण इसे कार्य से अलग नहीं किया जा सकता है। जैसे–वस्त्र के लिए उसके धागे समवायिकारण होंगे, क्योंकि इसकी स्थिति ही इसके तन्तुओं में सम्भव है और समवाय सम्बन्ध के कारण स्थित तन्तुओं के नष्ट होने पर 'पट' रूप वस्त्र स्वतः ही नष्ट हो जाता है।

(b) असमवायिकारण–एक ही पदार्थ में कार्य अथवा कारण के साथ समवेत रूप से स्थित कारण ही असमवायिकारण है, समवायिकारण के रहते हुए भी इस कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। जैसे-पट के ही उदाहरण में 'तन्तुओं का संयोग' असमवायिकारण कहा जाएगा, क्योंकि वह पट-कार्य और तन्तु समवायिकारण के बीच विद्यमान रहता है तथा समवायिकारण तन्तुओं के विद्यमान रहने पर भी इस कारण के अभाव में पट-कार्य की उत्पत्ति असम्भव है।

(c) निमित्त कारण–जो कारण समवायी और असमवायी दोनों से भिन्न होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति में अनिवार्य होता है उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे–पट की उत्पत्ति में तुरी–वेमा और वस्त्र बनाने वाला जुलाहा निमित्त कारण होंगे, क्योंकि तुरी–वेमादि ये उपकरण ही समवायिकारण तन्तुओं में असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' को निष्पादित करते हैं तथा जुलाहा (तन्तुवाय) इन उपकरणों को संचालित करने के कारण पट-कार्य का निमित्त कारण होगा।

इसप्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'पट' रूप 'कार्य' के सम्बन्ध में तन्तु-समवायिकारण तथा तन्तुओं का परस्पर विधिपूर्वक संयोग (तन्तुसंयोग) पट का असमवायिकारण होगा तथा जो न समवायी है और न असमवायिकारण है, किन्तु कारण अवश्य है, ऐसे पट बनाने के यन्त्र तुरी–वेमादि उपकरण तथा तन्तुवाय (वस्त्र बुनने वाला व्यक्ति) ये सभी निमित्तकारण होंगे। (परिशिष्ट-चित्र संख्या-9)

(iv) त्रिविध लिङ्ग–तर्कसंग्रहकार ने अनुमान प्रमाण का उल्लेख करते हुए अनुमान के दोनों भेदों स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति में 'लिङ्ग-परामर्श' को असाधारण कारण कहा है तथा लिङ्ग-परामर्श को अनुमान की संज्ञा प्रदान की है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने तीन प्रकार के लिङ्ग की व्याख्या भी की है। तदनुसार 'लिङ्ग' तीन प्रकार का होता है–

(a) अन्वयव्यतिरेकि–अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों से युक्त लिङ्ग अन्वयव्यतिरेकि लिङ्ग कहलाता है। जैसे-अग्नि के साध्य होने पर धूमतत्त्व लिङ्ग इसी कोटि में आएगा, क्योंकि यहाँ अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति दोनों ही विद्यमान हैं।

अन्वय व्याप्ति–यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्निः, यथा महानसे। अर्थात् जहाँ–जहाँ धुआँ होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, जैसे–रसोई घर में।"तत् सत्त्वे तत् सत्त्वमन्वयः" परिभाषा के अनुसार धूम के होने पर अग्नि का होना अन्वय व्याप्ति है। इसीप्रकार

व्यतिरेक व्याप्ति जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धुआँ भी नहीं होता है। जैसे-महाह्रद (जलाशय) यह व्यतिरेक व्याप्ति होगी।

अत: अग्नि के साध्य होने पर धूमवत्त्व लिङ्ग दोनों प्रकार की व्याप्तियों से युक्त होने के कारण अन्वय-व्यतिरेकि हेतु नामक प्रथम लिङ्ग माना जाएगा।

(b) केवलान्वयि–केवल अन्वयमात्र व्याप्ति वाला लिङ्ग 'केवलान्वयि' कहलाता है। जैसे-कोई व्यक्ति कहे कि घट अभिधेय है, क्योंकि वह पट के समान प्रमेय है (घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात् पटवत्)। यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व को व्यतिरेक-व्याप्ति न होने के कारण 'प्रमेयत्व' हेतु अर्थात् लिङ्ग दूसरे प्रकार का अर्थात् केवलान्वयि लिङ्ग होता है, क्योंकि इस संसार में सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय होता है। अत: उनका अभाव अर्थात् व्यतिरेक रूप व्याप्ति बन ही नहीं सकती है।

(c) केवल-व्यतिरेकि–जिस लिङ्ग में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव होती है, अन्वय व्याप्ति की संभावना लेशमात्र भी नहीं रहती है। वह केवल व्यतिरेकि हेतु अर्थात् लिङ्ग कहलाता है। जैसे-पृथिवी इतर पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि वह गन्धवती है (पृथिवी इतरेभ्य: भिद्यते गंधवत्वात्)।

प्रस्तुत उदाहरण में गन्धवती हेतु (लिङ्ग) प्रस्तुत करते हुए पृथिवी को दूसरे पदार्थों से भिन्न सिद्ध किया गया है। यहाँ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव है, जिसका कथन हम इसप्रकार करेंगे-जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवती भी नहीं है। जैसे-जल (यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्। यथा-जलम्)।

यहाँ पृथिवी मात्र के 'पक्ष' होने के कारण अन्वय-व्याप्ति सम्भव नहीं है। अत: यह हेतु केवलान्वयि हेतु की श्रेणी में आता है, क्योंकि जिस हेतु अर्थात् लिङ्ग का अपने साध्य के साथ केवल व्यतिरेक सम्बन्ध ही सम्भव हो पाता है, अन्वय-व्याप्ति का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। वह लिङ्ग (हेतु) केवल व्यतिरेकि कहलाता है– क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण (यत्र-यत्र गन्धवत्वं तत्र-तत्र पृथिवीतरभेद:) में अन्वय-व्याप्ति का कथन ही सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ गन्धवान् सभी पदार्थ पृथिवी तत्त्व में ही आ जाते हैं।

इसप्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जिस लिङ्ग की अपने साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्ति सम्भव होती हैं, वह अन्वय-व्यतिरेकि लिङ्ग होता है तथा जिसकी अपने साध्य के साथ केवल अन्वय-व्याप्ति ही बन पाती है, वह हेतु (लिङ्ग) केवलान्वयि लिङ्ग की श्रेणी में आता है। जबकि केवल व्यतिरेक व्याप्ति वाला लिङ्ग केवल-व्यतिरेकि होता है। (परिशिष्ट-चित्र संख्या-10)

(ग) उपमान प्रमाण–उपमिति का करण ही उपमान है (उपमितिकरणम्, उपमानम्) अर्थात् एक पदार्थ के धर्म को दूसरे में बताते हुए जब कोई प्रामाणिक व्यक्ति सादृश्य आदि के कारण अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराता है तो वही उपमिति नामक ज्ञान कहलाता है। इसी को ग्रन्थकार ने 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धितज्ञान' कहा है। उपमान की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है–

एक युवक किसी घने जंगल से गुजरते हुए प्रथम बार अन्य ग्राम में जाने की तैयारी कर रहा है, तभी उसकी माता उसे सचेत करते हुए कहती है कि बेटा! उस वन से निकलते हुए 'गवय' (नील गाय) से सावधान होकर जाना। उत्तर में युवक कहता है कि माँ! गवय कैसा होता है मैं तो जानता ही नहीं हूँ, तो फिर उससे सावधान कैसे होऊँगा?

तब उसकी माता उसे समझाते हुए कहती है कि तुमने गाय देखी है? बस गवय भी गाय जैसा ही होता है (यथा गो तथा गवय इति)। माता के वचनों को हृदय में धारण करके जब वह युवक जंगल में जाता है तो उसे गाय के समान ही एक पशु दिखायी देता है। जिसे देखकर माता के वचनों को स्मरण करके वह तत्काल निश्चय कर लेता है यह पशु ही 'गवय' (नील गाय) है। अत: वह उससे बचते हुए सावधानीपूर्वक निकल जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'पशु' संज्ञी तथा 'गवय' संज्ञा है। अत: संज्ञा-संज्ञी-विषयक ज्ञान द्वारा उपमिति रूप ज्ञान की प्रतीति होती है। इसी का करण अर्थात् सहायक अनुमान है। सादृश्य विषयक ज्ञान ही यहाँ करण अर्थात् ज्ञान कराने में सहयोगी है। इस ज्ञान में कहने वाले व्यक्ति का प्रामाणिक होना अत्यावश्यक है, साथ ही यथोचित स्थान पर प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा कहे गए वाक्यार्थ का स्मरण होना भी अनिवार्य है।

(घ) शब्द प्रमाण–आप्त व्यक्तियों के वाक्य ही 'शब्द प्रमाण' की कोटि में आते हैं (आप्तवाक्यं शब्द:) आप्तपुरुष से अभिप्राय यहाँ यथार्थ अर्थात् हमेशा सत्य बोलने वाले व्यक्ति से ग्रहण करना चाहिए (आप्तस्तु यथाऽर्थवक्ता) अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही बताने वाला व्यक्ति यथार्थवक्ता अथवा आप्तपुरुष कहलाएगा। वेद वाक्य भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने गए हैं। अर्थात् उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का वाद-विवाद या तर्क करना उपयुक्त नहीं है। हमेशा सत्य बोलने वाला समाज का कोई भी व्यक्ति आप्तपुरुष हो सकता है। उसके द्वारा कहे गए वाक्य भी शब्दप्रमाण की श्रेणी में माने जाएँगे। वाक्य दो प्रकार के होते हैं–वैदिक और लौकिक। ईश्वरीय वाक्य होने के कारण सभी वैदिक वाक्य आप्त-प्रमाण की कोटि में आते हैं। (परिशिष्ट चित्र-4)

(इ) वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि)–शब्द-प्रमाण की व्याख्या के प्रसङ्ग में वाक्य की परिभाषा (वाक्यं पदसमूहः) देते हुए ग्रन्थकार ने वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु 'आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि' का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। तदनुसार–

(क) आकांक्षा से युक्त पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है। अत: आकांक्षा से रहित वाक्य प्रमाण नहीं होता है। आकांक्षा को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार अन्नंभट्ट कहते हैं कि–"एक पद का अन्य पद के अभाव में अन्वयबोध न करा पाना ही आकांक्षा है।" अत: पदों में परस्पर आकांक्षा के अभाव में पदों का समूह वाक्य नहीं कहलाएगा, जो आप्तपुरुष द्वारा उक्त होने पर भी प्रमाण की कोटि में नहीं आएगा। जैसे-गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति। ये पदों के समूह होने पर भी परस्पर आकांक्षा के अभाव में वाक्य नहीं माने जाएँगे।

(ख) योग्यता से अभिप्राय–अर्थ के बाधारहित प्रतीत होने से है (अर्थाऽबाधो योग्यता) अर्थात् एक पद में दूसरे पद के साथ सम्बन्ध प्राप्त करने वाले अर्थ को प्रकट करने की क्षमता ही योग्यता कहलाती है। इसके अभाव में कोई भी पदों का समूह वाक्य नहीं कहा जाएगा। जैसे-वह्निना सिञ्चति (अग्नि से सींचता है)। यह पदों का समूह होते हुए भी वाक्य की कोटि में नहीं आएगा, वस्तुत: अग्नि में सिञ्चन की योग्यता का अभाव है, क्योंकि आग जला तो सकती है, किन्तु सींच नहीं सकती है।

(ग) सन्निधि–पदों के उच्चारण में समीपता को सन्निधि कहते हैं। इसके अभाव में भी पदों का समूह वाक्यकोटि में नहीं आएगा। इसी का अन्य नाम आसत्ति भी है। यह दो प्रकार की होती है-(क) काल विषयक तथा (ख) स्थान विषयक। जब कोई वक्ता एक पद 'राम' का उच्चारण करने के पश्चात् चुप हो जाता है तथा कुछ समय के बाद 'जाता है' पद का उच्चारण करता है, तो इन पदों के समूह में 'कालविषयक' सन्निधि के अभाव में इन्हें वाक्य नहीं कहा जाएगा।

इसीप्रकार यदि कोई वक्ता 'गाम्' पद का उच्चारण करके किसी अन्य निरर्थक पद का अथवा पादों को कहने के बाद 'आनय' पद का कथन करे तो इस स्थिति में स्थानविषयक सन्निधि के अभाव में यह पदों का समूह वाक्य की श्रेणी में नहीं माना जाएगा। इसलिए पदों के अविलम्ब, बिना किसी व्यवधान के निरन्तर उच्चारण को ही सन्निधियुक्त पदसमूह अर्थात् वाक्य कहा जाएगा।

अत: आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि में से किसी एक वाक्य हेतु के अभाव में

भी पदों का समूह वाक्य कोटि में न आने से वेदवाक्य अथवा आप्तपुरुष के वाक्य होने पर भी शब्दप्रमाण की श्रेणी में नहीं आएँगे। (परिशिष्ट चित्र-5)

(ई) षड्विध सन्निकर्ष–इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, जिसे साक्षात्कार करने वाले ज्ञान का हेतु माना गया है, न्यायवैशेषिकदर्शन में छः प्रकार का माना गया है–संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेष्य-विशेषणभाव। अब हम इनका विस्तारपूर्वक विवेचन कर रहे हैं–

(i) संयोग–जिस समय **चक्षु इन्द्रिय से घट सम्बन्धी ज्ञान** उत्पन्न होता है, उस समय चक्षु नामक इन्द्रिय एवं घट नामक अर्थ का परस्पर 'संयोग' नामक सन्निकर्ष ही होता है।

(ii) संयुक्तसमवाय–इसी प्रकार जब चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा **घट में स्थित रूपादि** गुण का ग्रहण किया जाता है, जो श्याम अथवा रक्त वर्ण आदि के रूप में होता है। तब इन दोनों का 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' ही होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में उसका रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है।

(iii) संयुक्त समवेत समवाय–इसके अतिरिक्त जब **घटरूप में समवेत रूप से विद्यमान रूपत्व आदि** सामान्य जाति आदि का ग्रहण करते हैं तो उसका प्रत्यक्ष 'संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष' द्वारा ही होगा, क्योंकि चक्षु के संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है तथा रूप में रूपत्व जाति भी समवाय अथवा समवेत रूप में स्थित है। इसलिए रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष करने के लिए हमें उक्त 'संयुक्त समवेत समवाय' सन्निकर्ष को ही मानना होगा।

(iv) समवाय–इसी प्रकार श्रोत्र नामक इन्द्रिय द्वारा शब्द को ग्रहण करने में 'समवाय' नामक सन्निकर्ष होता है, क्योंकि श्रोत्र नामक इन्द्रिय और शब्द नामक अर्थ का सम्बन्ध समवाय ही होता है। वस्तुतः कान के छिद्र में स्थित आकाश ही श्रोत्र नामक इन्द्रिय है। अतः श्रोत्र के आकाश रूप होने से तथा शब्द, आकाश का गुण होने के कारण गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय के साथ आकाश के गुण रूप शब्द का गुणगुणिभाव मूलक समवाय सम्बन्ध होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण 'समवाय नामक सन्निकर्ष' द्वारा ही होता है।

(v) समवेतसमवाय–किन्तु जब हम शब्द में स्थित शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष करते हैं तो उस समय 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष की स्थिति बनती है, क्योंकि शब्द में शब्दत्व जाति 'समवाय' सम्बन्ध से विद्यमान रहती है। अतः उसका ग्रहण करने के लिए उक्त 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' को ही मानना होगा।

(vi) विशेष्यविशेषण भाव–जब हम भूतल पर घट के अभाव का प्रत्यक्ष करते हैं तो उसके लिए विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्ध को स्वीकार करना होगा, क्योंकि तब चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण होता है और भूतल विशेष्य होता है। इस प्रकार इन्द्रिय से संबद्ध भूतल घट के अभाव रूप विशेषण वाला होने से इस अभावरूप विशेषता वाला हो जाता है, क्योंकि उस समय घट का अभाव विशेष्य होता है तथा भूतल विशेषण होता है। वस्तुतः घट के अभाव का प्रत्यक्ष हम उक्त पाँच सन्निकर्षों में से किसी के द्वारा भी नहीं कर सकते हैं। अतः किसी भी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए न्यायवैशेषिक शास्त्र में इस 'विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष' को मान्यता प्रदान की गई है। (परिशिष्ट-चित्र-6)

(उ) हेत्वाभास–न्यायवैशेषिकदर्शन में अनुमानप्रमाण की व्याख्या के प्रसङ्ग में पञ्च हेत्वाभासों की भी विस्तार से चर्चा की गई है, क्योंकि हेत्वाभास के अभाव में हेतु का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने इसकी अनुमान परिच्छेद के अन्तर्गत ही इसप्रकार व्याख्या की है–

अनुमिति नामक ज्ञान का मुख्य आधार हेतु होता है। इसमें भी उसके सद् होने से शुद्धज्ञान की प्राप्ति होती है तथा असद् हेतु द्वारा होने वाला अनुमिति ज्ञान अशुद्ध होता है, इसीलिए इन्हें हेत्वाभास की श्रेणी में रखा गया है, क्योंकि यह हेतु न होकर वस्तुतः हेतु के समान आभासित होता है। इसीलिए इसे हेत्वाभास कहा गया है।

व्यवहार की दृष्टि से इसके पाँच भेद माने गए हैं–

1. सव्यभिचार हेत्वाभास
2. विरुद्ध हेत्वाभास
3. सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास
4. असिद्ध हेत्वाभास
5. बाधित हेत्वाभास

अब हम इनका क्रमशः विवेचन कर रहे हैं–

(1) सव्यभिचार हेत्वाभास–अनुमान की सत्यता के लिए आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध हो। इसलिए इसके अभाव में वह हेतु न होकर हेत्वाभास की श्रेणी में आएगा, क्योंकि सव्यभिचार हेतु का साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। यहाँ व्यभिचार से अभिप्राय नियम के उल्लंघन से है। जब हेतु का सम्बन्ध साध्य से होने के साथ-साथ अन्य भिन्न वस्तुओं से भी रहता है, तो यह सव्यभिचार हेत्वाभास कहलाता है।

यह तीन प्रकार का होता है-(क) साधारण, (ख) असाधारण, तथा (ग) अनुपसंहारी।

(क) साधारण–सद्हेतु के अन्तर्गत पक्ष में सत्ता, सपक्ष में सत्ता एवं विपक्ष में व्यावृत्ति अर्थात् अभाव ये तीन रूप होते हैं, किन्तु जब यह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में पाया जाता है तो यह साधारण हेत्वाभास की कोटि में आता है, क्योंकि इसमें विपक्ष-व्यावृत्ति नहीं होती है।

जैसे-पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्। अर्थात् पर्वत अग्नि वाला है ज्ञान का विषय होने से। इस अनुमान वाक्य में प्रमेयत्व हेतु है जो पक्ष-पर्वत, सपक्ष-रसोईघर तथा विपक्ष-जलाशय तीनों में समानरूप से रहता है, क्योंकि जलाशय भी प्रमा अर्थात् ज्ञान का हेतु होता है।

(ख) असाधारण–जहाँ हेतु की स्थिति केवल पक्ष में ही विद्यमान रहती है, वहाँ असाधारण हेत्वाभास (सव्यभिचार) कहलाता है, क्योंकि इस हेतु की सत्ता सपक्ष में भी नहीं रहती है। जैसे-शब्दो नित्य: शब्दत्वात्-अर्थात् शब्द नित्य है शब्दत्व युक्त होने से।

यहाँ शब्द पक्ष में नित्यता को सिद्ध करना है तथा उसके लिए शब्दत्व हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ यह सपक्ष आकाश में न होने के कारण व्यभिचार युक्त है। अत: केवल पक्ष में रहने के कारण असाधारण हेत्वाभास हुआ।

(ग) अनुपसंहारी–जहाँ पक्ष से भिन्न सपक्ष और विपक्ष का उदाहरण ही उपलब्ध नहीं होता है वहाँ यह हेत्वाभास होता है, क्योंकि इस हेतु द्वारा कोई निष्कर्ष (उपसंहार) नहीं निकाला जा सकता है। इसलिए इसे अनुपसंहारी हेत्वाभास की कोटि में रखा गया है।

जैसे-सर्वमनित्यम् प्रमेयत्वात्। यहाँ पक्ष सर्वम् सर्वव्यापक है, अत: सपक्ष और विपक्ष की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: यह सव्यभिचारी अनुपसंहारी हेत्वाभास कहलाएगा।

(2) विरुद्ध हेत्वाभास–जब हेतु साध्य को सिद्ध न करके साध्य के अभाव को ही सिद्ध करता है, तो वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास माना जाएगा। अत: साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास की कोटि में आता है।

जैसे-शब्दो नित्य: कृतकत्वात्-अर्थात् शब्द नित्य है कार्य होने से। इस वाक्य में नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व हेतु रूप में प्रयुक्त हुआ है, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि जो कार्य (कृतक) होता है, वह अनित्य होता है। अत: यहाँ प्रयुक्त

कृतकत्व हेतु साध्य के अभाव से ही व्याप्त है तथा उसको विपरीत अर्थात् अनित्य सिद्ध कर रहा है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास कहलाएगा।

(3) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास–इसी को कुछ स्थलों पर प्रकरणसम भी कहा गया है। इसकी स्थिति वहाँ होती है जहाँ साध्य के विपरीत को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। अर्थात् एक हेतु के विरोधी दूसरे हेतु की उपस्थिति ही सत्प्रतिपक्ष है। इसके परिणामस्वरूप पूर्व में प्रस्तुत हेतु द्वारा सिद्ध वाक्य का स्वतः ही खण्डन हो जाता है। जैसे–

शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दवत्।
शब्दो अनित्यः कार्यत्वात् घटवत्।।

अर्थात् शब्द नित्य है श्रवण का विषय होने से शब्द के समान तथा शब्द अनित्य है कार्य होने से, घट के समान।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में पक्ष शब्द ही है तथा पहले वाक्य में नित्यता साध्य है, जबकि दूसरे में अनित्यता। इसके अतिरिक्त पहले वाक्य में हेतुरूप में श्रवणेन्द्रिय का विषय होना (श्रवणेन्द्रिय ग्राह्यता) दिया गया है तथा दूसरे में उसका कार्य होना। ये दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, क्योंकि एक नित्यता को सिद्ध कर रहा है तथा दूसरा उसकी अनित्यता को। इसलिए पहले और दूसरे दोनों ही वाक्यों में दिए गए हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होंगे।

(4) असिद्ध हेत्वाभास–जो हेतु अनुमान के साधन रूप में ही निश्चित न हो, असिद्ध हेत्वाभास की श्रेणी में आता है। तर्कसंग्रहकार ने इसके तीन भेद किए हैं–

(क) आश्रय-असिद्ध हेत्वाभास–जिस हेतु का आश्रय ही प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो सके, आश्रय असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-गगनारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात्। अर्थात् आकाशकमल सुरभियुक्त है, कमल होने से। यहाँ गगन-कमल में सुरभि सिद्ध करना साध्य है, जो वस्तुतः होता ही नहीं है। अतः हेतु अरविन्दत्वात् का आश्रय ही असिद्ध है। इसलिए आश्रय असिद्ध हेत्वाभास हुआ।

(ख) स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास–जो हेतु अपने स्वरूप से अपने पक्ष में स्थित ही नहीं रह सकता है, वह स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास कहलाएगा। जैसे-शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात् अर्थात् शब्द गुण है, दिखायी पड़ने के कारण। इस वाक्य में शब्द पक्ष है तथा गुण साध्य है। जिसके लिए चाक्षुषत्व को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया

है। जबकि शब्द को हम नेत्र द्वारा नहीं देख सकते हैं। अतः उसमें चाक्षुषत्व होता ही नहीं है, क्योंकि उसका तो हम श्रोत्र द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। अतः यह हेतु स्वरूप से ही असिद्ध होने से हेत्वाभास की कोटि में आएगा।

(ग) व्याप्यत्व-असिद्ध हेत्वाभास–वह हेतु जिसका साध्य के साथ व्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं होता या फिर जिसका साध्य के साथ सम्बन्ध किसी उपाधि (कारण) पर निर्भर करता है। साध्य के साथ व्याप्त न होने के कारण ही इसे व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास कहा गया है।

जैसे–पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् अर्थात् यह पर्वत धुएँ वाला है अग्नि वाला होने के कारण। इस अनुमान वाक्य में पर्वत पक्ष है, धूम साध्य है तथा अग्नि को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ साध्य धूम एवं हेतु के व्याप्ति सम्बन्ध को निर्बाध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तपे हुए लोहे के पिण्ड में आग तो रहती है, किन्तु धुआँ नहीं रहता है।

जबकि इस व्याप्ति सम्बन्ध में गीला ईंधन संयोगरूप उपाधि के आने पर यह वाक्य इसप्रकार बन सकता है-यत्र-यत्र आर्द्रेधनसंयोगः अग्निः तत्र तत्र धूमः यथा महानसे। यहाँ गीले ईंधन का संयोग उपाधि माना जाएगा। अतः हेतु वह्निमत्व को व्याप्ति असिद्ध होने के कारण व्याप्यत्व-असिद्ध-हेत्वाभास कहलाएगा, क्योंकि उपाधिग्रस्त सम्बन्ध न तो नियत कहा जा सकता है और न ही अव्यभिचारयुक्त ही होता है।

(5) बाधित हेत्वाभास–न्याय ग्रन्थों में इसे कालात्ययापदिष्ट नाम भी दिया गया है। यहाँ बाधित से अभिप्राय है-निषिद्ध-अर्थात् जिसका साध्य ही अन्य किसी प्रमाण द्वारा रोक दिया गया हो, बाधित हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होगा।

अथवा इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जिस हेतु के साध्य का अन्य किसी प्रबल प्रमाण से बाध (निषेध) कर दिया जाए, वही बाधित हेत्वाभास होता है।

जैसे–वह्निः अनुष्णो द्रव्यत्वात्-अर्थात् अग्नि शीतल होती है, द्रव्यत्व युक्त होने के कारण।

यहाँ अग्नि में शीतलता सिद्ध करने के लिए उसका द्रव्य में परिगणित होना हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः अग्नि में अनुष्णत्व (उष्णता का अभाव) साध्य हुआ, किन्तु स्पर्शरूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका बाध हो जाता है, क्योंकि छूने पर हमें अग्नि शीतल न होकर उष्ण प्रतीत होती है।

है। जबकि शब्द को हम नेत्र द्वारा नहीं देख सकते हैं। अतः उसमें चाक्षुषत्व होता ही नहीं है, क्योंकि उसका तो हम श्रोत्र द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। अतः यह हेतु स्वरूप से ही असिद्ध होने से हेत्वाभास की कोटि में आएगा।

(ग) व्याप्यत्व-असिद्ध हेत्वाभास–वह हेतु जिसका साध्य के साथ व्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं होता या फिर जिसका साध्य के साथ सम्बन्ध किसी उपाधि (कारण) पर निर्भर करता है। साध्य के साथ व्याप्त न होने के कारण ही इसे व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास कहा गया है।

जैसे–पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् अर्थात् यह पर्वत धुएँ वाला है अग्नि वाला होने के कारण। इस अनुमान वाक्य में पर्वत पक्ष है, धूम साध्य है तथा अग्नि को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ साध्य धूम एवं हेतु के व्याप्ति सम्बन्ध को निर्बाध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तपे हुए लोहे के पिण्ड में आग तो रहती है, किन्तु धुआँ नहीं रहता है।

जबकि इस व्याप्ति सम्बन्ध में गीला ईंधन संयोगरूप उपाधि के आने पर यह वाक्य इसप्रकार बन सकता है–यत्र-यत्र आर्द्रेंधनसंयोगः अग्निः तत्र तत्र धूमः यथा महानसे। यहाँ गीले ईंधन का संयोग उपाधि माना जाएगा। अतः हेतु वह्निमत्व की व्याप्ति असिद्ध होने के कारण व्याप्यत्व-असिद्ध-हेत्वाभास कहलाएगा, क्योंकि उपाधिग्रस्त सम्बन्ध न तो नियत कहा जा सकता है और न हीं अव्यभिचारयुक्त ही होता है।

(5) बाधित हेत्वाभास–न्याय ग्रन्थों में इसे कालात्ययापदिष्ट नाम भी दिया गया है। यहाँ बाधित से अभिप्राय है–निषिद्ध-अर्थात् जिसका साध्य ही अन्य किसी प्रमाण द्वारा रोक दिया गया हो, बाधित हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होगा।

अथवा इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जिस हेतु के साध्य का अन्य किसी प्रबल प्रमाण से बाध (निषेध) कर दिया जाए, वही बाधित हेत्वाभास होता है।

जैसे–वह्निः अनुष्णो द्रव्यत्वात्-अर्थात् अग्नि शीतल होती है, द्रव्यत्व युक्त होने के कारण।

यहाँ अग्नि में शीतलता सिद्ध करने के लिए उसका द्रव्य में परिगणित होना हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः अग्नि में अनुष्णत्व (उष्णता का अभाव) साध्य हुआ, किन्तु स्पर्शरूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका बाध हो जाता है, क्योंकि छूने पर हमें अग्नि शीतल न होकर उष्ण प्रतीत होती है।

इसलिए यहाँ अग्नि की अनुष्णता सिद्ध करने के लिए जो द्रव्यत्व हेतु दिया गया है, वह स्पर्श से सम्बन्धित प्रत्यक्ष द्वारा ही बाधित हो जाता है। अतः उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार यह बाधित हेत्वाभास की कोटि में आएगा। (परिशिष्ट-चित्र 7)

(ऊ) आत्मा–आचार्य अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण बताते हुए इसके जीवात्मा और परमात्मा दो भेदों का उल्लेख किया है। इनमें भी परमात्मा को सर्वज्ञ एवं एक माना है, जबकि जीवात्मा विभु, नित्य एवं प्रत्येक सांसारिक प्राणी में अलग-अलग होता है।

परमात्मा और जीवात्मा के विषय में न्यायवैशेषिकदर्शन में पर्याप्त चिन्तन किया गया है। तदनुसार–"यहाँ परमात्मा को स्रष्टा, तो जीवात्मा को इसके हाथ का खिलौना कहा गया है। इनमें एक सुख-दुःख से रहित है, तो दूसरा सुख एवं दुःख दोनों को ही अनुभव करता है। ज्ञान की स्थिति भी यहाँ परमात्मा में नित्य और जीवात्मा में अनित्य रूप से मानी गई है। इसीलिए यहाँ आत्मा को ज्ञान का अधिकरण बताया है, ज्ञान स्वरूप नहीं।"

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन की आरम्भिक स्थिति में कणाद का आत्मा से अभिप्राय केवल जीवात्मा से ही था, क्योंकि वहाँ परमात्मा को मान्यता प्रदान नहीं की गई थी। जबकि बाद में टीकाकारों ने आत्मा के साथ परमात्मा का अलग से उल्लेख किया। महर्षि कणाद अथवा गौतम ने कहीं भी 'परमात्मा' का शब्दशः कथन नहीं किया है। यही कारण है कि मूलरूप से न्याय एवं वैशेषिकदर्शनों को नास्तिक की संज्ञा प्रदान की गई।

इसके अतिरिक्त आचार्य प्रशस्तपाद ने भी 'परमात्मा' के नाम का उल्लेख नहीं किया, जबकि उनके टीकाकार आचार्य श्रीधर ने न्यायकंदली टीका में जीवात्मा और परमात्मा का भिन्नरूप से कथन करते हुए जीवात्मा के चौदह और परमात्मा के छः गुणों का उल्लेख किया है। यहाँ प्रायः आत्मा से अभिप्राय जीवात्मा से ही रहा है, जो प्रत्येक शरीर में अलग-अलग विद्यमान है।

महर्षि कणाद ने आत्मा की अनेकता में 'व्यवस्था' को महत्त्वपूर्ण कारण माना है। तदनुसार–" आत्मा एक नहीं अनेक हैं, क्योंकि एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है। यद्यपि बचपन, जवानी और बुढ़ापा इत्यादि अवस्थाओं के कारण शरीर भिन्न सा प्रतीत होता है तथापि इसमें एक ही आत्मा की स्थिति विद्यमान है। यह अवस्था भेद वस्तुतः बाह्य शरीर के ही हैं।"

आत्मा शरीर और इन्द्रिय दोनों से सर्वथा भिन्न नित्य द्रव्य है, क्योंकि यह चैतन्य का आधार एवं गुणों का आश्रय है।[1] इसमें बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इत्यादि चौदह गुणों की स्थिति मानी गयी है। इनमें से प्रथम आठ गुण अन्य द्रव्य पदार्थों में प्राप्त न होने के कारण, इसके विशेष गुण कहे गए हैं। अमूर्त होने के कारण आत्मा भी अनुमेय है।

परमात्मा को ही यहाँ ईश्वर संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसे सम्पूर्ण संसार का नियन्ता एवं प्राणियों द्वारा किए गए कर्मों के फलों को प्रदान करने वाला बताया है। परमात्मा ही वस्तुत: नित्य ज्ञान का आधार है। इसके विपरीत जीवात्मा में अनित्य ज्ञान की स्थिति मानी गई है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य परमात्मा में ही रहते हैं, आत्मा में नहीं। परमात्मा की नित्य मुक्त सत्ता है, जबकि आत्मा बद्ध और मुक्त दोनों होते हैं।

यहाँ ईश्वर को अनुमान का विषय कहा गया है, क्योंकि हम उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते है। जिसप्रकार घटरूप कार्य को देखकर हम कुम्हार रूप कर्ता का अनुमान कर लेते हैं। ठीक उसीप्रकार सम्पूर्ण विश्वरूप कार्य को देखकर इसके कर्ता परमात्मा या ईश्वर का हम अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण (कर्ता) अवश्य होता है और वह कर्ता कोई चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं। इसलिए विश्वरूप कार्य का चेतन परमात्मा ही कर्त्ता है। उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सिद्धि हेतु अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं।[2]

(ए) परमाणुवाद का सिद्धान्त–पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्य पदार्थों के नित्य परमाणु वैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण परमाणुवाद के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं, क्योंकि यह दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति में इन चार द्रव्यों के परमाणुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करता है, जो मूलत: निरवयव और निष्क्रिय हैं।

ग्रन्थकार ने दीपिका टीका में प्रत्येक दृश्य पदार्थ को अवयवी मानते हुए उनमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीन आयामों को मान्यता प्रदान की। उनके अनुसार यदि अवयवों को निरन्तर विच्छेदित किया जाए तो एक स्थिति में हम उसके टुकड़े करने में अपने को पूर्णतया असमर्थ पाएँगे।[3] यही स्थिति वस्तुत: न्यायवैशेषिकदर्शन

---

1. गुणाश्रयो द्रव्यम्।
2. न्याय कुसुमाञ्जलि, स्तबक 5, कारिका-1
3. परं वा त्रुटे: (गौतम)।

में परमाणु की भी है तथा इस सम्बन्ध में स्थापित सिद्धान्त परमाणुवाद की श्रेणी में आएगा, क्योंकि यहाँ यही परमाणु 'परमाणुवाद सिद्धान्त' का आधार रहा है।

वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि–"दो परमाणुओं के मिलने पर एक द्व्यणुक निर्मित होता है तथा तीन द्व्यणुओं के संयोग से एक त्र्यणुक अस्तित्व में आता है, इसी को त्रसरेणु भी कहते हैं। इसीप्रकार इस सृष्टि का निर्माण होता है। पृथिवी, जल, तेज और वायु का निर्माण चतुरणुक के परस्पर मिलने के परिणामस्वरूप हुआ है, क्योंकि चार त्र्यणुकों के जुड़ने पर चतुरणुक का निर्माण होता है।"

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब वैशेषिकदर्शन की दृष्टि में परमाणु निरवयव और निष्क्रिय हैं तो फिर इनमें संयोग कैसे सम्भव होता है? इसके समाधान हेतु यहाँ 'अदृष्ट' नामक तत्त्व की परिकल्पना की गयी है, जिसे अन्य नाम 'ईश्वर' भी दिया गया। दीपिकाकार का मत इस सम्बन्ध में विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जहाँ उन्होंने ईश्वर की इच्छा को ही स्पष्टरूप से परमाणुओं में क्रिया का महत्त्वपूर्ण हेतु स्वीकार किया है–

ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते।

यद्यपि आज विज्ञान ने परमाणु के भी खंड करने में सफलता प्राप्त कर ली है, जिसे हम न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन, प्रोटेन कहते हैं, किन्तु इस विषय में एक तथ्य विचारणीय है कि परमाणु की परिभाषा के अनुसार वह अखण्डित है तो फिर हम इस अखण्डनीय इलैक्ट्रॉनादि को ही क्यों न परमाणु मान लें, क्योंकि महर्षि गौतमादि अनेक आचार्यों ने किसी सूक्ष्मतम तत्त्व विशेष को परमाणु संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु टूटने की अंतिम अवस्था को परमाणु कहा है।

इस दृष्टि से यदि अब कभी इलेक्ट्रॉनादि के भी टुकड़े हो सकेंगे, तो वे अंतिम खण्ड ही परमाणु संज्ञा से अभिहित होंगे। 'परमाणु' शब्द भी स्वयं में इसी तथ्य को संजोए हुए है। वस्तुत: यह सब प्राचीन स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। जहाँ वस्तु की सूक्ष्मता को समझाने के लिए कहा गया है कि वातायन से आने वाले धूम में दिखाई देने वाले सूक्ष्मतम कण को त्रसरेणु माना जाता है तथा उसका भी छठा भाग परमाणु होता है।[1] आवश्यकता यहाँ अभिप्राय को ग्रहण करने की है।

यदि हम इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करें तो इसके बीज हमें

---

1. जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रज:।
   तस्य षष्ठतमो भाग: परमाणु स उच्यते।।

उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। यद्यपि कुछ विद्वान् वैशेषिकदर्शन के परमाणुवाद को ग्रीक परमाणुवाद से प्रभावित मानते हैं।[1] उनके मत में–"वैशेषिक का परमाणुवाद ग्रीक परमाणुवाद का ही अनुकरण और अनुसरण है।"

किन्तु डॉ० ऊई एवं प्रो० वाशम आदि विद्वानों ने इस मान्यता का प्रबलरूप से खण्डन किया है। उनका मानना है कि ककुद कात्यायन नामक विद्वान् जो वस्तुत: भगवान् बुद्ध के समकालीन हैं, ने भी परमाणुवाद के सङ्केत दिए हैं। अत: वैशेषिक परमाणुवाद को ग्रीक परमाणुवाद से प्रभावित कहा जाना उचित नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से ग्रीक विद्वान् डिमोक्रिट्स का ककुद कात्यायन से परवर्ती होना सिद्ध होता है।

हाँ, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि वैशेषिक परमाणुवाद अनेक दृष्टियों से ग्रीक परमाणुवाद से साम्य रखता है, क्योंकि आधुनिक युग में प्रसिद्ध डाल्टन का परमाणुवाद कणाद के परमाणुवाद के सिद्धान्त से पर्याप्त मेल खाता है तथापि ग्रीक दार्शनिकों का परमाणुवाद भारतीय परमाणुवाद से कुछ भिन्नता भी रखता है। जैसे–

(i) डेमोक्रिट्स और ल्यूकिप्यस इत्यादि ग्रीक दार्शनिक परमाणुओं को गुणरहित मानते हैं, जबकि महर्षि कणाद परमाणुओं को गुणयुक्त स्वीकार करते हैं।

(ii) ऐपीक्यूरस नामक ग्रीक विद्वान् सूक्ष्म परमाणु को 'एटम' संज्ञा प्रदान करते हुए इसे क्रियाशील मानते हैं, जबकि कणाद परमाणु को निष्क्रिय मानते हुए उनमें क्रियाशीलता का कारण जीवों के धर्म-अधर्म अर्थात् अदृष्ट को स्वीकार करते हैं।

(iii) डेमाक्रिट्स और ल्यूकिप्यस ये दोनों ही विद्वान् मन एवं आत्मा की निर्मिति में परमाणुओं को कारण मानते हैं, जबकि कणाद की मान्यता है कि आत्मा परमाणुओं से सर्वथा पृथक् है।

(iv) महर्षि कणाद ने आत्मा को चेतन और अभौतिक तत्त्व माना, क्योंकि इसकी चेतनता ही इसे अचेतन एवं भौतिक परमाणु से भिन्न करती है। अत: अचेतन और भौतिक परमाणुओं द्वारा चेतन और अभौतिक आत्मा का निर्माण असम्भव है।

(v) इस दृष्टि से ग्रीक मान्यता भौतिकवाद की पोषक है, जबकि भारतीय वैशेषिक मान्यता को आध्यात्मवाद पर आधारित कहा जा सकता है। इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि नव्य नैयायिक ईश्वर को परमाणुओं में क्रिया को उत्पन्न करने वाला स्वीकार करते हैं।

---

1. इण्डियन लॉजिक एण्ड एटमिज्म, डॉ० ए०बी० कीथ, पृ० 17-18

इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत जैनदर्शन में भी परमाणुवाद का उल्लेख हुआ है। तदनुसार अच्छेद्य, अग्राह्य, अभेद्य, अदाह्य तथा अविभाज्य निरवयवो पुद्गल नामक तत्त्व ही वस्तुत: परमाणु है। यही 'स्कन्ध' नामक तत्त्व की एक इकाई कहा जा सकता है, क्योंकि दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक, तीन से एक त्र्यणुक, चार से चतुरणुक, पाँच से पञ्चाणु तथा छ: से षष्ठक स्कन्धों की सृष्टि होती है। उसके बाद ही महास्कन्ध अस्तित्व में आता है। इस दृष्टि से यहाँ भी परमाणु को ही सृष्टि का आरंभिक तत्त्व माना गया है तथा विवेचन में भी पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है।

(ऐ) सृष्टि-प्रलय-निरूपण—यद्यपि प्रशस्तपादभाष्य में वैशेषिकदर्शन सम्मत सृष्टि-प्रक्रिया का सर्वप्रथम विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है तथापि यहाँ हम विवेच्य ग्रन्थकार द्वारा दीपिका टीका में वर्णित सृष्टि एवं प्रलय सिद्धान्त का निरूपण कर रहे हैं। तदनुसार–

"इस सृष्टि का निर्माण पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्य पदार्थों के परमाणुओं द्वारा हुआ है। यद्यपि इन द्रव्यों के सभी परमाणु मूलरूप से निष्क्रिय हैं तथा अपनी स्वाभाविक अवस्था में शान्त एवं नि:स्पन्दरूप से रहते हैं तथापि अदृष्ट (अथवा ईश्वर की इच्छा से)[1] के कारण इन परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उसके बाद ही दो परमाणुओं के एक साथ मिलने पर 'द्व्यणु' की सृष्टि होती है तथा तीन द्व्यणुकों के मिलने पर त्रसरेणु या त्र्यणुक बनता है, जबकि चार त्रसरेणु के संयुक्त होने पर चतुरणु उत्पन्न होता है तथा इन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज एवं आकाश की निर्मिति होती है। प्रत्येक द्रव्य पदार्थ की सृष्टि में इसी क्रम का अनुकरण किया गया है।"

इस प्रसङ्ग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन पृथिवी, जल, तेज और वायु के नित्य और अनित्य दो स्वरूप मानकर इनके परमाणुरूप को नित्य और कार्यरूप को अनित्य मानता है। इसलिए पृथिवी, जल, तेज और वायु के नित्य स्वरूप परमाणुओं द्वारा ही सृष्टि के निर्माण का कथन किया गया है, जबकि इन सबके अतिरिक्त आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन इत्यादि पाँच नित्य द्रव्यपदार्थों की सृष्टि अथवा विनाश को स्वीकार नहीं करता है। इस दृष्टि से यहाँ सृष्टिक्रम में नित्य-अनित्य उभयरूप द्रव्य पदार्थों की ही चर्चा की गई है, केवल नित्य पदार्थों की नहीं।

वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि जहाँ हम परमाणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर

1. नव्य नैयायिकों के अनुसार।

पाते हैं। अणु परिमाण विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्व्यणुक भी अणु परिमाण वाला ही होता है, किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्व्यणुओं के संयोग से उत्पन्न त्रसरेणु एवं इससे आगे उत्पन्न होने वाले सभी कार्य द्रव्य महत्परिमाण वाला होने से उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव है। अत: इस दृष्टि से परमाणु और द्व्यणु को यहाँ अतीन्द्रिय माना गया है।

न्याय के समान वैशेषिकदर्शन भी परमाणु को सृष्टि का उपादान कारण, उनके परस्पर संयोग को असमवायिकारण तथा ईश्वरेच्छा एवं जीवों के अदृष्ट को निमित्त कारण मानता है।

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि प्राचीन वैशेषिकदर्शन स्वभावत: शान्त अवस्था में नि:स्पन्द परमाणु में स्पन्द, गति या क्रिया का कारण प्राणियों के धर्माधर्म रूप अदृष्ट को मानते हैं। अदृष्ट को स्पष्ट करते हुए स्वयं वैशेषिकसूत्रकार कहते हैं–"अयस्कान्तमणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना[1], अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन और परमाणुओं की प्रथम गति अर्थात् स्पन्दनक्रिया इसी अदृष्ट के कारण होती है।"

किन्तु अर्वाचीन आचार्यों ने परमाणु–स्पन्दन एवं उससे होने वाली सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर की इच्छा को परम महत्त्व प्रदान करते हुए अदृष्ट की इसमें मात्र सहकारिता को स्वीकार किया है।[2] इनका मानना है कि जब प्राणियों के कर्म, फलोन्मुख होते हैं, तो अदृष्ट अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा द्वारा आत्मा और परमाणुओं का संयोग होता है तथा इसी के कारण परमाणुओं में कर्म (गति, स्पन्दन, क्रिया) की उत्पत्ति होती है, जिससे सृष्टि का आविर्भाव होता है।

जहाँ तक सृष्टि के प्रलय का प्रश्न है। इस विषय में हमें यहाँ दो मत देखने को मिलते हैं। इनमें प्राचीन मान्यता के अनुसार उत्पन्न हुए द्व्यणु, त्रसरेणु और चतुरणुक इत्यादि कार्य द्रव्यों के विनाश की अदृष्टीय भावना से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, जिससे सर्वप्रथम द्व्यणुक विनष्ट होता है। तत्पश्चात् द्व्यणुकों में क्रिया से त्र्यणुक नष्ट होता है। अत: विनाश की प्रक्रिया की इस निरन्तरता से अपने कारण के नाश से सभी कार्य द्रव्यों के नाश के सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण दृश्यमान संसार का विनाश हो जाता है। जिसे 'प्रलय' कहा जाता है, किन्तु प्रलय की इस अवस्था में भी परमाणु अपने निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहते हैं।

1. (क) मणिगमनसूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्। वैशेषिक सूत्र–5/1/15
   (ख) वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। वैशेषिकसूत्र–5/2/7
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 20; न्यायकन्दली, पृ० 52–93

अर्वाचीन मत के अनुसार–सृष्टि का संहार करने की महेश्वर की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्ट की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप 'प्रलय' होती है। इस क्रम में दीपिकाकार ने प्राचीन नैयायिक मान्यता का अनुकरण करते हुए दो परमाणुओं के संयोग के नाश से द्व्यणुक के नाश की बात का तथा समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक के विनाश का प्रतिपादन किया है, जबकि नव्य नैयायिक सभी जगह असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य के नाश को मानते हैं।[1]

दूसरे शब्दों में प्राचीन नैयायिक यद्यपि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर मानते हुए भी द्व्यणुक को उसका अपवाद मानते हैं, क्योंकि परमाणु के नित्य होने के कारण द्व्यणुक का विनाश उसके अधीन नहीं है, किन्तु द्व्यणुकों का विनाश परमाणुओं के परस्पर संयोग के विनाश के परिणामस्वरूप होता है।

इसके विपरीत नव्यनैयायिकों का मानना है कि विनाश के क्रम में कारण पदार्थों का नाश न मानकर कारण पदार्थों के संयोग के नाश को ही सर्वत्र नाश का कारण मानना उचित है, क्योंकि कार्य का असमवायिकारण रूप संयोग ही नष्ट होता है, पदार्थ का समवायी कारण परमाणु नहीं।

यहाँ हमें प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि समीचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वे कार्य के विनाश से पूर्व उनके अंशों की बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि विनाश की प्रक्रिया में जब परमाणु अलग होते हैं तो द्व्यणुकों का नाश होता है और इसी प्रकार द्व्यणुकों के नष्ट होने पर त्रसरेणुओं का। इसप्रकार अन्तिम कार्य को अन्त में विनष्ट होने वाला कहते हैं, जबकि उत्पत्ति उसकी सबसे अन्त में होती है। पुनरपि यहाँ विनाश (प्रलय) की अवस्था में भी परमाणु एवं अन्य नित्य पदार्थों की स्थिति को स्वीकार किया गया है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धान्त ठीक वैसा ही अव्यावहारिक प्रतीत होता है, जैसे–कोई मकान निर्माण के क्रम में नींव, दीवार और छत के बनने के बाद उसके विनाश क्रम में सर्वप्रथम नींव विनाश की बात कहे, क्योंकि यहाँ निर्माण क्रम में अन्त में बनने वाली छत का गिराना विनाश क्रम में सबसे पहले आएगा। उसके बाद ही दीवार और नींवादि का विनाश होगा।

वेदान्त[2], सांख्यादि प्रायः सभी दर्शनों ने उत्पत्ति क्रम से उल्टे क्रम को ही

1. असमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकनाशः। समवायिकारणनाशात् त्र्यणुकनाश इति सम्प्रदायः। सर्वत्र असमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशः, इति नवीनाः। –दीपिका टीका, पृ० 35
2. (क) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य–2/3/14
   (ख) सांख्यकारिका, व्याख्याकार–डॉ० राकेश शास्त्री, द्रष्टव्य–भूमिका।

विनाश का क्रम माना है अर्थात् वहाँ प्रलयकाल में अन्तिम कार्य के विनाश की बात सर्वप्रथम कही गयी है। उसके बाद ही हम क्रमश: अन्तिम मूल कारण तक पहुँचते हैं। डॉ० दयानन्द भार्गव ने भी इस दृष्टि से प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि को असंगत बताया है।[1] इस दृष्टि से नव्य नैयायिकों का मत उचित कहा जा सकता है।

अन्नंभट्ट ने दीपिका टीका में अवान्तर प्रलय और महाप्रलय दो प्रकार की प्रलय का कथन किया है। संसार के दृश्यमान सभी पदार्थों का नाश 'अवान्तर प्रलय' कहलाता है, जिसे 'खण्डप्रलय' भी कहा गया है। इस स्थिति में परमाणु अपने गुण सहित निष्क्रिय अथवा प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि इन्हीं परमाणुओं द्वारा अदृष्ट अथवा ईश्वरेच्छा से सृष्टि का पुन: निर्माण होता है। महाप्रलय की स्थिति में निष्क्रय होने के साथ-साथ वे जन्यगुण रहित हो जाते हैं, क्योंकि इसके बाद सृष्टि होना सम्भव नहीं होता है।

• • •

---

1. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 40

।। श्रीः ।।

तर्कसंग्रहः

('तर्कदीपिका', संस्कृत तथा 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या सहित)

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः।।

तर्कदीपिका

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरां गुरुम्।
टीकां शिशुहितां कुर्वे तर्कसङ्ग्रहदीपिकाम्।।

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमितश्रुति-बोधितकर्तव्यताकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नंश्चिकीर्षितं ग्रन्थादौ प्रतिजानीते–निधायेति।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति, मङ्गले कृतेऽपि कादम्बर्यादौ निर्विघ्नपरिसमाप्त्यदर्शनात्, मङ्गलाभावेऽपि किरणावल्यादौ समाप्तिदर्शनाच्च अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेन्न, कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात्समाप्त्यभावः। किरणावल्यादौ तु ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः।

ननु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेन्न, शिष्टाचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। तथाहि–मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वाद् दर्शादिवत्। भोजनादौ व्यभिचारवारणायालौकिकेति। रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवारणाय अविगीतेति। शिष्टपदं स्पष्टार्थम्। 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वादिति।

तर्कसङ्ग्रह इति। तर्क्यन्ते=प्रतिपाद्यन्त इति तर्काः=द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां सङ्ग्रहः=सङ्क्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियत इत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनायेत्यत

आह-सुखबोधायेति। सुखेनानायासेन बोधः=पदार्थज्ञानं तस्मै इत्यर्थः। ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमपूर्वोऽयं ग्रन्थः क्रियत? इत्यत आह-बालानामिति। तेषामतिविस्तृतत्वाद् बालानां बोधो न भवतीत्यर्थः। ग्रहणधारणपटुर्बालः, न तु स्तनन्धयः। किं कृत्वा क्रियत? इत्यत आह-निधायेति। विश्वेशं=जगन्नियन्तारं शिवं, हृदि निधाय=नितरां स्थापयित्वा, सर्वदा तद्ध्यानपरो भूत्वेत्यर्थः। गुरूणां=विद्यागुरूणां वन्दनं=नमस्कारं विधाय=कृत्वेत्यर्थः।

शिवासहायं शिवदं वरेण्यं वरप्रदं भूतिविभूषिताङ्गम्।
भवार्तिनाशप्रभवं त्रिनेत्रं पञ्चाननं शङ्करमानतोऽस्मि।।

अन्वय–विश्वेशम् हृदि निधाय गुरुवन्दनम् विधाय (च) बालानाम् सुखबोधाय तर्कसङ्ग्रहः क्रियते।

अनुवाद–सम्पूर्ण संसार के स्वामी (परमपिता परमात्मा को) हृदय में रखकर (एवं) गुरु की वन्दना करके, (न्यायवैशेषिक शास्त्र में) बालबुद्धि लोगों के सुखपूर्वक ज्ञान हेतु (अब) तर्कसङ्ग्रह की रचना की जा रही है।

चन्द्रिका–ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार भारतीय परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं कि–इस सम्पूर्ण संसार के स्वामी परमपिता परमेश्वर को अपने हृदय में रखकर, उनका प्रतिक्षण चिन्तन करते हुए जिस गुरु से ज्ञान की प्राप्ति हुई है, उस परमपूजनीय प्रातःस्मरणीय गुरु की चरण वन्दना करके मैं अन्नंभट्ट वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों को अत्यन्त सुगम रीति से समझाने के लिए तर्कसङ्ग्रह नामक ग्रन्थ की संरचना करने जा रहा हूँ।

क्योंकि इस शास्त्र का ज्ञान मुझे गुरुजनों के श्रीचरणों में बैठकर ही प्राप्त हुआ है। अतः विषय पर लेखनी चलाने से पूर्व गुरुवन्दन करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। साथ ही जिस परमपिता परमेश्वर ने इस सम्पूर्ण सृष्टि के साथ-साथ मेरे इस शरीर का भी निर्माण किया है, ऐसे सम्पूर्ण विश्व के स्वामी उस परमात्मा की छवि को हृदय में धारण करके उन बालकों अथवा बालबुद्धि व्यक्तियों को सरलतापूर्वक इस शास्त्र का ज्ञान कराने के लिए मैं तर्कसंग्रह ग्रन्थ की रचना करने जा रहा हूँ। परमपिता परमेश्वर एवं श्री गुरु चरणों का आशीर्वाद मुझे इस कार्य में सफलता प्रदान करे।

विशेष–(i) विश्वेश से अभिप्राय यहाँ भगवान् विष्णु अथवा परमब्रह्म से भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि सभी देवताओं में इन्हीं को प्रायः जगदीश कहा गया है।

(ii) ग्रन्थकार का परमात्मा एवं गुरु के प्रति विनम्रतातिशय अभिव्यञ्जित हो रहा है।

(iii) ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भारतीय परम्परा का निर्वहण करते हुए आचार्य अन्नंभट्ट ने वैशेषिकदर्शन के प्रकरणग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया है।

(iv) यहाँ प्रयुक्त बाल शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं। प्रथम, उन बालकों के लिए इस ग्रन्थ की रचना की जा रही है, जिन्होंने अभी न्यायशास्त्र में प्रवेश ही किया है अथवा प्रवेश करना चाहते हैं। द्वितीय, इस ग्रन्थ का लेखन उन बालबुद्धि जिज्ञासुओं के लिए किया जा रहा है, जो न्यायवैशेषिक शास्त्र के विषय में कुछ नहीं जानते हैं, किन्तु जानने की प्रबल इच्छा रखते हैं।

(v) साथ ही इस ग्रन्थ के अध्ययन करने का अधिकार बालकों के समान सरल स्वभाव के लोगों को ही है, कुटिल लोगों को नहीं, यह अभिव्यञ्जना भी हो रही है।

(vi) इसप्रकार यहाँ 'बाल' शब्द सरलता, निष्कपटता का भी सूचक प्रतीत होता है। कुछ टीकाकारों ने 'बाल' शब्द का अर्थ न्यायशास्त्र के ज्ञान से रहित लोगों से ही ग्रहण किया है–"अत्राऽधीतव्याकरणकाव्यकोशोऽनधीतन्यायशास्त्रः" (पदकृत्य टीका)।

(vii) प्रस्तुत मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने 'सुखबोधाय' का कथन करके ग्रन्थ के प्रयोजन का भी उल्लेख किया है, क्योंकि इस ग्रन्थ के लेखन का प्रयोजन न्यायशास्त्र को सुगम रीति से समझाना है।

(viii) टीकाकारों ने 'तर्कसङ्ग्रह' पद की व्युत्पत्ति इसप्रकार की है–"तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः, द्रव्यादि सप्तपदार्थाः तेषां संग्रहः, इति।"

(ix) यहाँ प्रयुक्त 'सङ्ग्रह' के विद्वानों ने अनेक अर्थ किए हैं। यथा–सङ्कलन, संक्षेप तथा उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा। इसप्रकार तर्कसंग्रह से अभिप्राय होगा–

(क) वह 'तर्कसङ्ग्रह' जिसमें द्रव्यादि सात पदार्थों का 'संकलन' किया गया है।

(ख) वह शास्त्र जिसमें द्रव्यादि सात पदार्थों को, उसके तर्कों को 'संक्षेप' में निबद्ध किया गया है।

(ग) वह तर्कशास्त्र जिसमें द्रव्यादि सात पदार्थों की उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा की गई है।

(x) भाषा अत्यन्त सरल एवं भावबोधगम्य प्रयुक्त हुई है।

(xi) प्रस्तुत मङ्गलाचरण के भाव को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-1)

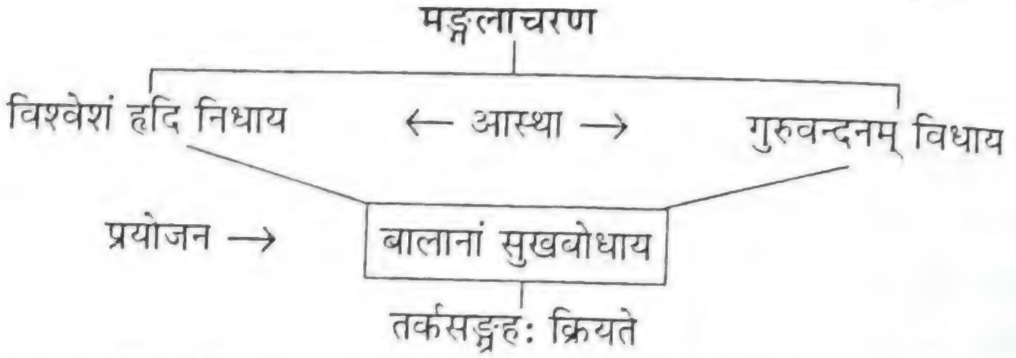

(xii) सुखबोध:-सुखाय बोध:, इति। सुखरूपेण बोध: येन तत् शास्त्रम्।

(xiii) निधाय-नि+√धा+ल्यप्। विधाय-वि√धा+ल्यप्।

(xiv) विश्वेशं-विश्वस्य ईशः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष) गुरुवन्दनम्-गुरोः वन्दनम् (षष्ठी तत्पुरुष)

(xv) क्रियते-√कृ+लट्, आत्मने, प्र०पु०ए०व० (किया जा रहा है)।

●

प्रत्यक्षखण्डम्

(1) उद्देशप्रकरणम्

पदार्थभेदाः सप्त-

द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाऽभावाः सप्त पदार्थाः।

पदच्छेद–द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाः सप्तपदार्थाः।

दीपिका–पदार्थान् विभजते–द्रव्येति। पदस्यार्थ: पदार्थ इति व्युत्पत्त्याऽभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्। नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे सिद्धे सप्तपदग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, अधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थकत्वात्।

नन्वतिरिक्त: पदार्थ: प्रमितो न वा? नाद्यः, प्रमितस्य निषेधायोगात्। नान्त्य; प्रतियोगिप्रमिति विना निषेधानुपपत्तेरिति चेन्न, पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमितिं व्यवच्छेदार्थकत्वात्। ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वमिति वक्तव्यम्। एवं च सप्तभिन्नस्याप्रसिद्धत्वात् कथं सप्तान्यतमत्वव्याप्तिनिश्चय इति चेन्न; द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववत्वमतो दोषविरहात्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

अनुवाद–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव ये सात पदार्थ हैं।

चन्द्रिका–प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने वैशेषिकदर्शन के प्रमुख सात पदार्थों का केवल नामसंकीर्तन किया है। तदनुसार ही इसे 'उद्देश प्रकरण' की संज्ञा भी दी गई है, क्योंकि नाममात्र का कथन करना ही 'उद्देश' कहा गया है–"उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्" (तर्कभाषा-उपोद्घात)।

इस अंश का अभिप्राय है कि वैशेषिकदर्शन में-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ ही हैं, इनसे कम अथवा अधिक नहीं। वैशेषिकदर्शन वस्तुतः इसी पदार्थसिद्धान्त पर आधारित है। अतः दार्शनिक जगत् में इस सिद्धान्त को अत्यधिक महत्ता रही है। इसलिए ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण के पश्चात् इन सातों पदार्थों का ग्रन्थ के आरम्भ में ही उल्लेख करते हुए उनकी संख्या का 'सात' ही होना प्रदर्शित किया है, जो सप्रयोजन रहा है, क्योंकि आचार्य कणाद[1] एवं प्रशस्तपाद[2] ने आरम्भ में वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत केवल छः पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय) का ही उल्लेख किया था, किन्तु बाद में कुछ आचार्यों[3] ने इसमें सातवाँ 'अभाव' पदार्थ भी जोड़ दिया, जिसे बाद में लगभग सभी वैशेषिकदर्शन के आचार्यों द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गई। ऐसा करके ग्रन्थकार ने दीर्घकालीन आचार्य परम्परा के स्वीकृत सिद्धान्त के प्रति आस्था व्यक्त की है।

विशेष– (i) 'पदार्थ' शब्द यहाँ विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वैशेषिक-दर्शन इन्हें संसार के मूलभूत घटक के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इन्हीं के आधार पर संसार के स्वरूपादि को जाना जा सकता है।

(ii) पदस्य अर्थः पदार्थः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पद' को 'शब्द' का पर्याय मानते हुए विद्वानों ने अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–"ऋच्छतीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः" अर्थात् जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करने में समर्थ होती हैं, वही वस्तुतः अर्थ है। अतः पदार्थ का अभिप्राय होगा कि–"शब्दों द्वारा संकेतित वे वस्तुएँ, जिन्हें इन्द्रियाँ ग्रहण करने में समर्थ हैं।"

(iii) प्रस्तुत अंश में वैशेषिकदर्शन के सात पदार्थों का मात्र नामोल्लेख किया गया है। इनके विस्तार से लक्षणादि का कथन आगे के प्रकरणों में किया जाएगा।

(iv) संसार के मूलघटक की संख्या आदि के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में मतवैमत्य मिलता है। यही कारण है कि वेदान्त ब्रह्म एवं माया की सत्ता को मुख्य रूप

---

1. वैशेषिकसूत्र-1/2/7।
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 6।
3. आचार्य उदयन, श्रीधर, शिवादित्य एवं व्योमशिव आदि।

से मानता है तो अद्वैत वेदान्त केवल ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जबकि सांख्य, पुरुष एवं प्रकृति दो तत्त्वों को सृष्टि का कारण मानता है। उसी दृष्टि से यहाँ वैशेषिकदर्शन की मान्यता का प्रतिपादन सात मूल तत्त्वों को मानकर किया गया है।

(v) प्रस्तुत मान्यता वस्तुतः वैशेषिकदर्शन की है, जो न्यायदर्शन की अपेक्षा प्राचीन मानी गयी है। न्यायदर्शन ने भी बाद में इसे मान्यता प्रदान कर दी।

(vi) वैशेषिकदर्शन के अनुसार-इन सातों पदार्थों में प्रत्येक पदार्थ स्वयं में सत्य है तथा उसकी अपनी सत्ता है एवं अपना सिद्ध स्वरूप है। अतः ये सभी परस्पर पृथक् एवं निरपेक्ष हैं।

(vii) पदार्थों के कथन में पौर्वापर्य का क्रम उनकी महत्ता की दृष्टि से ग्रहण किया गया है।

(viii) प्रस्तुत अंश को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-2)

पदार्थ (सात)

द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव

अवतरणिका–वैशेषिकदर्शन द्वारा मान्यता प्राप्त सप्त पदार्थों का नाममात्र संकीर्तन के पश्चात् ग्रन्थकार सप्तपदार्थों में प्रथम 'द्रव्य' नामक पदार्थ के भेदों का उल्लेख करते हैं–

(क) द्रव्यपदार्थ प्रकरण

द्रव्यभेदाः नव–

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाश- कालदिगात्म-मनांसि नवैव।

पदच्छेद–तत्र द्रव्याणि पृथिवी-अप्-तेजः-वायु-आकाश-काल-दिग्-आत्मा-मनांसि नव एव।

दीपिका–द्रव्यं विभजते–तत्रेति। तत्र=द्रव्यादिमध्ये, द्रव्याणि नवैवेत्यन्वयः। कानि तानीत्यत आह–पृथिवीत्यादि। ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात् कथं नवैव द्रव्याणि? तथाहि–नीलं तमश्चलतीत्यबाधितप्रतीतिबलान्नीलरूपाधारतया क्रियाधारतया च तमसो द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम्। तत्र तमसो नाकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावः, रूपवत्वात्। अत एव न वायौ; स्पर्शाभावात् सदागतिमत्वाभावाच्च। नापि तेजसि;

भास्वररूपाभावादुष्णस्पर्शाभावाच्च। नापि जले; शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपाश्रयत्वाच्च। नापि पृथिव्याम्; गन्धवत्वाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च। तस्मात् तमो दशमद्रव्यमिति चेन्न, तमसस्तेजोऽभावस्वरूपत्वात्। तथाहि–तमो न रूपवद् द्रव्यमालोकासहकृत-चक्षुर्ग्राह्यत्वादालोकाभाववत्। रूपद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्, तस्मात् प्रौढप्रकाशकतेजः सामान्याभावस्तमः। तत्र 'नीलं तमश्चलती'ति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नव द्रव्याणीति सिद्धम्।

द्रव्यत्वजातिमत्वं गुणवत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्। लक्ष्यैकदेशा-वृत्तित्वमव्याप्तिः, यथा–गोः कपिलत्वम्। अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः, यथा–गोः शृङ्गित्वम्। लक्ष्यमात्रावर्तनमसम्भवः, यथा–गोरेकशफवत्वम्। एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्। यथा–गोः सास्नादिमत्वम्। स एवासाधारणधर्म इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। व्यावर्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्। व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्। व्यावृत्तावभिधेयत्वादौ चातिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्नत्वं धर्मविशेषणं देयम्।

ननु गुणवत्वं न द्रव्यसामान्यलक्षणम्, आद्यलक्षणावच्छिन्नघटे उत्पन्नविनष्टघटे चाव्याप्तेरिति चेन्न, गुणसमानाधिकरणसत्ताभिन्नजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात्। नन्वेवमप्येकं रूपं रसात् पृथगिति व्यवहाराद्रूपादावतिव्याप्तिरिति चेन्न; एकार्थ-समवायादेव तादृशव्यवहारोपपत्तौ गुणे गुणानङ्गीकारात्।

अनुवाद–उन (सात पदार्थों) में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन (ये) नौ ही द्रव्य हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थ के आरम्भ में कहे गए सात पदार्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अतः प्रथम उल्लिखित द्रव्य पदार्थ के भेदों की व्याख्या से पूर्व उनका नामोल्लेख एवं संख्या का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि-"वैशेषिकदर्शन केवल नौ द्रव्य पदार्थों को ही मान्यता प्रदान करता है, उससे कम अथवा अधिक नहीं।" यथा-पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच वस्तुतः भौतिक द्रव्य पदार्थों की श्रेणी में आते हैं तथा दिक् एवं काल को अर्द्धभौतिक द्रव्यपदार्थ कहा जा सकता है, जबकि अन्तिम दो आत्म एवं मन नितान्त अभौतिक पदार्थ हैं, क्योंकि इनमें से भौतिक एवं अर्द्धभौतिक द्रव्य पदार्थों की प्रतीति भौतिक पदार्थों के माध्यम से हो जाती है।

विशेष– (i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने द्रव्य पदार्थ की व्याख्या करने से पूर्व केवल उनकी संख्या एवं नाम मात्र का संकीर्तन किया है।

(ii) न्यायदर्शन भी इन्हीं नौ द्रव्य पदार्थों को मान्यता प्रदान करता है।

(iii) वैशेषिकदर्शन वस्तुतः यथार्थवादी दर्शन है। इसीलिए यह संसार के समस्त पदार्थों की सत्ता को स्वतन्त्र मान्यता प्रदान करता है। वेदान्तदर्शन के समान यह जगत् को मिथ्या नहीं मानता है।

(iv) इस दृष्टि से इस दर्शन को विद्वानों ने 'बाह्यार्थवाद' का संस्थापक माना है, क्योंकि इसके मत में दैनन्दिन अनुभव के आधार पर हमें अनेक ऐसी वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, जिनका आश्रय लेकर अनेक प्रकार के धर्म विद्यमान रहते हैं। अतः हमें सांसारिक पदार्थों में सर्वप्रथम द्रव्य पदार्थ को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है।

(v) द्रव्य शब्द यहाँ वस्तुतः पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि सामान्यतः इसका अभिप्राय किसी ठोस अथवा तरल पदार्थ से लिया जाता है। कोशग्रन्थों में भी इसके इन्हीं अर्थों का प्रयोग मिलता है।

(vi) यद्यपि ग्रन्थकार ने तर्कसङ्ग्रह में द्रव्य के लक्षण का कथन नहीं किया है तथापि अपनी दीपिका टीका में उन्होंने इसे 'द्रव्यत्व जाति सम्पन्न गुणवान्' कहा है।

(vii) अधिकांश वैशेषिकदर्शन के आचार्यों के अनुसार-समवायिकारण ही वस्तुतः द्रव्य है-"समवायिकारणं द्रव्यम्"।

(viii) प्रभाकर मीमांसकों ने भी नौ द्रव्यों को ही मान्यता प्रदान की है। जबकि भाट्टमीमांसकों ने इसकी संख्या ग्यारह बतायी है।

(ix) प्रस्तुत गद्यखण्ड के आशय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-3)

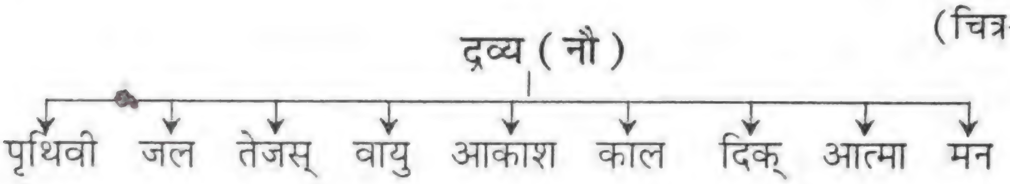

अवतरणिका–द्रव्यपदार्थों की संख्या एवं नामोल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार गुण नामक द्वितीय पदार्थ की संख्या एवं उनके नामों का कथन करते हैं–

(ख) गुणपदार्थ प्रकरण

गुणभेदाश्चतुर्विंशतिः–

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-

परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः।

पदच्छेद–स्पष्टमेव।

दीपिका–गुणं विभजते–रूपेति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्वजातिमान् वा। ननु लघुत्वमृदुत्वकठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात् कथं चतुर्विंशतिर्गुणाः? इति चेन्न, लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्, मृदुत्वकठिनत्वयोरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात्।

अनुवाद–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये चौबीस गुण हैं।

चन्द्रिका–प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने गुणों की संख्या चौबीस बताई है। इस प्रसङ्ग में यह विशेषरूप से ध्यातव्य है कि यहाँ गुण शब्द विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि लौकिक व्यवहार में सामान्य रूप से–रूप, शील, विनम्रता आदि को जहाँ गुण कहा जाता है, वहीं व्याकरण शास्त्र 'अदेङ्गुण' कहकर अ, ए, ओ को गुण कहता है। जबकि सांख्यदर्शन ने प्रकृति के घटक सत्त्व, रजस् और तमस् को गुण संज्ञा प्रदान की है। काव्यशास्त्र में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य को गुण शब्द से अभिहित किया गया है, किन्तु राजनीति शास्त्र में संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय को छः प्रकार के नीतिविषयक गुण कहा गया है।

किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में वैशेषिकदर्शन की दृष्टि से कुछ भिन्न प्रकार से ही 'गुण' शब्द का अभिप्राय लिया गया है, तदनुसार–"ये द्रव्य से भिन्न होते हुए भी द्रव्य में विद्यमान रहते हैं।" आचार्य कणाद ने वैशेषिकसूत्र में इस शब्द को इसप्रकार परिभाषित किया है–

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।–(1/1/16)

अर्थात् द्रव्य के आश्रय में रहने वाला, गुणरहित तथा संयोग एवं विभाग के प्रति जिसकी स्वतन्त्र स्थिति न हो, वही गुण कहलाता है।

आचार्य अन्नंभट्ट ने अपनी दीपिका टीका में गुण शब्द की इसप्रकार व्याख्या की है–"गुणत्व जाति से युक्त, द्रव्य एवं कर्म से अलग होते हुए, सामान्य धर्म से युक्त पदार्थ ही गुण है।"[1]

---

1. गुणत्वजातिमान् द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् (दीपिका टीका-अन्नंभट्ट)।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन 'सामान्य' की स्थिति केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थों में ही मानता है। अतः गुण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष की निवृत्ति के लिए उन्होंने 'द्रव्यकर्मभिन्नत्व' पद का कथन करके द्रव्य एवं कर्म में इसकी व्यावृत्ति कर दी है।

अतः हम 'गुण' पद को संक्षेप में इसप्रकार परिभाषित कर सकते हैं–"गुणत्व जाति से सम्पन्न सदैव द्रव्यों का आश्रय लेकर रहने वाले, गुण एवं क्रिया से रहित, अपने कार्य के असमवायीकारण ही गुण हैं, ये संयोग एवं विभाग का साक्षात् कारण नहीं होते हैं।"

इस प्रसङ्ग में प्रतिपक्षी द्वारा यह शङ्का की जा सकती है कि–"गुण को पदार्थ मानने की आवश्यकता ही क्या है?" इस विषय में तो यही कहा जा सकता है कि–"किसी वस्तु का अस्तित्व ही वस्तुतः इसलिए होता है कि उसमें कुछ गुण विद्यमान हैं, क्योंकि गुणों के अभाव में वस्तु का वस्तु होना ही सम्भव नहीं है। अतः किसी वस्तु की सत्ता के आधार गुणों की गणना पदार्थों के अन्तर्गत करना अत्यावश्यक है, क्योंकि किसी भी वस्तु का केवल सत् होना सम्भव नहीं है।"

विशेष– (i) आरम्भ में आचार्य कणाद ने इन गुणों की संख्या सत्रह मानी थी, बाद में इनमें गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द इन सात गुणों को जोड़कर आचार्य प्रशस्तपाद ने इनकी संख्या चौबीस कर दी, जिन्हें अर्वाचीन वैशेषिक दर्शनाचार्यों द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गई।

(ii) गुणों की संख्या को लेकर सम्भवतः ग्रन्थकार के समय में भी विद्वानों में मतभेद रहा, जिसकी ओर उन्होंने अपनी दीपिका टीका में सङ्केत किया है, क्योंकि वहाँ उन्होंने लघुत्व, मृदुत्व एवं कठिनत्व को गुण मानने की शङ्का करके मानो प्रतिपक्षी को प्रस्तुत किया है तथा स्वयं ही फिर उसका निराकरण भी यह कहकर किया है कि–

(क) गुरुत्व का अभाव ही लघुत्व है।

(ख) मुदुत्व एवं कठिनत्व वस्तुतः संयोग के ही प्रकार हैं, अतः इन्हें पृथक् से गुण मानने की आवश्यकता नहीं है।

(iii) सिद्धान्तचन्द्रोदयकार ने आलस्य नामक एक अन्य गुण का उल्लेख किया है, किन्तु विद्वानों के अनुसार–यह भी वस्तुतः प्रयत्न का अभाव ही है। अतः इसे पृथक् रूप से मान्यता प्रदान करने का औचित्य प्रतीत नहीं होता।

(iv) कुछ विद्वानों ने दीपिका टीका में उल्लिखित लघुत्व, मृदुत्व, कठिनत्व को गुण मानने की चर्चा को, अन्नंभट्ट द्वारा गुण संख्या में वृद्धि माना है, किन्तु यह विचार वस्तुतः संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वहाँ ग्रन्थकार ने इसे पूर्वपक्ष के रूप में ही प्रस्तुत करके इसका स्वतः ही समाधान दिया है।

(v) न्यायवैशेषिक के भाषा-परिच्छेद नामक ग्रन्थ में इन चौबीस गुणों की स्थिति को नौ द्रव्यों के अन्तर्गत निर्धारित किया है।[1]

(vi) आचार्य प्रशस्तपाद ने इन सभी गुणों का वर्गीकरण मूर्त, अमूर्त एवं उभय रूप में करते हुए पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि में रहने वाले गुणों को मूर्त तथा अमूर्त एवं उभय रूप में करते हुए पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि में रहने वाले गुणों को मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों आत्मा आदि में रहने वाले गुणों को अमूर्त तथा दोनों में रहने वाले गुणों का उभयगुण बताया है।[2]

(vii) इसके अलावा कुछ विद्वानों ने सामान्य एवं विशेष इस रूप में भी इन गुणों का विभाजन किया है। उनके अनुसार–एक साथ दो या दो से अधिक द्रव्यों में रहने वाले संख्या, परिमाण[3] आदि सामान्य गुणों के अन्तर्गत परिगणित है तथा एक समय में एक ही द्रव्य में रहने वाले रूप, रस, गन्धादि[4] विशेष गुण कहलाने योग्य हैं।

(viii) यहाँ हम इन गुणों का प्रशस्तपाद भाष्यकार की दृष्टि से वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(चित्र-4)

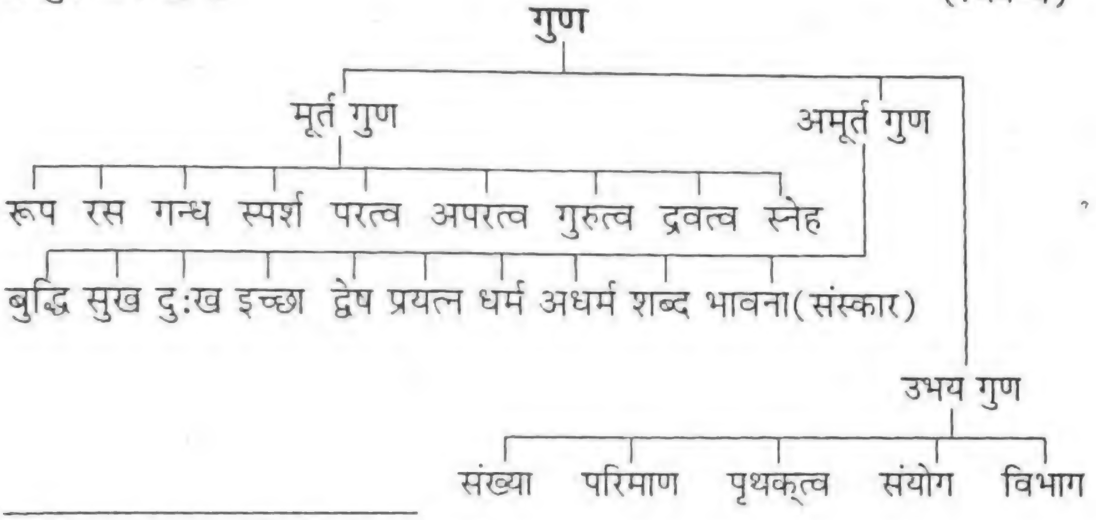

---

1. द्रष्टव्य-भाषा-परिच्छेद, पृ० 230-34
2. द्रष्टव्य-प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० 60
3. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (नैमित्तिक) वेग (संस्कार)।
4. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व (सांसिद्धिक), बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द, भावना। (संस्कार)

अवतरणिका–दो पदार्थ द्रव्य एवं गुण का कथन करने के पश्चात् तृतीय 'कर्म' पदार्थ का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–

(ग) कर्मपदार्थप्रकरण

कर्माणि पञ्चविधानि–

उत्क्षेपण-अवक्षेपण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमनानि पञ्च कर्माणि।

पदच्छेद–स्पष्टमेव।

दीपिका–कर्म विभजते–उत्क्षेपणेति। संयोगभिन्नत्वे सति संयोगसमवायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद्वा। ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मण: सत्त्वात् पञ्चेत्यनुपपन्नमिति चेन्न; भ्रमणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावान्न पञ्चविधत्वविरोध:।

अनुवाद–ऊपर की ओर उछालना (उत्क्षेपण), नीचे की ओर गिराना (अवक्षेपण), सिकोड़ना (आकुञ्चन), फैलाना (प्रसारण) तथा चलना (गमन) ये पाँच ही कर्म होते हैं।

चन्द्रिका–आगे कर्म लक्षण प्रकरण के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने इन पञ्च प्रकार के कर्मों का विस्तार से उल्लेख किया है। हम यहाँ उसी के अनुसार व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं–

यहाँ तर्कसङ्ग्रहकार ने कर्म नामक पदार्थ का विवेचन करते हुए केवल पाँच कर्मों को ही मान्यता प्रदान की है। उनमें किसी वस्तु अथवा पदार्थ का ऊपर की ओर उछालना 'उत्क्षेपण कर्म' है, किसी वस्तु या पदार्थ को गिराना ही 'अवक्षेपण' नामक कर्म की श्रेणी में आता है। इसीप्रकार किसी वस्तु को सिकोड़ना या फैलाना क्रमश: 'आकुञ्चन' और 'प्रसारण' कर्म हैं। जबकि चलना 'गमन' नामक कर्म के अन्तर्गत परिगणित है।

ग्रन्थकार ने आगे कर्मलक्षणप्रकरण में इनकी व्याख्या इसप्रकार की है। तदनुसार चलनात्मक क्रिया को कर्म कहते हैं। इनके पाँच प्रकारों के ऊपर के देश में संयोग के हेतु को 'उत्क्षेपण' नामक कर्म कहा जाएगा तथा नीचे के प्रदेश में संयोग का हेतु कर्म 'अवक्षेपण' कर्म होता है। जबकि अपने शरीर में सन्निकृष्ट देश में संयोग के हेतु को 'आकुञ्चन' नामक क्रिया कहते हैं। इसी प्रकार अपने शरीर से दूर स्थित प्रदेश में संयोग का हेतु ही 'प्रसारण' नामक कर्म है। उक्त चार प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त सभी प्रकार की शेष क्रियाओं को ग्रन्थकार ने 'गमन' नामक कर्म के अन्तर्गत

स्थापित किया है तथा इसकी स्थिति पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के साथ-साथ मन में भी बताई है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब हम गेंद को आकाश की ओर फेंकते हैं तो इस कर्म द्वारा गेंद का संयोग ऊपर के प्रदेश से होता है। यही कर्म के पाँच भेदों में से प्रथम 'उत्क्षेपण' कर्म कहा जाएगा। इसी प्रकार जब हम किसी मकान आदि की छत पर पहुँचकर इसी गेंद को नीचे की ओर फेकेंगे तो इससे गेंद का नीचे के प्रदेश से संयोग होगा, जो 'अवक्षेपण' कर्म की श्रेणी में आएगा।

इसके अतिरिक्त जब कछुआ अपने अङ्गों को बाह्य भयादि के कारण अपने शरीर में सिकोड़ता है अथवा हवा से फूले हुए गुब्बारे से हवा निकालने पर जब वह सिकुड़ता है तो ऐसा होने पर इनके अवयव सामान्य अवस्था में एक-दूसरे के निकट आते हैं, इसे 'आकुञ्चन' कर्म कहा जाएगा। इसके ठीक विपरीत व्यायामादि करते समय जब हम अपने हाथ-पैर चारों ओर फैलाते हैं तो इस स्थिति में हमारे शरीर के अवयव एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं; तो यह प्रसारण कर्म कहा जाएगा।

उपर्युक्त चारों कर्मों के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण कर्मों भ्रमणादि को ग्रन्थकार अन्नंभट्ट ने 'गमन' कर्म के अन्तर्गत मान्यता प्रदान की है। ये सभी पाँच कर्म हमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में देखने को मिलते हैं।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने कर्म के केवल पाँच भेदों का उल्लेख किया है।

(ii) महर्षि कणाद ने भी वैशेषिकदर्शन में इन्हीं पञ्चकर्म को मान्यता प्रदान की है, जिसका ग्रन्थकार ने यहाँ अनुकरण किया है। तदनुसार–

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।

वैशेषिकसूत्र (1/1/6)

(iii) डॉ० दयानन्द भार्गव ने कर्मों के इस विभाजन को अत्यन्त वैज्ञानिक माना है। उनके मत में–"इस विभाजन में एक वैज्ञानिक आधार है। गति तीन प्रकार की हो सकती है–ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र। वक्रगति भी दो प्रकार की है–दूरगामी और निकट लाने वाली और यही चार गतियाँ यहाँ दी गई हैं। शेष प्रकार की गतियाँ गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अत: कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया है, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है।"[1]

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 14

(iv) इस दृष्टि से भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊपर की ओर प्रज्वलन तथा तिर्यग् गमन आदि सभी 'गमन' नामक क्रिया के अन्तर्गत माने जाएँगे।[1]

(v) इस प्रसङ्ग में यह शङ्का की जा सकती है कि तब तो उत्क्षेपणादि को भी 'गमन' की क्रिया में ही मानना चाहिए।

(vi) 'कर्म' का अभिप्राय विभिन्न शास्त्रों में भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैसे-व्याकरण शास्त्र कर्ता को ईप्सिततम की 'कर्म' संज्ञा प्रदान करता है।[2]

(vii) मीमांसादर्शनशास्त्र, नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन तीन कर्म श्रेणी की मान्यता का पक्षधर है।[3]

(viii) श्रीमद्भगवद्गीता सात्त्विक, राजस् और तामस् तीन कर्म स्वीकार करती है।[4]

(ix) वेदान्तदर्शनशास्त्र में सञ्चित एवं प्रारब्ध दो कर्मों को सहमति प्रदान की गई है।[5]

(x) जबकि न्याय वैशेषिकदर्शन ने 'कर्म' की गणना सप्त पदार्थों में करते हुए इसे क्षणिक माना है। न्यायवैशेषिक के अनुसार-द्रव्य और गुण दोनों नित्य हैं, जबकि कर्म नित्य न होकर क्षणिक होता है।

(xi) प्रशस्तपाद ने गुरुत्व, द्रवत्व, भावना और संयोग इत्यादि प्रमुख उपाधियों के कारण कर्म की स्थिति को माना है।

(xii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-5)

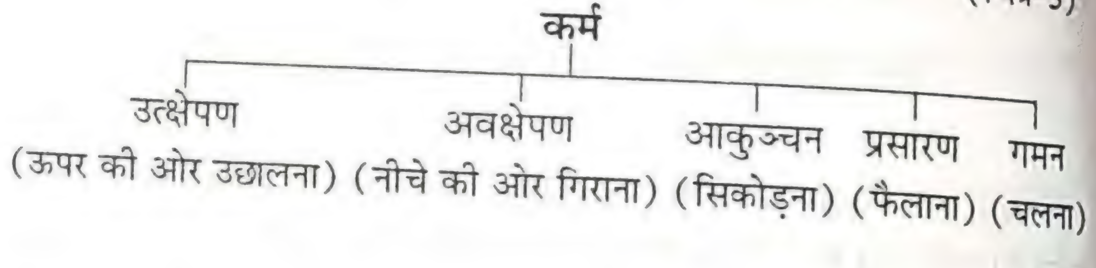

1. भ्रमणादेरित्यादिना रेचन-स्यन्दनोर्ध्वज्वलन तिर्यग्गमनानां संग्रहः। (नीलकण्ठ टीका)
2. कर्तुरीप्सिततमं कर्म। (अष्टाध्यायी-1/4/49)
3. श्लोकवार्तिक-110
4. श्रीमद्भगवद्गीता-18.7-9
5. वेदान्तसार, व्याख्याकार-डॉ० राकेश शास्त्री, भूमिका।

अवतरणिका–यहाँ तक द्रव्य, गुण और कर्म तीन पदार्थों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार चतुर्थ पदार्थ 'सामान्य' का कथन करते हैं–

(घ) सामान्य पदार्थ प्रकरण

सामान्यं द्विविधम्

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

पदच्छेद–परम् अपरम् च इति द्विविधम् सामान्यम् (भवति)।

दीपिका–सामान्यं विभजते–परमिति। परमधिकदेशवृत्ति। अपरं न्यूनदेशवृत्ति। सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति।

अनुवाद–पर, अपर इस रूप में सामान्य दो प्रकार का होता है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने यहाँ सामान्य का केवल नामोल्लेख करके इसके 'पर' और 'अपर' दो भेदों का कथन किया है। तत्पश्चात् ग्रन्थ के अन्त में कर्म को परिभाषित करने के बाद सामान्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है–"नित्यम् एकम् अनेकानुगतं सामान्यम्" अर्थात् 'सामान्य' नामक पदार्थ नित्य है तथा एक एवं अनेक में रहता है। इसकी स्थिति द्रव्य, गुण एवं कर्म में देखी जाती है तथा इसके दो प्रकार हैं–पर और अपर।

आचार्य अन्नंभट्ट ने दीपिका टीका में 'पर' सामान्य को अधिक देश में रहने वाला[1] और 'अपर' सामान्य को कम देश में रहने वाला कहा है।[2] अब प्रश्न उठता है कि पर और अपर भेद वाला यह सामान्य वस्तुतः क्या है? इसे हम उदाहरण द्वारा अपेक्षाकृत आसानी से समझ सकते हैं। जैसे–इस संसार में स्थित पदार्थों एवं प्राणियों में भिन्नता होते हुए भी कुछ समानता देखने को मिलती है। यथा–यहाँ सभी लोग अलग-अलग हैं, किन्तु फिर भी उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है। सभी गाय, बैल आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी इस एक ही नाम से जाने जाते हैं। न्यायवैशेषिक के अनुसार यह अनुभूति ही वस्तुतः 'सामान्य' है, इसी को 'जाति' 'सत्ता' एवं 'भाव' भी कहा जाता है।

यह सामान्य अथवा जाति वह पदार्थ है, जिसके कारण एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तु अथवा प्राणियों में समानता की प्रतीति होती है। जैसे-मनुष्य में मनुष्यत्व, गो में गोत्वादि, घट में घटत्व। यह सामान्य वस्तु या प्राणी में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है।

---

1. परमधिक देशवृत्तिः।
2. अपरं न्यूनदेशवृत्तिः।

यद्यपि ग्रन्थकार ने सामान्य की स्थिति पदार्थों में बतायी है, किन्तु दीपिका में उन्होंने स्पष्ट किया है कि यह केवल द्रव्य, गुण और कर्म में ही समवेत रूप से रहता है, शेष में नहीं। इसे जाति, सत्ता और भावादि नामों से भी जाना जाता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें सामान्य में कुछ प्रमुख बातें देखने को मिलती हैं–

(i) सामान्य नित्य होता है।

(ii) यह अनेक में विद्यमान रहता है, एक में इसकी स्थिति सम्भव नहीं है।

(iii) इसकी स्थिति पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से बनी रहती है।

(iv) इसके दो भेद पर और अपर हैं।

(v) इनमें 'पर' नामक सामान्य अधिक देश में रहता है।

(vi) जबकि 'अपर' नामक सामान्य एक देश में विद्यमान रहता है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने 'सामान्य' के विवेचन में सूत्रात्मक शैली का प्रयोग करते हुए इसके केवल दो भेदों का नाम संकीर्तनमात्र किया है।

(ii) तर्कामृतकार ने सामान्य के तीन भेदों का उल्लेख किया है–सबसे बड़ा (व्यापक), सबसे छोटा (व्याप्य) और मध्यम (व्याप्यव्यापक)। यह वर्गीकरण सापेक्ष न होकर निरपेक्ष कहा जा सकता है।

(iii) उदयनाचार्य ने किरणावली में जाति के बाधक छः कारणों का उल्लेख किया है–

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः।।

अर्थात् व्यक्ति का एकत्व, व्यक्ति की तुल्यता, सङ्कर (मेल), अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध, ये छः जाति बाधक संग्रह कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में इसे उपाधि कह सकते हैं।

(iv) इस दृष्टि से एक ही व्यक्ति में रहने पर, समानार्थक होने पर, एक धर्म के संकर होने पर अनवस्था जैसा सैद्धान्तिक दोष होने पर, रूप की हानि होने पर तथा परस्पर सम्बन्ध का अभाव होने से जाति (सामान्य) की स्थिति नहीं बनती है।

(v) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

सामान्य (नित्यमेकमनेकानुगतम्) (चित्र-6)

- स्थिति
  - द्रव्य
  - गुण
  - कर्म
- भेद
  - पर (सत्ता) (परमधिकदेशवृत्तिः)
  - अपर (अपरं न्यूनदेशवृत्तिः)

अवतरणिका–द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का उल्लेख करने के बाद 'विशेष' नामक पाँचवें पदार्थ का उल्लेख करते हैं–

(ङ) विशेष पदार्थ प्रकरण

विशेषाः कतिविधाः?–

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

पदच्छेद–नित्य-द्रव्य-वृत्तयः विशेषाः तु अनन्ताः एव (सन्ति)।

दीपिका–विशेषं विभजते–नित्येति। पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणवः आकाशादिपञ्चकं च नित्यद्रव्याणि।

अनुवाद–नित्य द्रव्यवृत्ति वाले विशेष (नामक पदार्थ) तो अनन्त ही हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने इन 'विशेष' नामक पदार्थ को नित्य द्रव्यों में रहने वाला एवं अनन्त बताया है। यहाँ विशेष से अभिप्राय 'विश्लेषक' अथवा भेदक धर्म से है। सभी नित्य द्रव्यों में एक भेदक धर्म होता है, जिसकी उपस्थिति से उनमें परस्पर भेद की प्रतीति होती है। इसप्रकार उन पदार्थों में परस्पर भेद प्रतीति का कारक यह विशेष नामक पदार्थ ही है, क्योंकि यह व्यक्ति की पृथक्कता का प्रदर्शन करता है।

जहाँ एक ओर 'सामान्य' नामक पदार्थ समष्टिगत होता है, वहीं दूसरी ओर यह 'विशेष' नामक पदार्थ वस्तुतः व्यष्टिगत होता है। दैनिक व्यवहार में जब हम एक ही जाति के दो द्रव्यों में परस्पर भेद प्रदर्शित करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं, तब इस नित्य द्रव्य 'विशेष' के कारण ही उनमें भिन्नता का आधान करते हैं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि नित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के लिए वैशेषिकों को 'विशेष' नामक विशिष्ट पदार्थ की आवश्यकता अनुभव हुई। वस्तुतः सम्पूर्ण अनित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता उनके अवयव, गुण एवं कर्मादि के कारण होती है। इसलिए उनकी परस्पर भिन्नता के प्रदर्शन हेतु 'विशेष' नामक पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती है।

इसके ठीक विपरीत नित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता का निर्धारण किसी बाह्य आधार पर करना पूर्णरूप से असम्भव है। इसलिए वैशेषिकदर्शन द्वारा प्रत्येक नित्य पदार्थ में एक-एक विशेष की सत्ता को मान्यता प्रदान की गई, जिसके कारण इन्हें यहाँ 'अनन्त' कहा गया है। यही अभिप्राय आचार्य विश्वनाथ ने अपनी भाषा परिच्छेद नामक पुस्तक में भी अभिव्यक्त किया है।[1]

विशेष–(i) आचार्य अन्नंभट्ट ने यहाँ 'विशेष' नामक पदार्थ को नित्य द्रव्य में रहने वाला और अनन्त माना है।

(ii) कुछ विद्वान् 'विशेष' नामक पदार्थ को वैशेषिकदर्शन की मौलिक कल्पना स्वीकार करते हैं। इसी पदार्थ के कारण इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

(iii) महर्षि कणाद ने इसके लिए 'अन्त्यविशेष' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

(iv) प्रशस्तपाद ने इसकी व्याख्या में कहा है कि–"अन्त में रहने के कारण ही इन्हें अन्त्य कहा जाता है। ये द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य से भिन्न हैं तथा नित्य द्रव्यों में समवेत रूप में विद्यमान रहते हैं।"[3]

(v) सप्तपदार्थीकार शिवादित्य भी 'विशेषास्तु नित्यद्रव्यसमवेताः' कहकर यही भावना अभिव्यक्त करते हैं।[4]

(vi) कुछ विद्वानों ने विशेष की अन्य परिभाषा 'स्वतो व्यावर्तकत्वम्' भी दी है। वस्तुतः इसकी स्थिति यहाँ सजातीय परमाणुओं की परस्पर भेदसिद्धि के लिए मानी गई है, क्योंकि यही पदार्थ स्व से स्व को अलग प्रदर्शित करता है।

(vii) इस दृष्टि से पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणुओं में तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन में 'विशेष' नामक यह पदार्थ विद्यमान रहता है।[5]

(viii) सिद्धान्त चन्द्रोदय[6] में इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत स्पष्ट उल्लेख किया गया है। तदनुसार–घट पट से इस कारण भिन्न है, क्योंकि घट के अवयव पट के अवयवों से अलग हैं। अवयव-अवयवी का भेद स्वीकार करने पर भी अन्तिम

---

1. भाषापरिच्छेद, विश्वनाथ, सम्पा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985
2. वैशेषिकसूत्र-1/2/6
3. अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः। प्रशस्तपादभाष्य-1/2/6
4. सप्तपदार्थी, शिवादित्य, पृ० 143
5. पृथिव्यादि चतुष्टयस्य परमाणव आकाशादिपञ्चकञ्च नित्यद्रव्याणि (तत्त्वदीपिका)।
6. घटादीनां कपालसमवेतत्वादिकं पटादिभेदकमस्ति परमाणूनां तु परस्पर भेदकं न किञ्चिदस्त्यतो नायत्या विशेष आश्रयितव्यः (सिद्धान्तचन्द्रोदय)।

स्थिति परमाणुओं की ही माननी होगी, क्योंकि परमाणु अविभाज्य है। अत: एक परमाणु को अन्य परमाणु से अलग करने के लिए परमाणु में 'विशेष' नामक पदार्थ का अस्तित्व अन्ततः स्वीकार करना ही होगा।

(ix) 'विशेष' के इस सिद्धान्त को नव्यन्याय सिद्धान्त के विद्वान्, बौद्ध, भाट्ट एवं प्रभाकर मीमांसक तथा वेदान्ती लोग स्वीकार नहीं करते हैं।

(x) डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि-"इस विशेष नामक पदार्थ की केवल काल्पनिक सत्ता है, वास्तविक नहीं।"[1]

(xi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-

(चित्र-7)

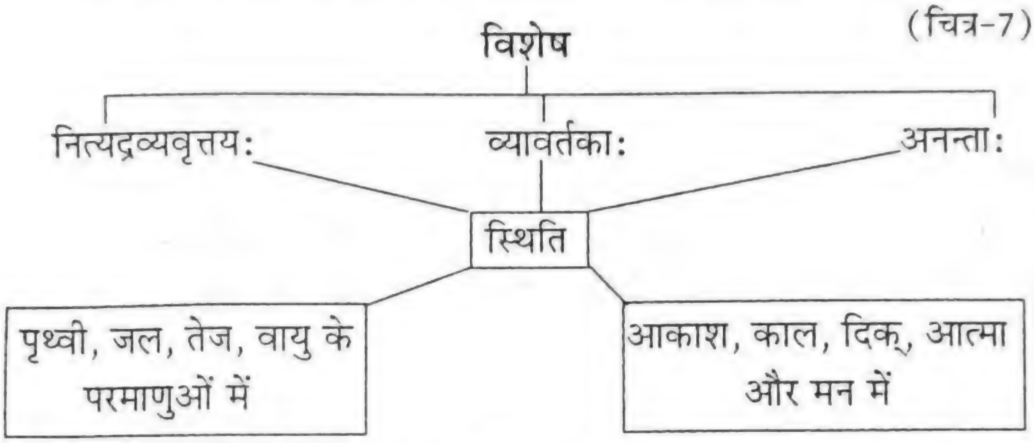

अवतरणिका–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'समवाय' नामक पदार्थ का कथन करते हुए कहते हैं-

(च) समवाय पदार्थ प्रकरण

समवायलक्षणम्-

समवायस्त्वेक एव।

पदच्छेद–समवाय: तु एक: एव (भवति)।

दीपिका–समवायस्य भेदो नास्तीत्याह–समवायस्त्विति।

अनुवाद–समवाय तो एक ही (होता है)।

चन्द्रिका–प्रस्तुत स्थल पर ग्रन्थकार ने समवाय नामक पदार्थ का नाममात्र संकीर्तन करके उसकी एक संख्या का निर्देश भर किया है। अत: हम यहाँ ग्रन्थ के अन्त में प्रयुक्त व्याख्या के आधार पर इसका उल्लेख कर रहे हैं-

समवाय वस्तुतः नित्यसम्बन्ध होता है, जो अयुतसिद्ध पदार्थों में विद्यमान

1. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० नन्दकिशोर गोभिल, पृ० 200

रहता है। जिन दो पदार्थों में से एक अविनाश की अवस्था में हमेशा दूसरे का आश्रय लेकर स्थित रहता है, उस स्थिति में वे दोनों ही पदार्थ अयुतसिद्ध की श्रेणी में आते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों के उदाहरणरूप में ग्रन्थकार ने यहाँ अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा विशेष एवं नित्य द्रव्यों को प्रस्तुत किया है।

वैशेषिकदर्शन वस्तुतः 'समवाय' नामक सम्बन्ध को भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मान्यता प्रदान करता है। यह सम्बन्ध एक विशेषता लिए हुए है, क्योंकि यह दो वस्तुओं में विद्यमान ऐसा विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है जो एक-दूसरे से अलग होने में असमर्थ हैं। जैसे-पट एवं तन्तु का सम्बन्ध अर्थात् वस्त्र और धागे का सम्बन्ध।

तन्तु और पट के इस सम्बन्ध को यदि हम विच्छेद करना चाहें तो पट का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा तथा इसकी संख्या एक ही है, इससे अधिक नहीं। इसी दृष्टि से इसे नित्य सम्बन्ध भी कहा गया है। दूसरे शब्दों में समवाय इन अर्थों में नित्य है कि उत्पन्न पदार्थ को उत्पन्न या नष्ट किए बिना इसे उत्पन्न या नष्ट नहीं किया जा सकता है।[1]

यहाँ प्रयुक्त अयुतसिद्ध शब्द विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इसका न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में अत्यधिक प्रयोग हुआ है। 'यु-मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से युत शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार-"जिन दो पदार्थों की स्थिति स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग बनी रह सकती है, वे दोनों पदार्थ युतसिद्ध कहलाएँगे।" जैसे-पुस्तक और कलम।

इसके विपरीत जो दो पदार्थ पृथक् सिद्ध न हो सकें, वे अयुतसिद्ध कहे जाएँगे। इनके उदाहरणरूप में ग्रन्थकार ने पाँच उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है-

(i) अवयव-अवयवी-यहाँ अवयव से अभिप्राय अङ्ग तथा अवयवी से अभिप्राय अङ्गी से है। यहाँ अङ्ग आधार और अङ्गी आधेय है। जैसे-तन्तु और पट। इस उदाहरण में पट के नष्ट न होने की अवस्था तक वह अपने अवयव तन्तु में आश्रित होकर विद्यमान रहता है। किसी भी एक के नष्ट होने पर दूसरे का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। अतः इन दोनों को अयुतसिद्ध कहा जाएगा तथा इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध 'समवाय' सम्बन्ध होगा।

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 2, पृ० 188

(ii) गुण और गुणी–इसीप्रकार पट आदि में रूप आदि गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिए पट गुणी होने से रूप आदि गुणों का आश्रय कहलाएगा, जबकि रूपादि गुण उसके आश्रित होंगे, जो पट गुणी के नष्ट न होने को स्थिति में गुणी में आश्रय लेकर विद्यमान रहते हैं। अत: ये दोनों गुण और गुणी अयुतसिद्ध होंगे तथा इन दोनों का सम्बन्ध 'समवाय' सम्बन्ध कहा जाएगा।

(iii) क्रिया-क्रियावान्–क्रियावान् वह कहलाता है, जिसमें क्रिया विद्यमान रहती है, क्योंकि क्रियावान् के बिना क्रिया का होना सम्भव नहीं है। अत: क्रियावान् को यहाँ समवायी और क्रिया को उसमें समवेत रूप से स्थित माना जाएगा। इसलिए इनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होगा और ये दोनों अयुतसिद्ध कहे जाएँगे।

(iv) जाति-व्यक्ति–अनेक वस्तु या व्यक्ति के समान आकार की प्रतीति कराने वाला पदार्थ 'सामान्य' या जाति कहलाता है। जैसे-सभी मनुष्यों में समान आकार की प्रतीति कराने वाला पदार्थ उनमें स्थित मनुष्यत्व जाति है। जो सभी मनुष्यों के अविनाश की स्थिति में विद्यमान रहती है, किन्तु एक साथ सभी मनुष्यों के नष्ट होने पर वह स्वत: ही समाप्त हो जाती है। इस दृष्टि से इन दोनों को भी अयुतसिद्ध कहा जाएगा।

(v) नित्य-द्रव्य-विशेष–नित्य द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ की स्थिति का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं। इस पदार्थ की स्थिति केवल नित्य द्रव्य-पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणुओं में तथा आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन में रहती है। इनका भी परस्पर आश्रय और आश्रयी का समवाय सम्बन्ध होने से दोनों 'अयुतसिद्ध' की श्रेणी में परिगणित होंगे।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि ग्रन्थकार ने समवाय को केवल एक ही मानने पर विशेष बल दिया है, जिसके लिए उन्होंने 'एव' अव्यय पद का प्रयोग किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि हम इसे अनेक संख्या वाला मानते हैं तो अनन्त समवायों की कल्पना के कारण कल्पना गौरव का प्रसङ्ग होगा, जो मूल सिद्धान्त की स्थापना में ही हानिकर होगा। अत: क्षेत्रभेद से आश्रयों की भिन्नता होने पर भी उनमें रहने वाला 'समवाय' नामक पदार्थ एक ही मानना उचित है।

विशेष–(i) 'समवाय' सम्बन्ध न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिस पर इनकी भव्य भवन रूपी दार्शनिक प्रक्रिया आधृत है।

(ii) यहाँ समवाय को नित्य सम्बन्ध माना गया है। नित्य से अभिप्राय कार्य की उत्पत्ति के बिना उत्पन्न न होने तथा कार्य के विनाश के अभाव में नष्ट न होने से ही ग्रहण करना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी यही मन्तव्य अभिव्यक्त किया है।[1]

(iii) नव्य नैयायिकों ने समवाय के एकत्व सिद्धान्त की अपेक्षा अनेकत्व को मान्यता प्रदान की है। इनमें रघुनाथ शिरोमणि इत्यादि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

(iv) अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने इस समवाय-सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है।[2]

(v) तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र ने अयुतसिद्ध की व्याख्या इसप्रकार प्रस्तुत की है-

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ।।

(vi) न्यायवैशेषिकदर्शन के उद्‌भट विद्वान् डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने समवाय नामक पदार्थ की उपमा द्रव्य, गुण आदि पहले पाँच पदार्थ रूप ईंटों को जोड़ने वाले 'गारे' के साथ दी है। जो ईंटों को जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है।

(vii) इस प्रसङ्ग में विपक्षी की ओर से एक शङ्का की जा सकती है कि यदि संयोग के समान ही समवाय भी एक सम्बन्ध ही है तो फिर इसे स्वतन्त्ररूप से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान इसप्रकार किया गया है-

(क) संयोग सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों के बीच ही होता है, जबकि समवाय सम्बन्ध द्रव्यों के साथ-साथ उनसे भिन्न पदार्थों में भी सम्भव है।

(ख) इसे द्रव्य की श्रेणी में रखना भी संगत नहीं है, क्योंकि इसमें गुणों का पूर्णतया अभाव है।

(ग) इसीप्रकार इसे गुण भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति भी केवल द्रव्यों में ही होती है। समवाय के लिए द्रव्यों में रहना आवश्यक नहीं है।

(घ) इसके अतिरिक्त अनेक वस्तुओं में समानता की प्रतीति न कराने अथवा

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 2, पृ० 188
2. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य-2/2/13

किसी वस्तु की विशेषता का कथन न करने के कारण इसे सामान्य या विशेष की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता है।[1]

(ङ) नित्य पदार्थों परमाणु आदि में समवाय की स्थिति इसके भावत्व को स्पष्ट करती है। अत: इसे हम अभाव भी नहीं मान सकते हैं।

(viii) संक्षेप में हम समवाय को इसप्रकार परिभाषित कर सकते हैं–

"समवाय दो या दो से अधिक अयुतसिद्ध पदार्थों के बीच विद्यमान, संयोग से भिन्न, 'एक' नित्य सम्बन्ध है। जो कारणवाद पर आधारित होकर अपने सम्बन्धियों में स्वरूप सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इसका हम केवल अनुमान कर सकते हैं।"[2]

(ix) न्यायवैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण मन्तव्य बाह्य जगत् की यथार्थता के पक्ष में प्रस्तुत 'समवाय सिद्धान्त' को सहयोगी माना जा सकता है।

(x) बौद्धदर्शन में केवल धर्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जबकि सांख्य एवं वेदान्तदर्शन धर्मी को मान्यता प्रदान करते हैं, इन सबके विपरीत वैशेषिक-दर्शन में दोनों की सत्ता को अङ्गीकार किया गया है जिसका अवलोकन समवाय सिद्धान्त में किया जा सकता है।

(xi) प्रस्तुत अंश के मन्तव्य को इसप्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं–

समवायः (नित्यसम्बन्धः) (चित्र-8)

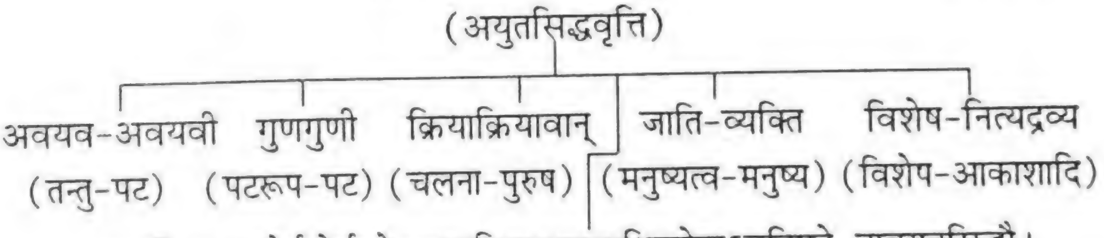

अयुतसिद्ध-ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवाऽवतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ।

अवतरणिका–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छ: पदार्थों का कथन करने के बाद तर्कसङ्ग्रहकार 'अभाव' नामक सप्तम पदार्थ का उल्लेख करके उसके चार भेदों को उदधृत करते हुए कहते हैं कि–

(छ) अभाव पदार्थ प्रकरण

अभावश्चतुर्विधः–

अभावश्चतुर्विधः–प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति।

---

1. क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज्म, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भा.वि.प्र., दिल्ली, पृ० 375
2. वैशेषिकदर्शन में पदार्थ निरूपण, डॉ० शशिप्रभा कुमार, पृ० 514

पदच्छेद–अभाव: चतुर्विध: (भवति)-प्राग्-अभाव:, प्रध्वंस-अभाव:, अत्यंत अभाव:, अन्योन्य-अभाव: च इति।

दीपिका–अभावं विभजते–अभावेति। (इत्युद्देशग्रन्थ:)।

अनुवाद–अभाव चार प्रकार का होता है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव।

चन्द्रिका–'न भाव:, इति अभाव:' अभाव शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर किसी वस्तु या प्राणी के भाव का न होना ही 'अभाव' कहलाता है। जबकि दार्शनिक परम्परा विशेषकाल एवं विशेष स्थान में किसी वस्तु विशेष की अनुपस्थिति को 'अभाव' के अन्तर्गत मानती है।

सप्तपदार्थी ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवादित्य ने अभाव को अपने प्रतियोगी ज्ञान के अधीन स्वीकार किया है।[1] इसके अतिरिक्त न्यायसिद्धान्त मुक्तावली के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ इसे द्रव्य, गुण, कर्मादि छ: पदार्थों के अन्योन्याभाव को ही अभाव संज्ञा प्रदान करते हैं।[2]

इसके विपरीत उदयनाचार्य अपनी कृति लक्षणावली में[3] अभाव को नञर्थक ज्ञान का विषय मानने के पक्षधर प्रतीत होते हैं। आधुनिक व्याख्याकार बोडास–भाव पदार्थों की भिन्नता को 'अभाव' स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् का मत इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। उनके अनुसार–

"यद्यपि अभाव पदार्थविज्ञानसम्बन्धी पदार्थ न होकर अधिकतर एक तार्किक पदार्थ है तो भी असत् को सत् के समान अस्तित्व रखने वाला पदार्थ मानने की एक प्रवृत्ति है।"[4]

"जब हम किसी वस्तु के विषय में कहते हैं तो इसकी सत्ता अथवा स्वीकृति से तथ्य की पुष्टि होती है। जब हम सम्बन्ध के विषय में कहते हैं तो इसके अभावरूपी तथ्य पर बल दिया जाता है।"[5]

---

1. प्रतियोगिज्ञानाधीनोऽभाव:–सप्तपदार्थी, शिवादित्य, पृ० 62
2. द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाव:–न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, विश्वनाथ, सम्पा० डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, 1985, पृ० 69
3. नञर्थप्रत्ययविषयोऽभाव:–लक्षणावली, उदयनाचार्य, सम्पा० शशिनाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1964, पृ० 26
4. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 189-190
5. वही।

ग्रन्थकार ने इसके चार भेदों का उल्लेख किया है, जिसका हम यहाँ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) प्राग्-अभाव–अपने नाम के अनुसार कार्य की उत्पत्ति से पूर्व होने वाला अभाव ही वस्तुतः प्राग्-अभाव की श्रेणी में आता है, जो अनादि और अन्त सहित होता है, क्योंकि यह किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले विद्यमान रहता है और उस वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही समाप्त हो जाता है। जैसे–पट के उत्पन्न होने से पूर्व होने वाला पट का अभाव ही वस्तुतः पट का प्राग्-अभाव है।

ग्रन्थकार अन्नंभट्ट ने अपनी तर्कदीपिका टीका में इस अभाव की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(i) यह अभाव वस्तु के समवायिकारण में विद्यमान रहता है। जैसे–पट का प्राग्-अभाव अपने समवायिकारण तन्तुओं में विद्यमान है।

(ii) यह अभाव ही अपने कार्य को उत्पन्न करता है।

(iii) इसके अतिरिक्त 'यह कार्य उत्पन्न होगा' इसप्रकार के व्यवहार का कारण ही कार्य होता है।

इस प्रसङ्ग में यह तथ्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि न्यायवैशेषिकदर्शन असत्कार्यवादी दर्शन है। इसीकारण यह उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य के अभाव को स्वीकार करता है।

(ख) प्रध्वंस-अभाव–क्योंकि उत्पन्न हुई वस्तु का विनष्ट होना ही 'प्रध्वंस' कहलाता है। इसलिए उस वस्तु के विनाश के पश्चात् होने वाला अभाव ही 'प्रध्वंस-अभाव' की कोटि में आता है। इस दृष्टि से घड़े के टूटने के पश्चात् होने वाला अभाव ही 'प्रध्वंस-अभाव' माना जाएगा।

आचार्य अन्नंभट्ट ने यहाँ इसे प्रारम्भ सहित, किन्तु अनन्त कहा है अर्थात् इसका प्रारम्भ तो होता है, किन्तु होने के पश्चात् इसकी स्थिति अनन्तकाल तक बनी रहती है। कार्य की पुनः उत्पत्ति के बाद ही इस अभाव की स्थिति सम्भव है।

ग्रन्थकार ने प्रागभाव के समान ही इस अभाव की भी तीन स्थितियों का वर्णन किया है–

(i) इस अभाव की उत्पत्ति कार्य के विनाश से ही सम्भव है।

(ii) यह भी अपने कार्य के समवायिकारण में ही प्राप्त होता है।

(iii) 'यह विनष्ट हो गया' इसप्रकार के व्यवहार का हेतु यही प्रध्वंसाभाव है।

(ग) अत्यन्ताभाव–जो अभाव पहले था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा अर्थात् त्रिकालिक अभाव ही अत्यन्ताभाव कहलाता है।[1] जैसे-वन्ध्या स्त्री का पुत्र अथवा आकाशपुष्प। स्त्री के बाँझ अर्थात् सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने की स्थिति में उसके पुत्र का अभाव अथवा आकाश में पुष्प का अभाव ये दोनों भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में हमेशा रहेगा। इसलिए इसे अत्यन्ताभाव कहा जाता है इसी का अन्य उदाहरण 'भूतले घटो नास्ति' भी हो सकता है।

तर्कसङ्ग्रहकार ने इसका लक्षण देते हुए कहा है कि जिसका प्रतियोगी अर्थात् कार्य तीनों कालों में से किसी भी काल में उत्पन्न ही नहीं होता है अत्यन्ताभाव है, जो अनादि और अनन्त होता है।

(घ) अन्योन्याभाव–एक वस्तु में अन्य वस्तु का अभाव ही अन्योन्याभाव है। जैसे-घट में पट का अभाव। यह अभाव भी अनादि और अनन्त होता है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार–इसकी स्थिति प्रतियोगी अर्थात् कार्य के तादात्म्य सम्बन्ध पर आधारित है। इसप्रकार इन्होंने अन्योन्याभाव को तादात्म्य सम्बन्ध का प्रतियोगी कहा है। अपने में अपना सम्बन्ध ही वस्तुत: तादात्म्यसम्बन्ध है। जैसे-पट का पट से सम्बन्ध और घट का घट से सम्बन्ध। अत: घट में पट का अथवा पट में घट का अभाव ही अन्योन्याभाव कहा जाएगा।

विशेष–(i) दैनिक लोक व्यवहार की दृष्टि से यदि उपर्युक्त चार अभावों पर दृष्टिपात करें तो हमें उक्त विभाजन की पर्याप्त सार्थकता प्रतीत होती है, क्योंकि प्रागभाव को न मानने पर संसार की सभी वस्तुएँ अनादि हो जाएँगी तथा प्रध्वंसाभाव को मान्यता प्रदान न करने पर संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त होंगी।

इसीप्रकार अन्योन्याभाव को न मानने पर सभी वस्तुएँ एक समान होंगी तथा यदि अत्यन्ताभाव को न माने तो संसार की सभी वस्तुओं की स्थिति भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में होगी, जो सर्वथा असम्भव है।

(ii) लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने 'अभाव' के विषय में विचारविमर्श किया है, किन्तु इसे पदार्थ के रूप में केवल न्यायवैशेषिक और भाट्टमीमांसक दर्शनों में ही मान्यता प्रदान की गई है।

---

1. त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव: (तर्कसंग्रह)।

(iii) इसके विपरीत प्रभाकर मीमांसक, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन में अभाव विषयक सिद्धान्त का निषेध किया गया है।

(iv) सांख्यदर्शन भी इसकी बाह्य वस्तु विषयक मान्यता से सहमत नहीं है।

(v) वैशेषिकदर्शन द्वारा स्वीकार किए गए सप्तम एवं अन्तिम पदार्थ 'अभाव' का यहाँ भेद सहित कथन किया गया है।

(vi) महर्षि कणाद एवं प्रशस्तपाद ने आरम्भ में केवल छः भाव पदार्थों को ही मान्यता प्रदान की हैं, किन्तु पश्चात्वर्ती श्रीधर, उदयन एवं शिवादित्यादि आचार्यों ने इस 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ को भी स्वीकार किया है।

(vii) पदार्थों में परिगणित होने के कारण इसके अस्तित्व, अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्वादि विशेषताओं की स्वतः अभिव्यक्ति होती है।

(viii) डॉ० दयानन्द भार्गव के इस विषय में विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं–"इतना निश्चित है कि चाहे तात्त्विक दृष्टि से अभाव की सत्ता न हो, किन्तु व्यवहार के लिए इसकी सत्ता मानकर चलने से तार्किक पद्धति में बहुत सुविधा हो जाती है।"[1]

(ix) अभाव विषयक उक्त विवेचन को संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-9)

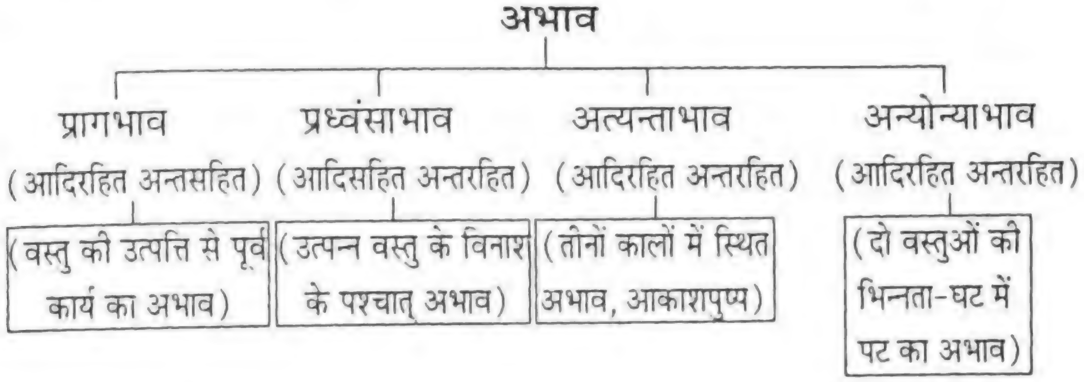

अवतरणिका–यहाँ तक सप्त पदार्थों का उद्देश्य कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार लक्षणपरिच्छेद का आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम पृथिवी नामक प्रथम द्रव्य पदार्थ की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए कहते हैं कि–

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 23

(2) द्रव्यलक्षणप्रकरणम्

पृथिव्या लक्षणं तस्या भेदाश्च–

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा–नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाऽग्रवर्ति विषयो मृत्पाषाणादिः।

पदच्छेद–तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा नित्या-अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनः त्रिविधा-शरीर-इन्द्रिय-विषय भेदात्। शरीरम् अस्मद्-आदीनाम्। इन्द्रियम् गन्धग्राहकम् घ्राणम् नासा-अग्रवर्ति। विषयः मृत्-पाषाणादिः।

दीपिका–तत्रोद्देशादिक्रमानुसारात् पृथिव्या लक्षणमाह–गन्धवतीति। नाम्ना पदार्थसङ्कीर्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका। ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, अवयवगन्धस्यैव तत्र प्रतीतिसम्भवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात्। किञ्चोत्पन्नविनष्टघट-दावव्याप्तिरिति चेन्न, गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात्। ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेन्न; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र संयुक्तसमवायेन भानाङ्गीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेऽतिव्याप्तिरिति चेन्न; सर्वाधारताप्रयोजकसम्बन्धभिन्नसम्बन्धेन लक्षणस्याभि-मतत्वात्।

पृथिवीं विभजते–सा द्विविधेति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। अनित्यत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम्। प्रकारान्तरेण विभजते–पुनरिति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदुःखान्तरसाक्षात्कारो भोगः। शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवं च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्। गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्। गन्धवान् विषयः पार्थिवविषयः। इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम्। पार्थिवशरीरं दर्शयति–शरीरमिति। पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति–इन्द्रियमिति। गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम्। घ्राणमिति संज्ञा। नासाग्रवर्त्याश्रयोक्तिः। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। पार्थिवविषयं दर्शयति–विषय इति।

अनुवाद–उन द्रव्यों में प्रथम परिगणित गन्ध से युक्त 'पृथिवी' कहलाती है। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है। जिसमें नित्य पृथिवी परमाणुस्वरूप है

तथा अनित्य कार्यरूप। तत्पश्चात् शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से यही पृथिवी तीन प्रकार की होती है। हमारा शरीर 'पार्थिव शरीर' है। नासिका के अग्रभाग में स्थित गन्ध को ग्रहण करने वाला 'घ्राण नामक इन्द्रिय' है। मिट्टी, पाषाण आदि इसके 'विषय' हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने अपनी मान्यता के अनुसार सात पदार्थों का उल्लेख करने के बाद, सर्वप्रथम कहे गए द्रव्य नामक पदार्थों के नौ भेदों में सबसे पहले पृथिवी नामक द्रव्य की विस्तार से व्याख्या करते हुए उसका लक्षण किया–

पृथिवी का लक्षण

तत्र गन्धवती पृथिवी–अर्थात् उन नौ द्रव्यों में से पृथिवी नामक द्रव्य की विशेषता उनका गन्धयुक्त होना है। दूसरे शब्दों में–गन्ध को पृथ्वी का असाधारणधर्म भी कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि कणाद[1] ने रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी "ऐसा कथन करते हुए पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार गुणों का उल्लेख किया है तथा भाष्यकार प्रशस्तपाद ने इसमें चौदह गुणों की स्थिति मानी है।"[2] जबकि तर्कसङ्ग्रहकार अन्नंभट्ट इसके केवल एक गुण 'गन्ध' को ही मान्यता प्रदान करते हैं। इसका अभिप्राय यही कहा जा सकता है कि अन्य सभी गुणों का व्यावर्तक होने से 'गन्ध' ही यहाँ मुख्य रूप से कहा गया है, क्योंकि यहाँ पृथिवी की अवधारणा केवल स्थूल ही नहीं, अपितु सूक्ष्मातिसूक्ष्म पार्थिव कणों को ध्यान में रखकर की गई है।

इस अंश की व्याख्या करते हुए तर्कसङ्ग्रहकार ने अपने इस पृथिवी लक्षण के विषय में तीन शङ्काओं का उल्लेख करके स्वतः ही उनका समाधान प्रस्तुत किया है। तदनुसार–

(क) शङ्का–एक ही पदार्थ में सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों मिलकर परस्पर विरोधी होने से यदि उसे गन्धरहित कर दें तो आपका यह लक्षण वहाँ लागू नहीं होगा।

समाधान–इसके लिए गन्धवती शब्द में प्रयुक्त 'वत्' का अर्थ 'समवाय' माने अथवा फिर एक 'चित्रगन्ध' की परिकल्पना की जाए। अलग-अलग स्थलों पर

1. वैशेषिकसूत्र–2/1/1
2. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व द्रवत्व एवं संस्कार। प्रशस्तपाद भाष्य-सम्पा० श्री नारायण मिश्र, चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966, पृ० 95-96

भिन्न-भिन्न गन्ध की प्रतीति के कारण 'चित्रगन्ध' की कल्पना करना भी उचित नहीं है। अत: यहाँ 'वत्' का समवाय अर्थ करना ही सङ्गत होगा। जिससे इस शङ्का का समाधान स्वत: ही हो जाएगा।

(ख) शङ्का–ऐसी मान्यता है कि द्रव्य की उत्पत्ति के प्रथम क्षण में वह निर्गुण होता है। इसलिए उसमें उस क्षण गन्ध भी नहीं होगी। अत: आपका यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त होगा।

समाधान–यहाँ हमें गन्ध-समान-अधिकरण-द्रव्यव्यापार-जातिमत्त्व रूप ही अभिप्रेत है। अत: ऐसे दोष की सम्भावना नहीं होगी।

(ग) शङ्का–जलादि में भी गन्ध की प्रतीति होती है। अत: उस स्थिति में आपके पृथिवी के लक्षण की उसमें भी अतिव्याप्ति होगी।

समाधान–पृथिवी के ही परमाणुओं के संयोग के कारण जल आदि में गन्ध की प्रतीति होती है। जल में अपनी कोई गन्ध नहीं होती है।

(घ) शङ्का–इसके अतिरिक्त काल के सर्वाधार होने से आपकी पृथिवी का लक्षण उसमें अतिव्याप्त हो जाएगा।

समाधान–ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वाधार होने के कारण होने वाला सम्बन्ध हमें यहाँ तथा अन्य लक्षणों में अभिप्रेत नहीं है। अत: समवाय सम्बन्ध से पृथिवी का गन्धयुक्त होना सर्वथा निर्दुष्ट लक्षण माना जा सकता है, क्योंकि यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवादि दोषों से पूर्णतया मुक्त है।

यहाँ तक लक्षण की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थकार इसके दो भेदों का उल्लेख करते हैं–

पृथिवी के भेद–सा द्विधा नित्या-अनित्या च। अर्थात् वह गन्धवती पृथिवी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की होती है। यहाँ उन्होंने परमाणुरूप पृथिवी को नित्य और कार्यरूप पृथिवी को अनित्य कहा है।[1] दूसरे शब्दों में जो नष्ट न हो सके वह नित्य और जो नष्ट हो जाए वह अनित्य है। इस दृष्टि से परमाणुरूपा पृथिवी को ही नित्य माना जाएगा, क्योंकि परमाणु नित्य हैं, वे न तो उत्पन्न होते हैं तथा न ही उनका विनाश सम्भव है। जबकि कार्य हमेशा अनित्य होता है, क्योंकि उत्पन्न होने से पहले उसका अभाव होता है। इसलिए कार्यरूपा पृथिवी को यहाँ अनित्य कहा गया है।

1. नित्य परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। (तर्कसङ्ग्रह)।

दीपिका टीका में ग्रन्थकार ने नित्यत्व एवं अनियत्व को भी परिभाषित किया है। तदनुसार–

(क) ध्वंसाप्रतियोगित्वम् नित्यत्वम्–ध्वंस का प्रतियोगी न होना नित्यत्व है।

(ख) ध्वंसप्रतियोगित्वम् अनित्यत्वम्–अर्थात् ध्वंस का प्रतियोगी होना ही अनित्यत्व है।

इसके विपरीत तर्कसङ्ग्रह की एक टीका पदकृत्य में–"ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्" कहकर ध्वंस से भिन्न होते हुए ध्वंस का प्रतियोगी न होने पर 'नित्य' होने की बात का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त नित्य की एक अन्य परिभाषा का भी उल्लेख मिलता है–'त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिन्नत्वम् नित्यत्वम्'[1] अर्थात् जो तीनों कालों में विद्यमान रहे वही नित्य है। इस दृष्टि से ग्रन्थकार का परमाणुरूपा पृथ्वी को नित्य कहना समीचीन प्रतीत होता है।

अन्य विभाजन–उक्त द्विधा विभाजन के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से भी पृथिवी नामक द्रव्य का तीन प्रकार से विभाजन किया है।[2] प्रायः सभी वैशेषिक-विद्वान् इस विभाजन को अनित्य पृथिवी का स्वीकार करते हैं। प्रशस्तपाद ने स्वयं–'त्रिविधं चास्य कार्यम्' इसप्रकार उल्लेख करके स्पष्टरूप से इस विभाजन को कार्यरूप पृथिवी का माना है। जो वस्तुतः अनित्य ही है। जो प्रसङ्ग एवं वर्ण्यविषय की दृष्टि से सर्वथा उचित भी प्रतीत होता है।

वस्तुतः विद्वानों को इस विषय में शङ्का स्वयं अन्नम्भट्ट की दीपिका टीका में 'प्रकारान्तरेण विभजते' इत्यादि उल्लेख के कारण हुई है। जिसका डॉ० भार्गव ने अपनी तर्कसङ्ग्रह व्याख्या में सङ्केत भी किया है[3], क्योंकि वहाँ उन्होंने इसका अर्थ इसप्रकार किया है–

"अर्थात् यह विभाजन एक अन्य प्रकार से किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि यह एक उपविभाजन नहीं है, अपितु प्रकारान्तर से किया जाने वाला एक स्वतन्त्र विभाजन है।"

इस प्रसङ्ग में दीपिका टीका के व्याख्याकार नीलकंठ के विचार भी अवलोकनीय

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 26
2. पुनस्त्रिधा, शरीरेन्द्रियविषयभेदात् (तर्कसंग्रह)।
3. तर्कसङ्ग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 27

हैं। तदनुसार-"अत्र नित्यपृथिव्याः शरीरेन्द्रियभिन्नत्वरूपविषयलक्षणाक्रान्तत्वेन विषयान्तर्गतत्वमिति पृथिव्यास्त्रिविधत्वमत एव मूले पुनस्त्रिविधेत्युक्तिः संगच्छत इति ध्येयम्। केचित्तु अनित्यपृथिव्या एव त्रैविध्यं वर्णयन्ति।"

अर्थात् भले ही हम किसी भी विभाजन को स्वीकार करें। वास्तविकता यह है कि यह विभाजन नित्या पृथिवी पर नहीं घटता है। अतः इसे अनित्या पृथिवी का विभाजन मानना ही उचित है, कुछ विद्वान् तो इसे अनित्य पृथिवी के ही तीन प्रकार मानकर वर्णन करते हैं।

इसप्रकार यहाँ पृथिवी का पहले नित्य-अनित्यरूप में विभाजन करके पुनः अनित्य पृथिवी के शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से तीन भेद करते हुए कुल चार प्रकार की पृथिवी मानना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यदि हम 'प्रकारान्तर विभाजन' का सम्बन्ध अनित्य पृथिवी से मानते हैं तो समस्या का समाधान स्वतः ही हो जाता है। यही विचार प्राचीन आचार्यों से मेल खाता है।

इस विभाजन को इसप्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-10)

(तत्र गन्धवती) पृथिवी

नित्या (परमाणुरूपा) — (द्विविधा) — अनित्या (कार्यरूपा)

अनित्या → पुनः सा त्रिविधा

शरीरं (अस्मदादीनाम्) — इन्द्रियं (गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ती) — विषयः (भेदात्) (मृत्पाषाणादि)

अब हम ग्रन्थकार की दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय और विषयगत पृथिवी के भेदों की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे-

(क) शरीरस्वरूपा अनित्या पृथिवी-शरीर का निर्माण गन्धवती पृथिवी से होता है। इसी कारण यह पार्थिव शरीर भी कहा जाता है। इसके लिए हम सभी मैं, मेरा या हमारा शरीर इत्यादि प्रयोग करते हैं, जिसकी ओर तर्कसङ्ग्रहकार ने यहाँ 'शरीरमस्मदादीनाम्' कहकर सङ्केत किया है।

तत्पश्चात् इसकी व्याख्या दीपिका टीका में करते हुए आचार्य अन्नंभट्ट पार्थिव शरीर को 'आत्मा का भोगायतन' कहते हुए करते हैं, क्योंकि आत्मा इसी पार्थिव

शरीर के माध्यम से सांसारिक भोगों का अनुभव करता है। यहाँ भागों से अभिप्राय सुखदु:खादि भोगों से ग्रहण करना चाहिए।[1] लक्षणावली के प्रणेता आचार्य उदयन का मानना है कि–"यह शरीर अन्तिम अवयवी है, जिससे आच्छादित हुआ आत्मा सुख:दु:ख का अनुभव करता है।"

अन्तिम अवयवी से अभिप्राय यहाँ स्वयं कुछ अवयवों से निर्मित, किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक न होने से है[2] जैसे–हमारा शरीर।

वैशेषिकसूत्र (4/2/1) के व्याख्याकार उपस्कार ने–अन्तिम अवयवी और चेष्टावान् को शरीर संज्ञा प्रदान की है। यहाँ चेष्टा से अभिप्राय इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट की निवृत्ति से लिया गया है।[3] यद्यपि हमारे हाथ, पैर आदि भी चेष्टावान् हैं, किन्तु वे स्वयं शरीर के अवयव हैं। अत: अन्तिम अवयवी नहीं कहलाएँगे।

वैशेषिकदर्शन इस पार्थिव शरीर को प्रथमत: योनिज एवं अयोनिज दो भागों मे विभाजित करने का पक्षधर है। इनमें भी शुक्र एवं शोणित के संयोग से निर्मित पक्षी-पशुओं मानव आदि शरीर योनिज तथा मनु आदि सिद्धों का शरीर अयोनिज की श्रेणी में माने गए हैं[4], क्योंकि ये स्वयंभू हैं। इनमें योनिज शरीरों का हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जबकि अयोनिज शरीरों की पुष्टि में 'आप्तप्रमाण' ही सहायक होता है।

वैशेषिकदर्शन में योनिज शरीर के जरायुज और अण्डज भेद से पुन: दो विभाग किए गए हैं तथा मानव, पक्षी, सर्प आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[5] जबकि विश्वनाथ पञ्चानन ने अयोनिज में भी स्वेदज और उद्भिज्ज भेद करते हुए, कीट, जूँ, खटमल आदि एवं वृक्ष लता आदि को क्रमश: उदाहरण रूप में उद्धृत किया है।[6]

पार्थिव शरीर के प्रस्तुत पञ्चविध विभाजन को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

---

1. सुखदु:खादि साक्षात्कारो भोग:। (दीपिका)
2. अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्। (सिद्धान्तचन्द्रोदय-6)।
3. हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थ: स्पन्द:। वैशेषिकसूत्र 4/2/1
4. तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। शुक्रशोणित सन्निपातजं योनिजम्। (प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० 82)
5. किरणावली, पृ० 39
6. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 136

(चित्र-11)

शरीर (पार्थिव)

- योनिज
  - जरायुज (मनुष्य, पशु आदि)
  - अण्डज (पक्षी)
- अयोनिज
  - स्वयंभू (मनु आदि)
  - स्वेदज (जूँ खटमलादि)
  - उद्भिज्ज (वृक्ष लतादि)

इसप्रकार अनित्य पृथिवी के शरीर नामक भेद का उल्लेख करने के बाद 'इन्द्रिय' नामक भेद का कथन करते हैं–

(ख) इन्द्रियस्वरूपा अनित्या पृथिवी–दीपिका टीका में ग्रन्थकार ने मन के संयोग से ज्ञान के कारण बनने वाले शरीर से संयुक्त अङ्ग को श्रोत्र नामक इन्द्रिय माना है, जो स्वयं शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी गुण का आश्रय न हो–

शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयम्।

इन्द्रियों का ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दो रूप में विभाजन किया गया है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणी, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं। ये सभी बाह्य इन्द्रियों के रूप में मानी गई हैं, जबकि 'मन' को उभयात्मक मानते हुए अन्तरिन्द्रिय कहा गया है।

नैयायिकों ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए इन्द्रिय की महत्ता का प्रतिपादन किया है–

आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते।

अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर तत् विषयक ज्ञान मन को सम्प्रेषित करती हैं तथा मन इसे आत्मा तक पहुँचाता है, इसप्रकार किसी भी पदार्थ या वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान होता है। इनमें मन, आत्मा और इन्द्रिय दोनों से ही सम्बन्ध रखता है। अतः उसकी महत्ता सर्वाधिक मानी गई है।

प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ 'द्वार' स्वरूप मानी गई हैं। कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार वैशेषिकदर्शन के विद्वानों ने घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति पृथिवी से मानी है। तदनुसार–प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। अतः पृथ्वी में स्थित गन्ध एक कार्य है। इसका यह कारण वस्तुतः घ्राणेन्द्रिय ही है।[1]

---

1. किरणावली, उदयनाचार्य, पृ० 41-42

प्रस्तुत विवेचन को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-

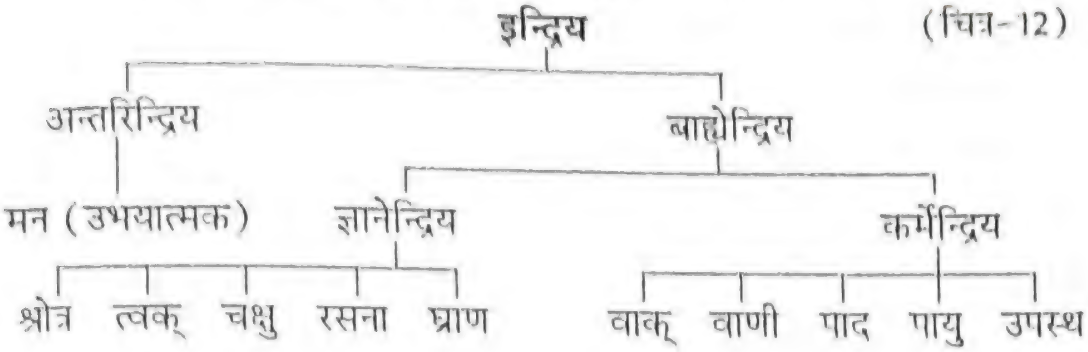

(चित्र-12)

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

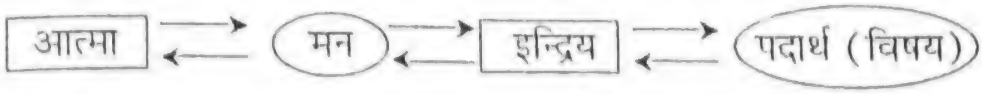

(ग) विषयस्वरूपा अनित्या पृथिवी–शरीर एवं इन्द्रिय के अतिरिक्त पृथिवी के सभी भेदोपभेदों का अन्तर्भाव इसके पार्थिव विषय के अन्तर्गत हो जाता है। इन्द्रिय आदि का बन्धन करने वाला ही विषय कहा गया है।[1] प्रशस्तपादभाष्य में द्व्यणुक एवं त्र्यणुक आदि से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी की गणना 'विषय' के अन्तर्गत की गयी है।[2]

सामान्यरूप से 'विषय' शब्द से अभिप्राय समस्त ज्ञेय पदार्थों से ग्रहण किया जाता है, किन्तु इस स्थिति में शरीर एवं इन्द्रिय का अन्तर्भाव भी 'विषय' के ही अन्तर्गत हो जाता है, किन्तु वैशेषिकों ने इसका समाधान यह कहकर किया है कि यद्यपि शरीर और इन्द्रिय भी विषय ही हैं, तथापि बालबुद्धिवैशद्य के लिए ही इनका अलग से निरूपण किया गया है।[3]

इसके विपरीत व्योमशिवाचार्य का मत है कि–"विषय वे हैं जो हमारे सुख-दुःख की अनुभूति में सहायक हैं एवं जिन्हें बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।"[4] लक्षणावलीकार इसे प्रतीयमान भोग का साधन स्वीकार करते हैं–"प्रतीयमानतया भोगसाधन विषयः"।[5]

तर्कसङ्ग्रहकार अन्नंभट्ट ने तर्कदीपिका टीका में 'शरीरेन्द्रियभिन्न विषयः'

---

1. विषिणोति बध्नाति इन्द्रियादि विषयः।
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 19
3. वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव। भेदेन कीर्तनं तु बालधीवैशद्याय।
4. व्योमवती, व्योमशिवाचार्य, चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1930, पृ० 234
5. वही, पृ० 6

कहकर इसकी केवल शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्नता प्रतिपादित की है, जबकि श्रीधराचार्य शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न मानने के साथ-साथ इसे आत्मा के उपभोग का साधन स्वीकार करते हैं।[1]

यद्यपि ग्रन्थकार ने विषय की व्याख्या में मृत् एवं पाषाण दो भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु यहाँ प्रयुक्त आदि पद से 'स्थावर' का भी ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत वृक्ष, लता, वनस्पति आदि समस्त पदार्थ ग्रहण किए जा सकते हैं।

उपर्युक्त अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

(चित्र-13)

विषय

मृत्	पाषाण	स्थावर
(मिट्टी)	(पत्थर)	(वृक्ष, लता, वनस्पति)

विशेष– (i) पृथिवी के 'पुनस्त्रिविधा' इत्यादि कथन द्वारा किए गए तीन भेदों को शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से नित्य परमाणुरूप पृथिवी का भी माना जा सकता है। जैसी कुछ विद्वानों ने सम्भावना व्यक्त भी की है, किन्तु इस स्थिति में योगी का शरीर एवं इन्द्रिय तथा परमाणुरूप पृथिवी को उनका विषय मानना होगा। केवल कार्यरूप पृथिवी के भेद मानने पर इस कल्पना की आवश्यकता नहीं है।

(ii) पृथिवी के विभाजन में ग्रन्थकार के व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रतीति हो रही है।

(iii) पृथिवी में गन्ध की स्थिति गुण-गुणी की दृष्टि से समवाय सम्बन्ध से कही जा सकती है, जिसे 'वत्' के अर्थ द्वारा प्रदर्शित किया गया है (गन्धवती)।

(iv) सांख्यसिद्धान्त में पञ्चीकरण के सिद्धान्त का पालन करते हुए पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की स्थिति को स्वीकार किया है, किन्तु मुख्य गुण उसका 'गन्ध' ही है।

(v) महर्षि कणाद ने अपने सूत्रों में पृथ्वी के चार गुण-रूप-रस-गन्ध और स्पर्श को मान्यता प्रदान की है तथा शङ्कर मिश्र ने इसी आधार पर पृथिवी के चार वैकल्पिक लक्षण भी दिए हैं। इस दृष्टि से तर्क संग्रहकार की स्वतन्त्र मान्यता भी परिलक्षित होती है।

---

1. न्यायकन्दली, गंगानाथ झा ग्रन्थमाला, 1963, पृ० 82

(vi) गन्धवती पृथिवी से पूर्व 'तत्र' पद का आचार्य नीलकंठ ने 'पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के मध्य' अर्थ किया है [पृथिव्यादिषु (नवद्रव्येषु) मध्ये इत्यर्थः]।

(vii) तर्कसङ्ग्रह की कुछ प्रतियों में प्रयुक्त पुनस्त्रिविधा से पूर्व 'सा' पाठ की उपस्थिति के कारण कुछ विद्वान् त्रिविध विभाजन कार्यरूपा पृथिवी का ही मानने के पक्षधर हैं।

(viii) डॉ० दयानन्द भार्गव ने कणाद के सूत्रों में यह तीन प्रकार का विभाजन स्पष्टरूप से कार्यरूपा पृथिवी का होने के कारण अन्नंभट्ट द्वारा कणाद के विरोध में न जाने की किञ्चिद संभावना व्यक्त करते हुए इस विभाजन को कार्यरूप पृथिवी का ही माना है।

(ix) समस्त सांसारिक प्राणियों के विभाजन की वैशेषिकों की दृष्टि कुछ भिन्नता लिए हुए है, क्योंकि अन्य दर्शनों में चार प्रकार की सृष्टि मानी गई है–जरायुज, (मनुष्यादि), अण्डज (पक्षी आदि), स्वेदज (जूँ आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्षादि), किन्तु यहाँ अयोनिज एक स्वतन्त्र विभाग मानकर 'धर्म विशेष सहित अणुओं के द्वारा' मनु आदि दिव्यपुरुषों की सृष्टि मानी है।

(x) साथ ही यहाँ उद्भिज्ज वृक्षादि तथा स्वेदज जूँ आदि को भी अयोनिज सृष्टि में ही परिगणित किया गया है, जिसे स्वतन्त्र परिकल्पना कहा जा सकता है।

(xi) इस प्रसङ्ग में एक बात की भी शङ्का कुछ विद्वानों द्वारा की गई है कि–"यद्यपि परमाणु आदि अतीन्द्रिय होने के कारण भोगने में नहीं आते हैं तथापि क्या उन्हें विषय माना जाना चाहिए, क्योंकि भाषा-परिच्छेद में स्पष्ट रूप से परमाणुओं का विषय से बहिष्कार किया है।"

(xii) दूसरी शङ्का यह भी की गई है कि प्रशस्तपाद वृक्षों को विषय की श्रेणी में रखते हैं तथा विश्वनाथ शरीर की, तो फिर वस्तुस्थिति क्या है? यद्यपि शंकर मिश्र ने वृक्षों को चेष्टावान् न होने से उनके शरीर व्यवहार का निषेध किया है।[1]

अवतरणिका–द्रव्य विवेचन प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम 'पृथिवी' नामक द्रव्य की परिभाषा एवं इसके भेदोपभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया। पुनः द्वितीय द्रव्य जल का उसी शैली में उल्लेख करते हैं–

---

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 30-31

अपां कि लक्षणम्? तासां कति भेदाः

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः–नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः। अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाऽग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

पदच्छेद–शीत-स्पर्शवत्यः आपः ताः द्विविधाः। नित्याः अनित्याः च। नित्याः परमाणुरूपाः अनित्याः कार्यरूपाः। पुनः त्रिविधाः-शरीर-इन्द्रिय-विषय भेदात्। शरीरम् वरुणलोके। इन्द्रियम् रसग्राहकम् रसनम् जिह्वाग्रवर्ति। विषय-सरित्समुद्र-आदि।

दीपिका–अपां लक्षणमाह-शीतेति। उत्पन्नविनष्टजलेऽव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम्। शीतं शिलातलमित्यादौ जलसम्बन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः। अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम्।

अनुवाद–शीतस्पर्श वाला जल है। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है। नित्य (जल) परमाणुरूप है तथा अनित्य कार्यरूप। पुनः यही जल शरीर इन्द्रिय और विषयभेद से तीन प्रकार का होता है। शरीररूप जल वरुण लोक में है। रस को ग्रहण करने वाली 'रसना' नामक इन्द्रिय जिह्वा के अग्रभाग पर विद्यमान है। नदी, समुद्रादि विषय हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार सर्वप्रथम जल का लक्षण देते हुए कहते हैं कि–"शीतल स्पर्श वाला जल होता है।" तत्पश्चात् उन्होंने पृथिवी के समान ही पहले इसके नित्य-अनित्य भेदों का कथन करके, शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से पुनः तीन भेदों का उल्लेख किया है। हमारे विचार से यहाँ ये तीनों भेद भी पहले के समान ही अनित्य कार्यरूप जल के किए गए हैं।

तत्पश्चात् जलीय शरीर की स्थिति यहाँ वरुणलोक में बतायी है, किन्तु इस विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि ग्रन्थकार ने न तो मूल तर्कसङ्ग्रह में और न ही अपनी तर्कदीपिका टीका में वरुणलोक की स्थिति को स्पष्ट किया है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इसी काल्पनिक चिन्तन के कारण वैशेषिकदर्शन के वस्तुवाद पर प्रश्नचिह्न भी लगाया है। डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने तो ग्रन्थकार की इस प्रवृत्ति की स्पष्टरूप से आलोचना भी की है। तदनुसार–"दर्शनशास्त्र में जो बुद्धिवाद पर निर्भर है, ऐसी कल्पनाएँ नहीं होनी चाहिए।"[1]

---

1. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, विश्वनाथ, सम्पा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985, पृ० 147

इसके अतिरिक्त इसके इन्द्रियस्वरूप की व्याख्या में ग्रन्थकार ने कहा कि–रस रूप स्वाद का ग्रहण करने वाली, जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित इन्द्रिय जिसे 'रसना' भी कहा जाता है इसका इन्द्रिय स्वरूप है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि न्यायवैशेषिकदर्शन में इन्द्रिय की स्वतन्त्र स्थिति को मान्यता प्रदान की गई है, वह केवल शरीर का अङ्ग यहाँ नहीं है। इस दृष्टि से जहाँ वह जलीय इन्द्रिय रसना कही गई है, जिसके द्वारा 'रस' अर्थात् स्वाद को ग्रहण किया जाता है।

क्योंकि जिह्वा का अग्रभाग ही इस कार्य में मुख्यरूप से सहायक होता है, इसलिए ग्रन्थकार ने यहाँ रसनेन्द्रिय की स्थिति जिह्वा के अग्रभाग पर मानी है। इसी प्रसङ्ग में पुनः एक शङ्का की गई है कि–जलीय शरीर तो जल के बुलबुले के समान अत्यन्त तरल होने से स्वादादि भोग भोगने में समर्थ ही नहीं हो सकेगा? जिसका समाधान इसप्रकार किया गया है–

"जलीय शरीर मुख्यरूप से जलीय परमाणुओं से निर्मित होने पर भी वास्तव में उनमें पार्थिव परमाणुओं का कुछ अंश भी अवश्य रहता है, जिसके कारण वे परस्पर एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।"[1]

वैशेषिकदर्शन में इन्हें अयोनिज श्रेणी में परिगणित किया गया है।[2]

तत्पश्चात् आचार्य अन्नंभट्ट ने इसके विषयस्वरूप का उल्लेख करते हुए सरिता एवं समुद्र दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, किन्तु प्रशस्तपाद भाष्य में इसके सरिता, समुद्र, हिम, ओले आदि जलीय तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। तर्कसंग्रह की दीपिका टीका में शिलातल में शीतलता की प्रतीति के सम्बन्ध में स्वयं शङ्का उपस्थित करके समाधान प्रस्तुत किया है कि–"उसमें जलीय अंश की सत्ता के कारण ही हमें शीतलता का अनुभव होता है।" (जल सम्बन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति)।

इस अंश की शेष सम्पूर्ण व्याख्या उनके मत में पृथिवी के अंश के समान ही माननी चाहिए। इसलिए दीपिका टीका में उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

विशेष–(i) महर्षि कणाद ने जल नामक द्रव्य की "रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः। स्निग्धाः"[3] इत्यादि परिभाषा देते हुए इसे रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्नेहयुक्त माना

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 32
2. आप्यतैजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव। वैशेषिकदर्शन, उपस्कार भाष्य, 4/2/5
3. वैशेषिकसूत्र-2/1/2

है, किन्तु उन्होंने इसका कोई वर्गीकरण नहीं किया है। यह वस्तुतः व्याख्याकारों द्वारा बाद में जोड़ा गया है।

(ii) यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से जल तत्त्व पर विचार करें तो वहाँ यह हाइड्रोजन के दो अणुओं एवं ऑक्सीजन के एक अणु से निर्मित माना गया है ($2H_2+O_2=2H_2O$)। हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन दोनों ही रङ्ग एवं स्वाद से रहित गैसीय तत्त्व हैं।

(iii) यह वैज्ञानिक दृष्टि वैशेषिक पदार्थशास्त्र से पर्याप्त मेल खाती है, क्योंकि यहाँ द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि क्रम में परमाणुओं के निरन्तर संयोग से ही पदार्थ की उत्पत्ति कही है। अतः अकेला हाइड्रोजन अथवा ऑक्सीजन 'जल' तत्त्व को उत्पन्न करने में असमर्थ है।

(iv) कणाद के 'स्निग्ध' पद में विद्वानों ने ऑक्सीजन और हाइड्रोजन इन दोनों गैसीय तत्त्वों की दाह विषयक अनुकूलता एवं दाह विषयक प्रतिकूलता की ओर सङ्केत करते हुए क्रमशः प्रकृष्टस्नेह और अपकृष्ट स्नेह की कारणता प्रतिपादित की है[1] इसी क्रम में अपने कथ्य की पुष्टि में "तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद् दहनस्यानुकूलता" इत्यादि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का उद्धरण भी प्रस्तुत किया गया है।

(v) वैशेषिक विद्वानों ने जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार इत्यादि चौदह गुणों को मान्यता प्रदान की है तथा रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व एवं स्नेहत्व को अन्य द्रव्यों का व्यवच्छेदक माना है।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-14)

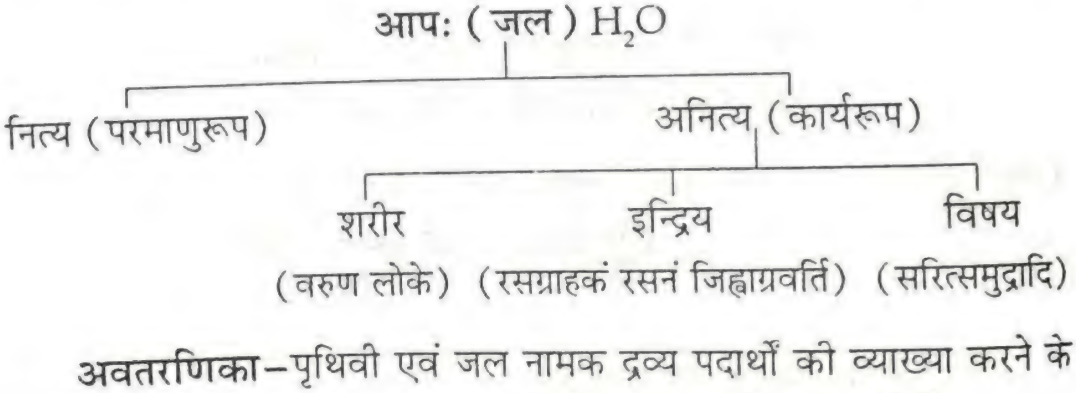

अवतरणिका–पृथिवी एवं जल नामक द्रव्य पदार्थों की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'तेज' नामक द्रव्य पदार्थ का कथन करते हुए कहते हैं–

---

1. तर्कसंग्रह, डॉ० पंकज कुमार मिश्र, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 35

तेजसो लक्षणं तद्भेदाश्च–

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधम्–नित्यमनित्यञ्च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम्-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधः–भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

पदच्छेद–उष्ण-स्पर्शवत् तेजः। तत् च द्विविधिम्-नित्यम् अनित्यम् च। नित्यम् परमाणुरूपम्। अनित्यम् कार्यरूपम्। पुनः त्रिविधम्-शरीर-इन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरम् आदित्यलोके। इन्द्रियम् रूपग्राहकम् चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयः चतुर्विधः भौम-दिव्य-औदर्य-आकरजभेदात्। भौमम् वह्नि-आदिकम्। अविन्धनम् दिव्यम् विद्युत् आदि। भुक्तस्य परिणामहेतुः औदर्यम्। आकरजम् सुवर्ण आदि।

दीपिका–तेजसो लक्षणमाह–उष्णेति। उष्णं जलमिति प्रतीतेस्तेजः सम्बन्धानुविधायित्वान्नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते–भौमेति।

ननु सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वाद् गुरुत्वाद्वा हरिद्रादिवदिति चेन्न, अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृते द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात्। सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः। तस्मात् पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात् तैजसत्वसिद्धिः। तत्रोष्णस्पर्शभास्वररूपयोरुपष्टम्भकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात् सुवर्णं तैजसमिति सिद्धम्।

अनुवाद–उष्ण स्पर्श वाला तेज है। वह दो प्रकार का होता है-नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है तथा अनित्य कार्यरूप। शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से वह तेज पुनः तीन प्रकार का होता है। शरीर आदित्यलोक में है। काली पुतली के अग्रभाग में स्थित इन्द्रिय रूप को ग्रहण करने वाली 'चक्षु' नामक इन्द्रिय है। भौम, दिव्य, औदर्य एवं आकरज भेद से विषय चार प्रकार का होता है। जल ही है ईंधन जिसका ऐसी विद्युत् आदि दिव्य है तथा खाए हुए को पचाने वाला औदर्य (नामक तेज) है, (जबकि) सुवर्ण आदि आकरज हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने 'तेज' नामक द्रव्य को परिभाषित करते हुए इसे उष्ण, स्पर्श वाला कहा है तथा पृथिवी एवं जल के समान ही इसके नित्य-अनित्य दो भेदों का कथन किया है। इनमें भी नित्य परमाणुरूप होता है और अनित्य कार्यरूप।

इसी क्रम में दीपिका टीका में ग्रन्थकार ने एक शङ्का प्रस्तुत करके इसका समाधान यह कहकर दिया है कि–व्यवहार में हम जो प्रतिदिन 'उष्ण जल' ऐसा अनुभव करते हैं, इससे जल में तेज के लक्षण की अतिव्याप्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जल में उष्णता की यह प्रतीति वस्तुतः हमें तेज के संसर्ग के कारण होती है।

तत्पश्चात् आचार्य अन्नंभट्ट ने तेज के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से तीन भेदों का उल्लेख किया है। इनमें शरीर रूप तेज की स्थिति आदित्य लोक में बतायी है। आदित्य लोक की स्थिति कहाँ है? उसका क्या स्वरूप है? इस विषय में ग्रन्थकार ने कोई सङ्केत नहीं दिया है। यद्यपि पौराणिक साहित्य में सूर्यलोक को ही आदित्य लोक कहा गया है। इसे अयोनिज कहा जा सकता है, क्योंकि शुक्र एवं शोणित से सम्बन्धित होने के कारण पार्थिव शरीर ही केवल योनिज की श्रेणी में आ सकते हैं।[1]

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि यहाँ तैजस् शरीर की स्थिति आदित्यलोक में मानी है तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सूर्य में स्थित प्रचण्ड-गर्मी में किसी भी प्राणी की उपस्थिति किञ्चित्मात्र भी सम्भव नहीं है। डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने भी ऐसी ही शङ्का प्रदर्शित की है।[2]

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने रूप को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय को तैजस् संज्ञा प्रदान की है। तदनुसार यही तैजस् इन्द्रिय सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय को रूप का ज्ञान कराती है। आचार्य अन्नंभट्ट रूप ग्राहिका इस तैजस् इन्द्रिय की स्थिति आँख में काली पुतली के अग्रभाग में स्वीकार करते हैं (कृष्णताराग्रवर्ति)। यहाँ इन्होंने नैयायिकों के मत का अनुकरण किया है।

जबकि वैज्ञानिकों का इस विषय में मानना है कि काली पुतली का अग्रभाग वस्तुतः प्रकाश के अन्दर जाने का मार्गमात्र है, क्योंकि रूप को ग्रहण करने वाला अक्षिगोलक के अन्दर स्थित रैटीना है।

1. आप्यं तैजसं वायवीयञ्चायोनिजमेव शुक्रशोणितयोर्नियमेन पार्थिवत्वात्। (उपस्कारभाष्य शंकर मिश्र-4/2/11)
2. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (प्रत्यक्षखण्ड), डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० 151

दार्शनिक जगत् के कुछ विद्वानों का मानना है कि चक्षु नामक इन्द्रिय आँख से बाहर जाकर पदार्थ का स्पर्श करती है। तभी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। इस दृष्टि से चक्षु को प्राप्यकारी इन्द्रिय भी कहा जा सकता है, जबकि वैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो किसी वस्तु अथवा पदार्थ पर पड़ने वाली प्रकाश की किरणें ही उस पदार्थ के चित्र को नेत्र के रैटीना तक ले जाती हैं, जिससे वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। जैन नैयायिकों का भी यही मानना है।[1]

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने विषय की दृष्टि से–भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज, इन चार भेदों का उल्लेख किया है। तदनुसार–

(i) भौम–पृथिवी से उत्पन्न होने वाले वृक्षादि पदार्थों से प्रकट होने वाला अग्निरूप तेज ही वस्तुत: 'भौम' तेज कहलाता है। दूसरे शब्दों में इसे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली साधारण अग्नि भी कह सकते हैं।

(ii) दिव्य–इसकी परिभाषा विद्वानों ने 'दिवि भवमिति दिव्यम्' करते हुए अन्तरिक्ष में स्थित विद्युत् आदि को स्वीकार किया है।[2] जलीय ईंधन से उत्पन्न होने वाली वाड़वाग्नि को भी 'दिव्य' तेज की श्रेणी में ही माना गया है।

(iii) औदर्य–इसे हम दैनिक व्यवहार में 'जठराग्नि' के रूप में जानते हैं। यह खाए हुए अन्न को पचाती है। उदर (पेट) में स्थिति के कारण ही इसे 'औदर्य' संज्ञा प्रदान की गयी है।

(iv) आकरज–आकर अर्थात् खान से उत्पन्न होने वाला 'स्वर्णादि' आकरज तेज की श्रेणी में आता है।

विशेष– (i) विद्वानों ने भौम और दिव्य इन दोनों को तो निश्चयपूर्वक तेज की श्रेणी में रखा है, किन्तु अन्तिम दोनों औदर्य एवं आकरज में केवल लाक्षणिक अर्थों में ही तेज की स्थिति को स्वीकार किया है।[3]

(ii) डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने वैज्ञानिक दृष्टि से स्वर्णादि को तैजस् की कोटि में मानने से इन्कार किया है, क्योंकि अत्यधिक ताप के कारण स्वर्ण एवं चाँदी जैसे पदार्थ भी गैसीय अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अत: उनका द्रवत्व समाप्त हो जाता है।

---

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 34
2. किरणावली, उदयनाचार्य, सम्पादक-विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, 1997, पृ० 52
3. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 33

(iii) ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ण को तैजस् पदार्थों में परिगणन के सम्बन्ध में जो युक्ति यहाँ दी गई है, उस दृष्टि से उस समय सम्भवतः इतने ताप की उत्पत्ति सम्भव नहीं थी, जिससे स्वर्णादि भी वाष्पीय अवस्था को प्राप्त हो सकें, क्योंकि दीपिकाकार ने जो युक्ति दी है उसे निरापद नहीं कहा जा सकता है। तदनुसार-

"सुवर्ण न पृथिवी है न जल है, न वायु तथा इसे अन्तिम पाँच तत्त्वों के अन्तर्गत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जिसप्रकार मक्खन गर्मी पहुँचाने पर नष्ट हो जाता है, उस प्रकार सुवर्ण नष्ट नहीं होता है।"[1]

(iv) महर्षि कणाद ने रूप एवं स्पर्शयुक्त द्रव्य को तेज संज्ञा प्रदान की है–"तेजोयुक्तः स्पर्शवत्"।

(v) इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने इसकी तरलता की प्रवृत्ति को उपाधिजन्य मानकर जल से भी इसकी भिन्नता प्रतिपादित की है तथा वायु को रूप के अभाव में स्वर्ण से भिन्न कहा है।

(vi) दीपिकाकार ने उक्त तर्कों के परिप्रेक्ष्य में अन्त में सुवर्ण को तैजस् द्रव्य पदार्थ की श्रेणी में ही रखा है। उनका मानना है कि इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य द्वारा छिपा ली गयी है।

(vii) किन्तु दीपिकाकार के तर्कों को विद्वानों ने निर्दुष्ट नहीं माना है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में कोई भी पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता है तथा उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं–ठोस, द्रव और गैस। अतः इस आधार पर सुवर्ण को तैजस् की कोटि में मानना संगत नहीं है।

(viii) नैयायिकों ने सुवर्ण में चमकमात्र को देखकर ही इसे तैजस् की कोटि में रखा है।

(ix) ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन वैशषिक विद्वान् इस वैज्ञानिक तथ्य से परिचित थे कि धातुओं को स्थायीरूप से वायवीय रूप नहीं दिया जा सकता है। अतः उन्होंने सुवर्ण, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं को तैजस् के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

(x) यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो स्वर्ण के पिघलने पर भी इसके विनष्ट न होने का कारण भी हमें इसमें पार्थिव तत्त्वों की सत्ता ही प्रतीत होती है।

1. अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाश दर्शनेन....सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमान-द्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः (दीपिका टीका)।

(xi) वैशेषिकदर्शन के मूल सूत्रों में तैजस् का इसप्रकार विभाजन नहीं किया गया है।

(xii) वस्तुतः ग्रन्थकार ने प्रस्तुत विभाजन प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर किये हैं[1] तथा तर्कदीपिका में अपने ढंग से तर्क प्रस्तुत किए हैं।

(xiii) आचार्य शङ्करमिश्र ने तेज का विभाजन कुछ इसप्रकार किया है–

(क) रूप एवं स्पर्शयुक्त सूर्य का प्रकाश।

(ख) रूपसम्पन्न किन्तु व्यक्तरूप में स्पर्शरहित–चन्द्रमा का प्रकाश।

(ग) रूपसम्पन्न किन्तु अर्धव्यक्त स्पर्शयुक्त–नेत्रज्योति।

(घ) रूप अर्धव्यक्त किन्तु स्पर्श–पूर्णव्यक्त–लाल गर्म घट।

(xiv) प्रस्तुत ग्रन्थकारीय विवेचन को इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं–

(चित्र-15)

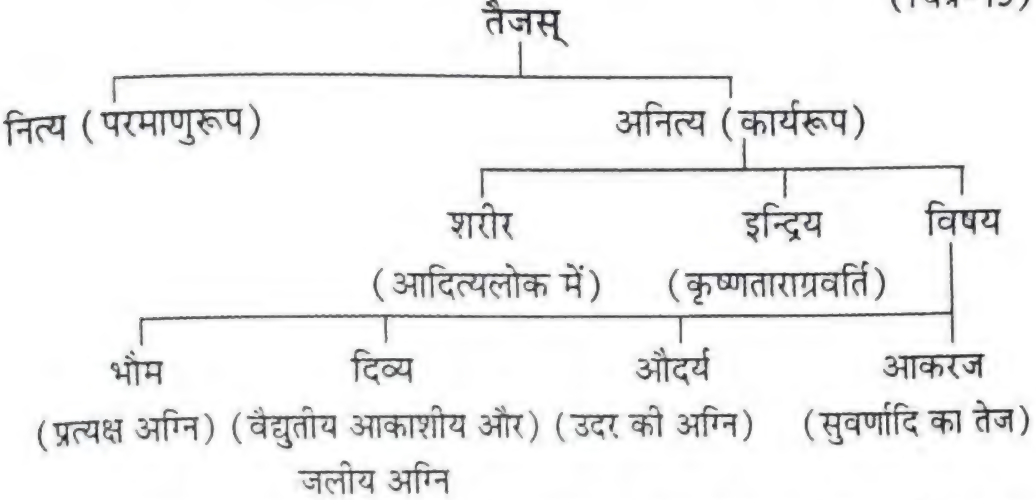

अवतरणिका–पृथिवी, अप्, तेजस् इन तीन द्रव्य पदार्थों का विवेचन करने के उपरान्त ग्रन्थकार प्रसङ्ग प्राप्त 'वायु' द्रव्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

वायोर्लक्षणं तस्य भेदाश्च–

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः–नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक्, सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसञ्ज्ञां लभते।

पदच्छेद–रूपरहित–स्पर्शवान् वायुः। सः द्विविधः-नित्यः अनित्यः च। नित्यः

1. उपस्कारभाष्य, शङ्करमिश्र 2/1/3

परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनः त्रिविधः-शरीर-इन्द्रिय-विषय-भेदात्। शरीरम् वायुलोके। इन्द्रियम् स्पर्शग्राहकम् त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयः वृक्ष-आदिकम्पनहेतुः। शरीर-अन्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। सः च एकः अपि उपाधिभेदात् प्राण-अपानादिसंज्ञाम् लभते।

दीपिका–वायुं लक्षयति-रूपेति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवानिति। पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय-रूपरहितेति।

ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भावः? इत्यत आह-शरीरेति। स चेति। एक एव प्राणः स्थानभेदात् प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः। स्पर्शानुमेयो वायुः। तथा हि-योऽयं वायौ वाति सत्यनुष्णशीतस्पर्श उपलभ्यते स क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद् रूपवत्। न चास्य पृथिव्याश्रयः; उद्भूतस्पर्शवत्पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात्। न जलतेजसी; अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात्। न विभुचतुष्टयं, सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्। न मनः, परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात्। तस्माद्यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः।

ननु वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवदिति चेन्न, उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात्। यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकत्वम्। यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नास्तीति पक्षे साधनाव्यापकत्वम्। न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः; इष्टत्वात्। तस्माद्रूपरहितत्वाद्वायुरप्रत्यक्षः।

(अथ सृष्टिप्रलयनिरूपणम्)

इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते–ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वयसंयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। ततस्त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकम्। एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी, महत्य आपो, महत्तेजो, महान् वायुरुत्पद्यते। एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य सञ्जिहीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया। क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्व्यणुकनाशः। ततस्त्र्यणुकनाशः। ततश्चतुरणुकस्य नाश इत्येवं पृथिव्यादिनाशः। असमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकनाशः, समवायिकारणनाशात् त्र्यणुकनाश इति सम्प्रदायः। सर्वत्रासमवायिकारणनाशात् द्रव्यनाश इति नवीनाः।

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते–जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्रज उपलभ्यते तत्सावयवम्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्, पटवत्। त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः; महदारम्भकत्वात्, तन्तुवत्। यो द्व्यणुकावयवः स परमाणुः। स च नित्यः; तस्यापि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च मेरुसर्षपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः।

सृष्टिप्रलयसद्भावे किं मानम्? 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिश्रुतिरेव प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः। (इति सृष्टिप्रलयनिरूपणम्)

अनुवाद–रूप से रहित और स्पर्शयुक्त वायु है। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है–इनमें भी नित्य परमाणुरूप है और अनित्य कार्यरूप है। तत्पश्चात् यही वायु, शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है। शरीर वायुलोक में है। सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली तथा स्पर्श को ग्रहण करने वाली त्वक् इन्द्रिय है। वृक्षादि के कम्पन का कारण ही विषय है। शरीर के भीतर सञ्चरण करने वाली वायु प्राण है तथा एक होने पर भी उपाधि भेद से वह (अकेला ही) प्राण, अपान आदि संज्ञा को प्राप्त करता है।

चन्द्रिका–वायु नामक चतुर्थ द्रव्य की व्याख्या करते हुए आचार्य अन्नंभट्ट इसे रूपरहित एवं स्पर्शगुण से युक्त पदार्थ बताते हैं। पृथिवी, जल, तेज आदि द्रव्यों से वायु इस दृष्टि से भिन्न और महत्त्वपूर्ण दोनों कही जा सकती है, क्योंकि वे तीनों द्रव्य रूप सहित हैं, उनका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है, क्योंकि वे सभी रूपवान् हैं। जबकि वायु का हम नेत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह रूपवान् नहीं है। इसका केवल त्वगेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है।

ग्रन्थकार ने पूर्ववत् इसके भी शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से तीन भेद करते हुए पूर्ववत् शरीर वायु की उपस्थिति वायुलोक में तथा स्पर्श को ग्रहण करने वाली 'त्वक्' नामक इन्द्रिय की स्थिति सम्पूर्ण शरीर में मानी है और उनकी दृष्टि में वृक्षादि के पत्रादि को हिलाने वाली वायु ही इसका विषय है।

इसी क्रम में वायु की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में संचरण करने वाली वायु को 'प्राणवायु' की संज्ञा प्रदान की है। उनका मानना है कि एक होने पर भी यही प्राणवायु शरीर में अलग-अलग स्थानों पर स्थित होने रूप उपाधि के भेद से प्राण, अपान, व्यान, समान, उदानादि नामों से जानी जाती है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने वैशेषिक सिद्धान्त का पालन करते हुए केवल 'चाक्षुप प्रत्यक्ष' को ही मान्यता प्रदान की है, वायु के स्पार्शन प्रत्यक्ष को नहीं माना है।

(ii) वायु को रूपरहित कहकर उसे पृथ्वी, अग्नि और तेज से पृथक् किया गया है तथा उसे स्पर्शवान् कहकर आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन से व्यावृत किया है।

(iii) वायु के प्रत्यक्षगम्य होने में नैयायिकों में पर्याप्त मतवैमत्य है। आचार्य अन्नंभट्ट इस विषय में प्राचीन नैयायिकों से सहमत प्रतीत होते हैं, क्योंकि अपनी दीपिका टीका में उन्होंने प्रत्यक्षगम्य होने के लिए वस्तु का रूपवान् होना आवश्यक माना है। अतः स्पर्शवान् होने के कारण वायु प्रत्यक्षगम्य नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यह वस्तुतः अनुमान का विषय है।[1]

(iv) प्राचीन नैयायिकों की मान्यता के अनुसार-सीमित अर्थ में प्रत्यक्षत्व केवल रूपवान् पदार्थों पर ही लागू होता है। इसलिए रूप के अभाव में प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः वायु भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है, यही कहना उचित है।

(v) इसके विपरीत नव्यनैयायिक वायु को भी प्रत्यक्षगम्य स्वीकार करते हैं। तदनुसार–वायु का स्पर्श प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि विभुत्व एवं विशिष्ट गुण के अभाव में भी केवल महत्त्व तथा उद्भूत स्पर्श वाला होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।

(vi) दीपिकाकार ने तर्कों के आधार पर वायु की पृथिवी, जल और तेज आदि अन्य द्रव्यों से भिन्नता बताते हुए पृथक् सत्ता प्रतिपादित की है। तदनुसार–

(क) उद्भूतरूप के अभाव में वायु, पृथिवी द्रव्य नहीं हो सकता है।

(ख) इसीप्रकार शीतलता के अभाव में यह जल भी सम्भव नहीं है तथा

(ग) उष्णता न होने के कारण इसे तेज भी नहीं कहा जा सकता है।

(घ) इसके अतिरिक्त सर्वव्यापक न होने के कारण यह आकाश, दिक्, काल, आत्मा की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता है।

(ङ) इसीप्रकार अणु परिमाण वाले मन से भी इसका साम्य प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। अतः वायु को पृथक् रूप में द्रव्य मानना उचित है।

(vii) वस्तुतः वैशेषिकदर्शन का पृथिवी, जल और वायु का विवेचन आधुनिक विज्ञानसम्मत नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विज्ञान इन तीनों के ठोस, द्रव्य और गैस इन तीन रूपों को स्वीकृति प्रदान करता है।

(viii) आचार्य अन्नंभट्ट ने शरीर के अन्तःभाग में विचरण करने वाले वायु को भी सामान्य वायु का ही भिन्न रूप माना है तथा शरीर के विविध भागों में होने के कारण स्थानभेद से उनके प्राण, अपान, व्यान, समान, उदानादि की बात कही है।[2]

1. स्पर्शानुमेयो वायुः (तर्कदीपिका)।
2. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
   उदानः कण्ठदेशस्थः व्यानः सर्वशरीरगः।।

(ix) शरीर में विचरण करने वाली प्राण वायु, वस्तुत: वायु का ही एक भेद है, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतवैमत्य मिलता है। यद्यपि दीपिकाकार ने "प्राणस्य कुत्र अन्तर्भाव:" कहकर इस ओर संकेत भी किया है, किन्तु इस विषय में आगे कोई चर्चा नहीं की है।

(x) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने वायु के सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र मान्यता प्रतिपादित की है।

(xi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-16)

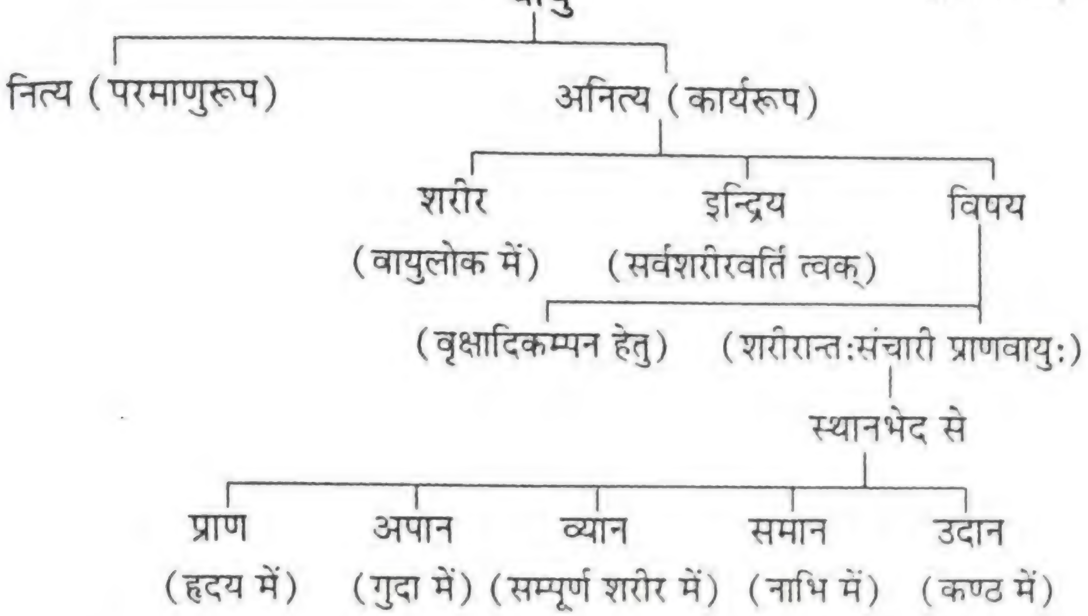

अवतरणिका–चार नित्यानित्य द्रव्य पदार्थों का विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार नित्य द्रव्य पदार्थ 'आकाश' का कथन करते हैं–

आकाशलक्षणम्–

शब्दगुणकमाकाशम् तच्चैकं विभु नित्यञ्च।

पदच्छेद–शब्दगुणकम् आकाशम् तत् च एकम् विभु नित्यम् च।

दीपिका–आकाशं लक्षयति–शब्देति। नन्वाकाशमपि किं पृथिव्यादिवन्नाना? नेत्याह-तच्चैकमिति। भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थ:। एकत्वादेव सर्वत्र शब्दोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह-विभ्विति। सर्वभूतद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह-नित्यं चेति।

अनुवाद–शब्द गुण से युक्त आकाश है और वह विभु, नित्य और एक है।

चन्द्रिका– ग्रन्थकार ने पञ्चम द्रव्य पदार्थ आकाश की परिभाषा करते हुए इसे शब्द गुण की विशेषता से सम्पन्न कहा है। यद्यपि अन्य द्रव्यों की व्याख्या में गुण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

इस परिभाषा में 'गुण' शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया गया है। भाट्ट-मीमांसकों ने वस्तुत: शब्द की गणना भी पदार्थों में की है। इसलिए यहाँ 'गुण' शब्द का प्रयोग करके ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि शब्द केवल आकाश का ही गुण है। अन्य किसी पदार्थ का नहीं, क्योंकि रूप, रस आदि तो अन्य पदार्थों में भी रहते हैं, किन्तु शब्द आकाश के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता है।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने यहाँ आकाश की अन्य तीन विशेषताओं का भी कथन किया है–

(क) यह आकाश विभु है, अर्थात् जो पदार्थ परिमाण में सीमित होते हैं वे मूर्त होते हैं। इसके विपरीत जिसका सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध रहता है वह विभु कहलाता है। अत: आकाश का समस्त मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध होने के कारण यह 'विभु' है।

(ख) आकाश नित्य है, अर्थात् इसका कभी विनाश नहीं होता है। वैशेषिकदर्शन में जिसप्रकार परमाणु को नित्य माना गया है एवं उसकी स्थिति प्रलयकाल में भी बनी रहती है। ठीक वैसे ही आकाश का कभी विनाश न होने से यह नित्य है।

(ग) इसके अतिरिक्त यहाँ ग्रन्थकार ने आकाश की संख्या केवल एक मानी है, इससे अधिक अथवा कम नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि जिसप्रकार पृथिवी, जल, तेज आदि द्रव्य पदार्थ नित्य, अनित्य रूप से दो प्रकार के होते हैं। आकाश के साथ ऐसा नहीं है वह केवल एक नित्य स्वरूप ही है। जिसे दीपिका टीका में ग्रन्थकार ने स्पष्ट भी किया है।

विशेष–(i) आकाश के विभु एवं एक होने के कारण ही उसके 'शब्द' नामक गुण की सर्वत्र उपलब्धि होती है।

(ii) आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि आकाश को केवल 'शून्य' मानने की पक्षधर है। उनके अनुसार–हम जो आकाश का नीला रंग देखते हैं, वह वस्तुत: प्रकाश के सात रंगों (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल) में से केवल एक नीले रंग का ही दिखायी देना है, क्योंकि वायुकणों द्वारा शेष रंगों की तरंगें अवशोषित कर ली जाती हैं।

(iii) इसके विपरीत कुछ वैशेषिक आचार्यों का मानना है कि आकाश का

नीला रंग सुमेरु पर्वत पर स्थित इन्द्रनीलमणि की कान्ति के कारण दिखायी देता है। जो व्यावहारिक दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होता है।

(iv) अंग्रेजी भाषा में आकाश के लिए 'ईथर' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यद्यपि यह प्रयोग इसके सर्वव्यापकत्व की दृष्टि से किया गया है तथापि यह शब्द भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आकाश 'शब्द' का माध्यम होता है। जबकि ईथर प्रकाश और ताप का माध्यम है।

(v) इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि दैनिक व्यवहार में हम घटाकाश एवं पटाकाशादि का प्रयोग करते हैं, फिर आकाश एक कैसे हो सकता है। इसका समाधान यही है कि ऐसा केवल उपाधि के कारण ही होता है। घट-पटादि के नष्ट होने पर वह आकाश इसी एक आकाश में ही मिल जाता है।

(vi) कुछ वैशेषिक विद्वानों ने आकाश को सर्वगत एवं सूक्ष्म कहकर परिभाषित किया है। उसका यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि इसका वायु के समान सर्वगमन नहीं होता, अपितु संसार के सभी मूर्त द्रव्यों के साथ आकाश का संयोग ही वस्तुतः इसका सर्वगतत्व कहा जाता है तथा सूक्ष्मता से अभिप्राय बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की योग्यता के अभाव से ग्रहण करना चाहिए।

(vii) अन्य दर्शनों में भी 'आकाश' का उल्लेख किया गया है। जैसे–

(क) सांख्यदर्शन में इसे शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न महाभूत की संज्ञा प्रदान की है।

(ख) भाट्टमीमांसक शब्द और आकाश दोनों को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हुए आकाश को प्रत्यक्ष मानते हैं, जबकि वैशेषिक इसे अनुमेय कहते हैं।

(ग) वेदान्त ने 'आकाश' को ब्रह्म स्वरूप माना है।

(घ) जैनदर्शन का मत है कि संसार के सभी प्राणियों, धर्म, अधर्म, काल, द्रव्य एवं समस्त पुद्गलों को स्थान देने वाला, आकाश वस्तुतः द्रव्य की श्रेणी में आता है।

(viii) महर्षि कणाद की मान्यता है कि शब्द केवल आकाश का गुण है, क्योंकि वह अन्य किसी द्रव्य का गुण हो ही नहीं सकता है।

(ix) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं–

(चित्र-17)

आकाश (शब्दगुण सम्पन्न)

एक | नित्य | विभु

अवतरणिका–आकाश की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थकार द्वितीय नित्य तत्त्व 'काल' का उल्लेख करते हैं।

कालस्य लक्षणम्–

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

पदच्छेद–अतीत-आदि-व्यवहार हेतुः कालः। सः च एकः विभुः नित्यः च।

दीपिका–कालं लक्षयति-अतीतेति। सर्वाधारः कालः सर्वं कार्यनिमित्तकारणं च।

अनुवाद–अतीत आदि के व्यवहार का हेतु (ही) काल है, वह भी विभु, नित्य और एक है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने 'काल' की परिभाषा देते हुए भूत, भविष्य और वर्तमान के व्यवहार के हेतु को काल संज्ञा प्रदान की है तथा उसे सर्वव्यापक, नित्य और एक बताया है। दैनिक व्यवहार में हम 'काल' से अभिप्राय 'समय' ग्रहण करते हैं। अंग्रेजी भाषा में इसी को 'टाइम' कहा गया है।

इसके स्वरूप को समझने के लिए विद्वानों ने इसकी इकाई-वर्ष, मास, दिन, घण्टा, मिनट, सैकण्ड, पल, क्षण और लव आदि का भी प्रयोग किया है। आचार्य अन्नंभट्ट ने इस सबसे हटकर 'अतीतादि के व्यवहार के कारण' को ही काल माना है। साथ ही इसे एक, नित्य और विभु भी कहा है।

इस परिभाषा में प्रयुक्त 'व्यवहार' पद का प्रयोग दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त वाक्य की शैली के लिए किया गया है, क्योंकि वाक्यवृत्तिकार ने भी व्यवहार का अर्थ 'वाक्यों का प्रयोग' किया है। आचार्य प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में इस विषय पर अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक विचार किया है। वहाँ उन्होंने–

सभी प्रकार के कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का हेतु काल को माना है तथा इसे ही क्षण, लव, निमेश, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम आदि प्रत्ययों का कारण कहा है। तदनुसार युगपत्, क्षिप्र, चिर, अचिर, पर, अपर आदि प्रतीतियों का कारण भी यही है।

उनके मत में–काल के अन्तर्गत संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभागादि पाँच सामान्य गुण विद्यमान हैं। वहाँ उन्होंने इसके विशेष गुणों की स्थिति को स्वीकार नहीं किया है।

यद्यपि वैशेषिकदर्शन ने काल के अतीत, वर्तमान और भविष्य तीन औपाधिक भेदों को मान्यता प्रदान की है तथापि न्यायसूत्रकार द्वारा वर्तमान की सत्ता को नहीं माना गया है। न्यायसूत्र (2/1/40) के अनुसार किसी वस्तु के गिरते समय दो कालों की स्थित ही बनती है–पतित काल एवं पतितव्य काल। यहाँ वर्तमान की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

विशेष–(i) दीपिकाकार ने 'काल' को सबको आधार और सभी कार्यों के प्रति निमित्तकारण माना है–"सर्वाधारः कालः सर्वकार्यनिमित्तकारणञ्च"।

(ii) अन्नंभट्ट द्वारा दी गई परिभाषा से काल के तात्त्विक स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

(iii) काल के विषय में विश्वनाथ का मानना है–

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।।

(भाषा-परिच्छेद 45-46)

अर्थात् समस्त जन्य वस्तुओं का जनक और सम्पूर्ण विश्व का आश्रय ही काल है।

(iv) शैव, शाक्त और आगम 'काल' को ईश्वर की सम्पृक्त शक्ति कहकर परिभाषित करते हैं। जबकि अरस्तू ने काल की स्थिति को अस्पष्ट माना है।

(v) न्यायदर्शन काल की अतीत और अनागत सत्ता को मान्यता प्रदान करता है, वर्तमान को नहीं। न्यायभाष्यकार के अनुसार–

"वृक्ष से गिरने वाले फल के सम्बन्ध में, पेड़ से गिरा हुआ या पृथ्वी पर गिरने वाला, इन दो वाक्यों का प्रयोग क्रमशः भूत और भविष्य के रूप में किया जा सकता है, किन्तु इन दोनों के बीच अन्य कोई आधार न होने से वर्तमान काल की स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।" (न्यायभाष्य-2/1/40)

(vi) जबकि वस्तुस्थिति यह है कि भूत और भविष्य दोनों ही वर्तमान पर निर्भर हैं, इसके अभाव में भूत और भविष्य की कल्पना ही असम्भव है। इस दृष्टि से काल के भूत, वर्तमान और भविष्य तीन औपाधिक भेद करना ही उचित है।

(vii) इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि मात्र भूत और भविष्य की सत्ता को स्वीकार करने पर इन दोनों के मध्य एक विभाजक रेखा की स्थिति का मानना भी अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में भूत और भविष्य का भेद

ही सम्भव नहीं होगा। अत: वस्तुओं का अस्तित्व ही उनकी वर्तमानकालिता का द्योतक है। इसके अभाव में तो किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। इसलिए वर्तमान काल को मानना आवश्यक है।

(viii) उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काल को इसप्रकार परिभाषित किया जा सकता है-

(चित्र-18)

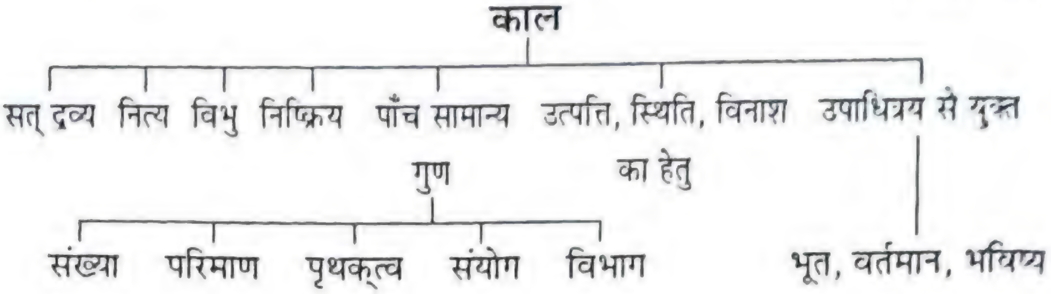

अवतरणिका–काल की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार तृतीय नित्य तत्त्व 'दिक्' का कथन करते हैं–

दिशो लक्षणम्–

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका विभ्वी नित्या च।

पदच्छेद–प्राची-आदि-व्यवहारहेतु: दिक्। सा च एका विभ्वी नित्या च।

दीपिका–दिशो लक्षणमाह-प्राचीति। दिगपि कार्यमात्रे निमित्तकारणम्।

अनुवाद–प्राची आदि व्यवहार का कारण ही दिक् है और वह एक, सर्वव्यापक एवं नित्य है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने पूर्व (प्राची), पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि के व्यवहार के कारण को दिशा के लक्षणरूप में उद्धृत किया है। वस्तुत: किसी भी पदार्थ के अभाव में उसका बोध होना असम्भव है, क्योंकि हम प्रतिदिन दैनिक व्यवहार में प्राची (पूर्व), प्रतीची (पश्चिम), उदीची (उत्तर) और अवाची (दक्षिण) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। अत: 'दिशा' नामक पदार्थ के अस्तित्व की पुष्टि होती है। इस दृष्टि से लोक व्यवहार ही इस विषय में प्रमाण है। आचार्य अन्नंभट्ट ने इसी अभिप्राय को यहाँ अभिव्यक्त किया है।

यद्यपि काल के समान ही दिशा भी एक ही है, किन्तु औपाधिक रूप से इसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि का व्यवहार होता है। उदयाचल के तरफ की दिशा प्राची अर्थात् पूरब कहलाती है। अस्ताचल के निकट की ओर प्रतीची अर्थात् पश्चिम

(iii) लक्षण में प्रयुक्त 'आदि' पद से अभिप्राय शेष प्रतीची, उदीची आदि समस्त दिशाओं से ग्रहण करना चाहिए।

(iv) यहाँ लोकव्यवहार को दिशा के अस्तित्व में प्रमाण स्वीकार किया गया है।

(v) महर्षि कणाद ने आगे-पीछे, दूर और पास सम्बन्धी ज्ञान में दिशा को ही कारण माना है।

(vi) वैशेषिकदर्शन दिक् को 'अनुमान' का विषय स्वीकार करता है। उनके मतानुसार–आध्यात्मिक पदार्थ न होने के कारण इसका मानस प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है और सामान्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तो व्यवहारत: होता ही नहीं है।

(vii) काल के समान ही यह दर्शन 'दिशा' को भी सभी पदार्थों के प्रति निमित्तकारण स्वीकार करता है। दीपिकाकार के अनुसार-विशिष्ट समय एवं किसी विशेष प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण प्रत्येक कार्य के प्रति दिक् और काल निमित्त-कारण होता है।

(viii) 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार दिशा में भी काल के समान ही संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन पाँच गुणों की परिकल्पना की गई है।

(ix) औपाधिक दस दिशाओं के अलावा पद्मनाभ मिश्र एवं शिवादित्य आदि वैशेषिकदर्शन के कुछ आचार्यों ने प्राची और अवाची दिशाओं के मध्य रौद्री नामक ग्यारहवीं दिशा को भी मान्यता प्रदान की है। इसके देवता रुद्र माने गए हैं।

(x) उपर्युक्त अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं (चित्र-19-अगले पृ० पर)।

आकाश, काल और दिक् में साम्य-वैषम्य–तर्कसंग्रहकार ने इस क्रम में एक ही शैली में आकाश, काल और दिक् इन तीनों द्रव्य पदार्थों को परिभाषित करते हुए इन्हें एक, सर्वव्यापक और नित्य बताया है। यद्यपि सामान्य रूप से ये तीनों ही एक जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु इनमें अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है, जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं।

जहाँ तक दिक् और आकाश का प्रश्न है, दोनों को न्यायवैशेषिकदर्शन पृथक् द्रव्य के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। दोनों ही एक, सर्वव्यापक (विभु) और नित्य हैं, किन्तु इस साम्य के अतिरिक्त कुछ वैषम्य भी हैं–

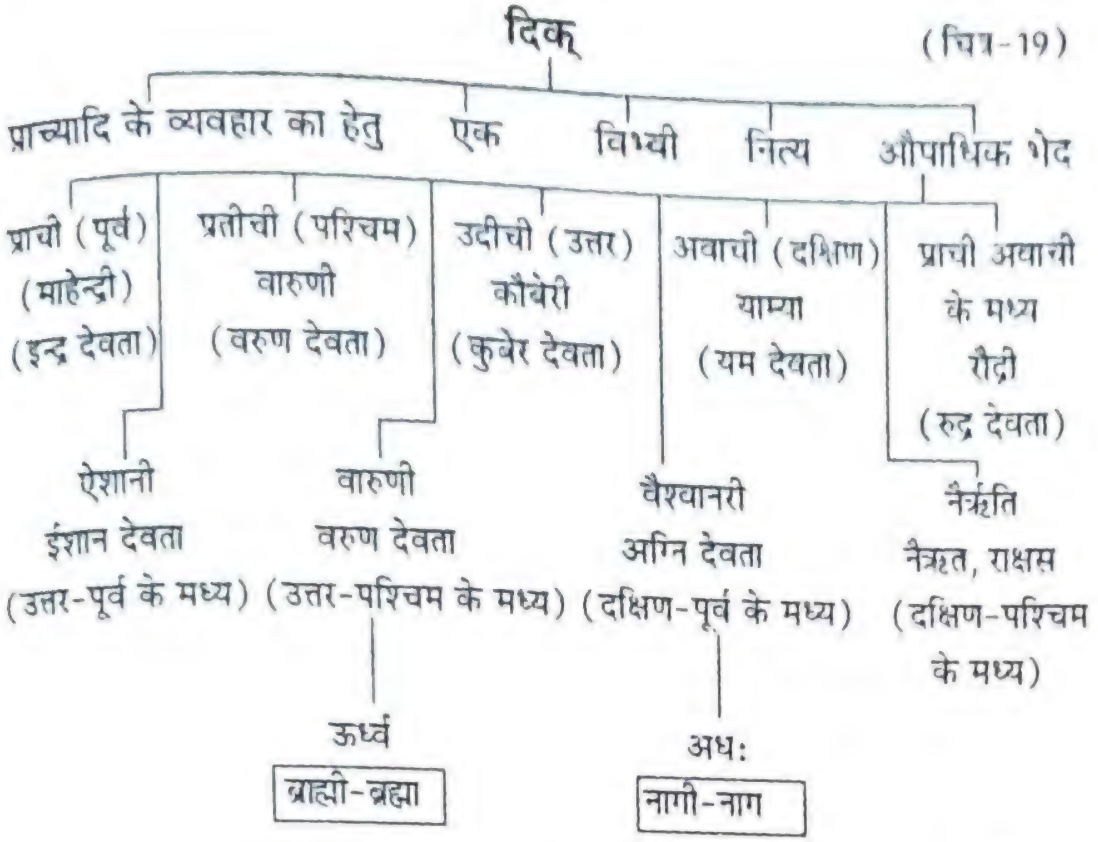

(चित्र-19)

(i) शब्द आकाश का विशेष गुण है, जबकि दिक् का कोई विशेष गुण नहीं है।

(ii) आकाश शब्द का समवायिकारण है, जबकि दिक् किसी का समवायिकारण नहीं है।

(iii) आकाश का सम्बन्ध भूतों से होता है, जबकि दिक् का सम्बन्ध मन से होता है।

(iv) आकाश की स्वतन्त्र सत्ता होती है, जबकि दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित हैं।

(v) दिक्, काल के समान सभी कार्यों का साधारण कारण होता है, जबकि आकाश, पृथ्वी आदि के समान शब्दरूप विशेष गुण का असाधारण कारण है।

(vi) इसके अतिरिक्त शब्द नामक गुण के कारण आकाश की प्रतीति हमें विषय के समान होती है, जबकि दिक् केवल आत्मगत अनुभूत है।

(vii) आकाश के औपाधिक भेदों की कल्पना दिक् के औपाधिक भेदों के रूप में नहीं की गई है।

इसीप्रकार काल और दिक् में भी कुछ साम्य और वैषम्य विद्यमान हैं; साम्य

की दृष्टि से दोनों ही व्यवहार के कारण हैं, जिनमें अतीतादि व्यवहार के हेतु 'काल' तथा प्राची आदि व्यवहार का हेतु 'दिक्' है। दोनों ही एक, विभु और नित्य हैं। इस दृष्टि से इन दोनों में पर्याप्त साम्य विद्यमान है, जबकि वैषम्य को इसप्रकार उल्लिखित किया जा सकता है–

(i) काल वस्तुतः कालिकपरत्व का कारण माना गया है, जबकि दिशा को दैशिकपरत्व के कारणरूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

(ii) काल के सम्बन्धों में नैरन्तर्य दृष्टिगोचर होता है, जबकि दिक् के सम्बन्धों में ऐसी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहाँ किसी पदार्थ के पूर्व में कोई दिशा किसी समय विद्यमान है तो अन्य समय में वही दिशा उसके उत्तर अथवा दक्षिण में भी हो सकती है।

(iii) दिक् उपाधि की सम्बद्धता मूर्त पदार्थों से ही होती है, जबकि काल की सम्बद्धता किसी क्रिया अथवा जन्य पदार्थ से भी सम्भव है।

(iv) काल को नियत उपाधि का उन्नायक माना गया है, जबकि दिशा अनियत उपाधि की उन्नायिका कही गई है।

अवतरणिका–यहाँ तक दिक् की व्याख्या करने के अनन्तर ग्रन्थकार अग्रिम नित्य पदार्थ आत्मा का उल्लेख करते हैं–

भेदपूर्वकमात्मनो लक्षणम्–

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः-जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

पदच्छेद–ज्ञान-अधिकरणम्-आत्मा। सः द्विविधः-जीवात्मा, परमात्मा च इति। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरम् भिन्नः विभुः नित्यः च।

दीपिका–आत्मनो लक्षणमाह-ज्ञानेति। आत्मानं विभजते-स द्विविध इति। परमात्मनो लक्षणमाह-तत्रेति। नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्।

नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम्? न तावत्प्रत्यक्षम्। तद्धि बाह्यम् आभ्यन्तरं वा? नाद्यम्; अरूपिद्रव्यत्वात्। नान्त्यम्; आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावात्। नाप्यागमः; तथाविधागमाभावादिति चेन्न, क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं

कर्तृत्वम्। उपादानं समवायिकारणम्। सकलपरमाण्वादिसूक्ष्मदर्शित्वात् सर्वज्ञत्वम्। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम्।

जीवस्य लक्षणमाह–जीवेति। सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्। ननु 'मनुष्योऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादौ सर्वत्राहं प्रत्यये शरीरास्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेन्न; शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्; तथात्वे 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं त्वचा स्पृशामि' इत्यनुसन्धानाभावप्रसङ्गात् अन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसन्धानायोगात्। तस्माद् देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स च न परमाणुपरिमाणः; (सर्व) शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न मध्यमपरिमाणः; तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः।

अनुवाद–ज्ञान का अधिकरण आत्मा है और जीवात्मा एवं परमात्मा इस रूप में वह दो प्रकार का होता है। जबकि उन दोनों में परमात्मा, सभी का स्वामी (ईश्वर), सर्वज्ञ एवं एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है, किन्तु (वह भी) सर्वव्यापक एवं नित्य है।

चन्द्रिका–गुणों का आश्रय होने के कारण वैशेषिकदर्शन आत्मा को द्रव्य की कोटि में रखता है। तर्कसंग्रहकार ने इसकी परिभाषा करते हुए इसे ज्ञान का अधिकरण अर्थात् आधार माना है। साथ ही इसके जीव-आत्मा और परमात्मा के रूप में दो भेद किए हैं। इनमें भी परमात्मा को उन्होंने ईश्वर अर्थात् सभी का स्वामी, सर्वज्ञ एवं एक बताया तथा जीवात्मा की प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न स्थिति को स्वीकार करते हुए, उसमें भी सर्वव्यापक एवं नित्य स्थिति को मान्यता प्रदान की।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार दीपिका टीका में इसकी विस्तार से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–

"यहाँ आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा गया है तथा अधिकरण भी यहाँ समवाय सम्बन्ध वाला (तिलेषु तैलम्) अधिकरण ग्रहण करना चाहिए। आत्मा का विभाजन यहाँ दो प्रकार से किया गया है तथा सर्वप्रथम परमात्मा का लक्षण करते हुए उसे ईश्वर, सर्वज्ञ और एक बताया गया है।"

जबकि आत्मा अल्पज्ञ, अनीश्वर, सर्वव्यापक, नित्य और प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप में विद्यमान है। आचार्य विश्वनाथ ने आत्मा को इन्द्रिय, शरीर आदि का अधिष्ठाता बताया है।

इसके अतिरिक्त वैशेषिकदर्शन के आचार्यों ने आत्मा को इन्द्रिय, उनके विषय एवं उनसे प्राप्त होने वाले ज्ञान का आश्रय बताते हुए, इसके बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, दु:ख, संस्कार, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग एवं परिमाण आदि चौदह गुणों की परिगणना की है। यद्यपि इन गुणों की स्थिति कुछ अन्य द्रव्यों में भी विद्यमान रहती है, किन्तु प्रथम आठ गुण केवल आत्मा में ही विद्यमान हैं। इसी कारण इन्हें विशेष गुणों की संज्ञा प्रदान की गयी है।

दीपिकाकार ने परमात्मा के सम्बन्ध में बताया कि इसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, किन्तु आगम एवं अनुमान प्रमाण द्वारा इसकी स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है। तदनुसार–

(i) ईश्वर के अस्तित्व में 'य: सर्वज्ञ: य: सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवचन प्रमाण होने से इसे आगम प्रमाण का विषय कहा जा सकता है।

(ii) इसके अलावा प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है, जिसे घट और कुम्हार के उदाहरण से समझा जा सकता है, क्योंकि घट कार्य का कर्ता कुम्हार है। ठीक इसीप्रकार विश्व भी एक कार्य है, जिसके कर्ता की हमें कल्पना करनी होगी, जो चेतन वैशिष्ट्य सम्पन्न परमेश्वर, परमात्मा अथवा ईश्वर ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं।

(iii) जीवात्मा सुख-दु:ख की अनुभूति करता है, जबकि परमात्मा इससे परे हैं, उसे सुख-दु:ख की प्रतीति नहीं होती है।

जीवात्मा की चर्चा करते हुए दीपिकाकार ने शरीर एवं इन्द्रियों को आत्मा कहने वाले चार्वाक-मत का खण्डन भी किया है। तदनुसार–

(i) हम शरीर को आत्मा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि शरीर के अवयव हस्त, पादादि के नष्ट हाने से आत्मा के विनाश की कल्पना भी करनी होगी। अत: आत्मा को शरीर से भिन्न मानना होगा, क्योंकि आत्मा वस्तुत: नित्य है।

(ii) इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को भी आत्मा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक ही शरीर में अनेक इन्द्रियों की स्थिति होने से अनेक आत्माओं की कल्पना करनी होगी जो उचित नहीं होगा। अत: आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

(iii) इन्द्रियों को आत्मा मानने पर देखने वाली और स्पर्श करने वाली इन्द्रियाँ भिन्न होने से देखी हुई वस्तु का ही पुन: ज्ञान नहीं हो सकेगा, अत: शरीर और इन्द्रिय से जीवात्मा को भिन्न मानना उचित है।

साथ ही प्रत्येक शरीर के भिन्न होने के कारण आत्मा का अनेक मानना भी उचित है, क्योंकि प्रत्येक शरीर के अनुभवों में भिन्नता होती है। आत्मा को सर्वव्यापक मानने के सम्बन्ध में न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शन एक मत हैं। कभी विनष्ट न होने के कारण इसे नित्य भी कहा गया है।

विशेष–(i) न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शन यद्यपि आत्मा को जड़ मानते हैं। उनके मत में जन्म-बन्धन पर्यन्त ही आत्मा में ज्ञान एवं सुखादि गुणों की उत्पत्ति होती है। बंधन-मुक्त होते ही आत्मा जड़ हो जाता है।

(ii) तर्कसंग्रहकार ने यहाँ आत्मा के दो भेद जीवात्मा और परमात्मा किए हैं।

(iii) इनमें परमात्मा नित्य ज्ञान का अधिकरण होता है, किन्तु जीवात्मा में अनित्य ज्ञान विद्यमान रहता है।

(iv) जीवात्मा शरीर में विद्यमान होने से शरीर को धारण करने वाला है, जबकि परमात्मा शरीर के बिना ही स्थित रहता है।

(v) जीवात्माओं में कुछ मुक्त एवं बद्ध होते हैं, जबकि परमात्मा नित्य मुक्त होता है।

(vi) जीवात्मा में अधर्म, मिथ्याज्ञान और प्रमाद आदि विद्यमान रहते हैं, जबकि परमात्मा में अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य रहते हैं।

(vii) परमात्मा सभी का स्वामी होने के कारण संसार को नियंत्रित करने वाला एवं जीवों द्वारा किए गए कर्मों का फल प्रदान करने वाला है।

(viii) चार्वाक को छोड़कर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन परम्परा आत्मा के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती है।

(ix) आचार्य विश्वनाथ ने इन्द्रिय और शरीर आदि के अधिष्ठाता को आत्मा माना है–

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्। (भाषा-परिच्छेद, पृ० 47)

(x) आचार्य उदयन ने अपने ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं–

- इस संसार के कार्य होने के कारण इसका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए, जो वस्तुतः ईश्वर है। (कार्यात्)

- परमाणु के दो अणुओं का उत्पादक एवं उनका साधक वस्तुत: ईश्वर होने से उसका अस्तित्व मान्य है। (आयोजनात्)
- इस संसार का कर्ता, धारण करने वाला एवं संहार करने वाला होना चाहिए। अत: ईश्वर को ही इसके कर्ता, धर्ता एवं हर्ता के रूप में मानना उचित है। (धृत्यादे:)
- अपने अर्थों को अभिव्यक्त करने की क्षमता ईश्वर द्वारा ही सम्भव है। अत: ईश्वर को मानना उचित है। (पदात्)
- वेदादि शास्त्रों का प्रमाण अर्थात् प्रत्यय ईश्वर ही है। अत: उसका मानना संगत है। (प्रत्ययत:)
- वेदादि शास्त्र भी ईश्नर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करते हैं। अत: ईश्वर विद्यमान हैं। (श्रुते:)
- वेदों की अर्थपूर्ण वाक्ययोजना को देखकर इसके कुशल एवं सर्वज्ञ कर्ता ईश्वर के ही अस्तित्व का अनुमान होता है। (वाक्यात्)
- दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति तथा दो परमाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाला परिणाम, इस संख्या विशेष के ज्ञाता ईश्वर के अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। (संख्या विशेषात्)[1]

(xi) ग्रन्थकार के उक्त अभिप्राय को संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-20)

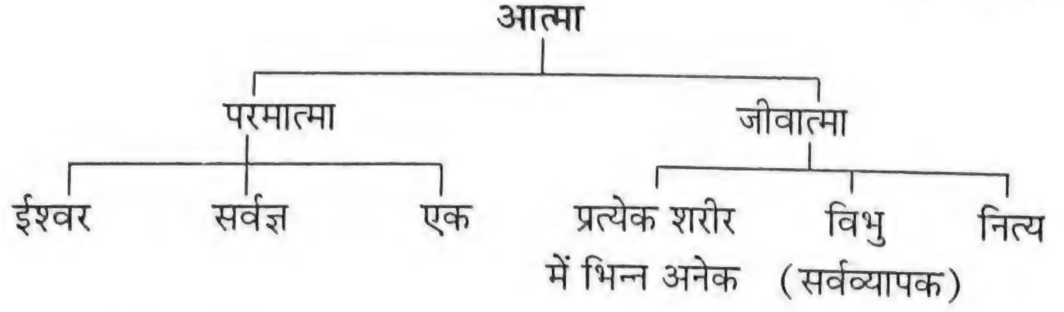

अवतरणिका–आत्मा की भेद सहित व्याख्या करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार 'मन' के विषय में कहते हैं–

---

1. कार्यायोजनधृत्यादे: पदात् प्रत्ययत: श्रुते:।
   वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय:।। –न्यायकुसुमाञ्जलि-5/1

मनसो लक्षणम्–

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च।

पदच्छेद–सुख-आदि-उपलब्धि-साधनम् इन्द्रियम् मनः। तत् च प्रति-आत्म-नियतत्वाद् अनन्तम्, परमाणुरूपम् नित्यम् च।

दीपिका–मनसो लक्षणमाह–सुखेति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्। मनो विभजते–तच्चेति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम् इत्यात्मनोऽनेकत्वान्मनसोऽप्यनेकत्वमित्यर्थः। परमाणुरूपमिति। मध्यमपरिमाणत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः।

ननु मनो (नाणुः, किन्तु) विभु-स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, आकाशवदिति चेन्न, मनसो विभुत्वे आत्ममनःसंयोगस्याऽसमवायिकारणस्याऽभावाज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च विभुद्वयसंयोगोऽस्त्विति वाच्यम्; तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्, पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रदेशे आत्ममनःसंयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। अणुत्वे तु यदा महापुरीतति (नाड्यां) प्रविशति तदा सुषुप्तिः, यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः।

अनुवाद–सुख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय ही मन है और वह प्रत्येक आत्मा के साथ नियम से रहने के कारण अनन्त, परमाणुरूप एवं नित्य है।

चन्द्रिका–मन को परिभाषित करते हुए तर्कसंग्रहकार ने कहा कि सुख-दुःख आदि का ज्ञान कराने वाली अथवा ज्ञान का साधनरूप इन्द्रिय ही मन है, क्योंकि इसकी स्थिति प्रत्येक आत्मा के साथ नियम से रहने की है। अतः आत्मा के अनन्त होने के कारण मन की संख्या भी अनन्त कही गई है। साथ ही इसे परमाणुरूप और नित्य बताया गया है।

वैशेषिकदर्शन के नौ द्रव्यों में मन की गणना अन्तिम द्रव्य के रूप में की गई है। यहाँ इसकी स्थिति आत्मा के सहयोगी रूप में स्वीकार की गई है, क्योंकि आत्मा और इन्द्रिय के बीच यह एक कड़ी का कार्य करता है। इतना ही नहीं 'मन' बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से अनुभूति कराने के साथ-साथ आन्तरिक अनुभूति कराने में भी सहायक होता है जो स्मृति के साथ जुड़ी होती है। इसीलिए विद्वानों ने इसे अन्तरिन्द्रिय की संज्ञा भी प्रदान की है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि महर्षि कणाद ने

आत्मा, इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर ही ज्ञान का भाव एवं अभाव का होना 'मन' का लक्षण किया है।[1] अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष रहने पर सामान्य रूप से पदार्थ का ज्ञान होता है, किन्तु कभी-कभी यह होता भी नहीं है। इसलिए आत्मा और इन्द्रिय के बीच किसी की सत्ता अवश्य है और वह सत्ता अन्य कोई नहीं अपितु मन ही है।[2] सम्भवतः इसलिए विद्वानों ने मन का निर्वचन-"मन्यते ज्ञायते अनेन, इति मनः" किया है। वस्तुतः ज्ञान का मुख्य साधन मन ही है।

दीपिकाकार ने मन की परिभाषा-"स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्" दी है। अर्थात् जो स्पर्शरहित रहते हुए भी क्रियावान् रहता है उसे मन कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त होते हुए भी यह परिभाषा मन के स्वरूप पर वैसा प्रकाश नहीं डाल पाती है। जबकि तर्कसंग्रहकार की परिभाषा इसके अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करती है, क्योंकि सुख अथवा दुःख आदि की प्रतीति केवल मन के द्वारा ही सम्भव है। दैनिक व्यवहार में हम देखते हैं कि मन के अन्यत्र होने पर हम सुख अथवा दुःख की अनुभूति नहीं कर पाते हैं।

इसके अतिरिक्त तर्कसंग्रहकार ने मन की तीन विशेषताओं का कथन करते हुए प्रत्येक आत्मा के साथ अलग-अलग मन होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप एवं नित्य माना है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार प्रत्येक मनुष्य में अथवा प्राणी में आत्मा अलग-अलग विद्यमान है। ठीक उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा के साथ पृथक्-पृथक् मन की युति है। पुनर्जन्म की प्रक्रिया में भी एक ही मन जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है। यही कारण है कि एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी साथ रहते हैं, क्योंकि इन संस्कारों का आधार मन के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है।

इसीप्रकार मन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका परमाणुरूप होना है। आत्मा और इन्द्रियों के मध्य सम्बन्ध की स्थापना के लिए यह आवश्यक भी है। वस्तुस्थिति यह है कि सांसारिक पदार्थ सर्वाधिक स्थूल हैं, उनसे सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं तथा मन इन इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है। श्रुति को इस विषय में प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[3] आत्मतत्त्व इससे भी सूक्ष्म है। इसलिए इन दो सूक्ष्म पदार्थों का संयोग बन जाता है।

---

1. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। वैशेषिकसूत्र-3.2.1
2. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ० 80
3. इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

यह संयोग जाग्रत अवस्था में सहजरूप से इन्द्रिय और आत्मा के साथ रहता है, जबकि निद्रा की अवस्था में यह मन, आत्मा के संयोग को तोड़कर हृदय के पास स्थित पुरीतत् नामक नाड़ी में चला जाता है। योगी और वेदान्ती लोग इसी पुरीतत् को सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं, जिसका एक भाग मस्तिष्क के ऊपरी भाग ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रहता है, जो वस्तुतः योगियों की आत्मा का निस्सरण द्वार है।[1] इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि तर्कसंग्रहकार ने आत्मा के समान ही मन को भी नित्य माना है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार के मन के स्वरूप एवं उसकी विशेषताओं का अत्यन्त सुन्दर एवं संक्षेप में उल्लेख किया है।

(ii) वैशेषिकदर्शन की नव द्रव्य परम्परा में 'मन' की अन्तिम द्रव्य को रूप में गणना की है।

(iii) किसी भी विषय के प्रत्यक्ष में मन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि मन की अनुपस्थिति में इन्द्रिय और पदार्थ के उपस्थित रहने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(iv) सम्भवतः इसीलिए न्यायसूत्रकार ने 'एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति न होना ही मन का लक्षण बताया है।[2]

(v) आचार्य अन्नंभट्ट ने प्रत्येक शरीर के साथ आत्मा की भिन्न स्थिति के साथ-साथ मन को भी प्रत्येक आत्मा के साथ 'नियत' रूप से अलग-अलग स्वीकार किया है।

(vi) ग्रन्थकार आत्मा और मन दोनों को नित्य मानते हुए भी इसके संयोग को नित्य नहीं मानते हैं। दीपिकाकार ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि ऐसा होने पर निद्रा अथवा सुषुप्ति की दशा सम्भव नहीं हो सकेगी।

(vii) मन के परमाणुरूप होने के कारण ही उसकी नित्यता सम्भव होती है।

(viii) बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि मन 72000 नाड़ियों में से प्रविष्ट होकर पुरीतत् में शयन करता है।[3] यद्यपि वेदान्ती इसका अभिप्राय 'जीव' से लेते हैं, जबकि नैयायिकों ने यहाँ इसका अर्थ 'मन' ही माना है।

(ix) डॉ० दयानन्द भार्गव ने भी निद्रा के समय शरीर की नाड़ियों के रक्त-

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य –3/1/7
2. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्, न्यायसूत्र।
3. बृहदारण्यकोपनिषद्–4/1/19

प्रवाह के शिथिल पड़ने तथा हृदयगति के अपेक्षाकृत धीमा होने को कारण मानते हुए 'मन' के पुरीतत् में प्रवेश होने की सम्भावना व्यक्त की है।

(x) सांख्य, योग एवं वेदान्तादि सभी दर्शन सूक्ष्मशरीर में आत्मतत्त्व के साथ 'मन' की स्थिति को मान्यता प्रदान करते हैं। उनके अनुसार–पुनर्जन्म की अवस्था में यही सूक्ष्म शरीर अन्य शरीर में प्रवेश करता है।

(xi) ग्रन्थकार के उक्त अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

(चित्र-21)

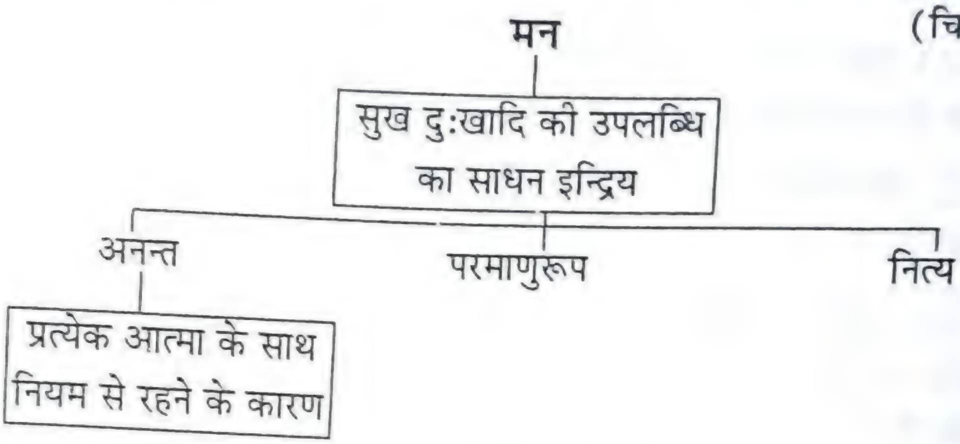

इति द्रव्यलक्षणप्रकरणम्।

●

(3) गुणलक्षणप्रकरणम्

अवतरणिका–मन के स्वरूप और उसकी विशेषताओं का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार गुणलक्षण प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम रूप नामक गुण उसके भेद, वृत्ति एवं स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं कि–

रूपस्य लक्षणं तस्य भेदाश्च–

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्रभेदात्सप्तविधम्। पृथिवी-जल तेजोवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लं तेजसि।

पदच्छेद–चक्षुः मात्रग्राह्यः गुणः रूपम्। तत् च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्र भेदात् सप्तविधम्। पृथिवी-जल-तेजस् वृत्तिः। तत्र पृथिव्याम् सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लम् तेजसि।

दीपिका–रूपं लक्षयति-चक्षुरिति। संख्यादावतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम्। रूपत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। प्रभाभित्तिसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय

चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं लक्षणम्। रूपं विभजते तच्चेति। नन्वव्याप्यवृत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपमिति चेन्न; रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमात्। ननु चित्रपटेऽवयवरूपस्य प्रतीतिरस्त्विति चेन्न; रूपरहितत्वेन पटस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकम्, गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः। रूपस्याश्रयमाह पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति तत्रेति।

अनुवाद–नेत्रमात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण रूप है तथा वह श्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, भूरा और चितकबरा भेद से सात प्रकार का होता है। (यह) पृथिवी, जल और तेज में स्थित रहता है। पृथिवी में सातों प्रकार के रूप विद्यमान रहते हैं। जल में न चमकने वाला शुक्लरूप है, जबकि तेज में चमकने वाला शुक्लरूप रहता है।

व्याख्या– ग्रन्थ के आरम्भ में ही तर्कसंग्रहकार ने गुणों की संख्या चौबीस बताते हुए (चतुर्विंशति गुणाः) उनका नामोल्लेख किया था। प्रसङ्ग प्राप्त होने पर अब यहाँ से उनकी क्रमशः व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सबसे पहले 'रूप' नामक गुण के विषय में कथन करते हैं। तदनुसार–"पञ्चेन्द्रियों में से केवल चक्षु नामक इन्द्रिय मात्र के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण ही वस्तुतः 'रूप' है।"

रूप की परिभाषा में प्रयुक्त 'मात्र' शब्द से अभिप्राय यह है कि यद्यपि रसना त्वगादि अन्य भी इन्द्रियाँ हैं जो विषयों का प्रत्यक्ष कराने में सहायक होती हैं, किन्तु सांसारिक पदार्थों में स्थित 'रूप' नामक गुण का प्रत्यक्ष केवल 'चक्षु' नामक इन्द्रिय ही कराती है, अन्य कोई इन्द्रिय इसका प्रत्यक्ष कराने में समर्थ नहीं होती है।

इसके अतिरिक्त लक्षण में 'मात्र' शब्द का प्रयोग संख्या में होने वाली अतिव्याप्ति का निषेध करने के लिए भी किया गया है, क्योंकि किन्हीं वस्तुओं की संख्या को हम नेत्र एवं त्वक् दोनों ही इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं। इसीप्रकार लक्षण में 'चक्षु' शब्द का प्रयोग इसकी 'रस' में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए किया गया है, क्योंकि रस का ग्रहण हम केवल रसनेन्द्रिय द्वारा ही कर सकते हैं, चक्षु द्वारा उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

'रूप' नामक गुण का लक्षण करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने इसके शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र नामक सात भेद किए हैं। यद्यपि ये सात भेद अन्य दार्शनिकों एवं वैज्ञानिक दृष्टि से निर्विवाद नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि ग्रन्थकार से पूर्व स्थित प्रशस्तपाद, उदयन और श्रीधर आदि आचार्यों ने इसके अनेक

भेदों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ ने सात रूपों का उल्लेख करने के बाद भी इसके अनेकत्व को मान्यता प्रदान की है–

तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरादिभेदादनेकप्रकारं भवति।

(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली)

इसीप्रकार वैज्ञानिक लोग रक्त, पीत और नील इन तीन को ही मूलत: रंग स्वीकार करते हैं, शेष चारों रूप इन्हीं तीन रंगों के मिश्रण द्वारा बनाए जा सकते हैं। इसके अलावा शुक्ल वर्ण भी 'बेनीआहपीनाला' बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल इन सात रंगों के मिश्रण द्वारा तैयार होता है। इन सभी सात रंगों को वैज्ञानिक 'प्रिज्म' का प्रयोग करके प्रत्यक्षत: प्रदर्शित भी करते हैं। इस दृष्टि से ग्रन्थकार के शुक्लवर्ण को भी वस्तुत: 'चित्ररूप' की ही संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त विद्वानों ने आचार्य अन्नंभट्ट के सातवें चित्र नामक रूप को अन्य छ: रूपों का मिश्रण बताते हुए इसकी पृथक् गणना करना अनुचित माना है। पुनरपि इस प्रसङ्ग में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपने पूर्व आचार्यों से प्रभावित होकर ग्रन्थकार ने रूप के सात भेदों को स्वीकृति अवश्य प्रदान की, किन्तु उनके द्वारा समर्थित इसके अनेक प्रकारों को मान्यता प्रदान न करके इसके केवल सात भेदों को ही अपनी सहमति दी है।

तत्पश्चात् इसके भास्वर और अभास्वर दो भेद बताते हुए तेज में भास्वर अर्थात् चमकदार शुक्लरूप की तथा जल में अभास्वर अर्थात् चमकरहित शुक्ल रूप की स्थिति को स्वीकार किया है। उनके मत में–रूप के सातों भेदों की स्थिति पृथिवी में विद्यमान रहती है। इसप्रकार इनकी स्थिति उन्होंने केवल पृथ्वी, जल और तेज में ही मानी है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन के आचार्य चौकोर, गोल आकार आदि को रूप की श्रेणी में मान्यता प्रदान नहीं करते हैं, क्योंकि इसप्रकार के विभिन्न आकारों का ग्रहण हम अपनी त्वक् नामक इन्द्रिय के द्वारा भी कर सकते हैं।

विशेष–(i) प्रशस्तपाद ने रूप की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए इसे केवल 'चक्षुग्राह्य' कहा है। वहाँ उन्होंने 'मात्र' एवं 'गुण' इन दोनों ही पदों का प्रयोग नहीं किया है (तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्)।

(ii) लक्षण में 'गुण' शब्द का प्रयोग ग्रन्थकार ने प्रभा में स्थित द्रव्य तथा रूप में स्थित रूपत्व जाति में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए किया है।

(iii) वाक्यवृत्तिकार ने परमाणु का रूप चक्षुग्राह्य न होने के कारण इस परिभाषा को अपूर्ण बताया है।

(iv) रूप के लक्षण में प्रयुक्त 'ग्रहण' शब्द से अभिप्राय साधारण ग्रहण से ही लेना उचित है। योगियों द्वारा अलौकिक ग्रहण से इसका अर्थ नहीं लेना चाहिए।

(v) 'चित्र' नामक भेद को अन्य छः रूपों का ही मिश्रण होने से पृथक् रूप न मानने विषयक आक्षेप के विषय में दीपिकाकार ने रूप को व्याप्य वृत्तिधर्म वाला बताते हुए, एक ही पदार्थ में अनेक रूपों की एक साथ स्थिति न होने के कारण इसे पृथक् रूप में मान्यता प्रदान करने में अपनी सहमति दी है।

(vi) वेदान्तदर्शन के आचार्य आकार को पदार्थ से भिन्न स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि अवयव संस्थान के भिन्न होने पर भी हम जैसे खड़े हुए व्यक्ति को पहचानते हैं, वैसे ही उसे बैठे हुए अथवा लेटे हुए को भी जान लेते हैं।

(vii) ग्रन्थकार ने यहाँ पृथिवी में सभी सात रूपों को तथा जल और प्रकाश में केवल शुक्ल की स्थिति को मान्यता प्रदान की है, किन्तु प्रकाश और जल की शुक्लता में भिन्नता होने के कारण उन्होंने इसके भास्वर और अभास्वर दो भेदों को स्वीकार किया है, जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक कहा जा सकता है।

(viii) वैज्ञानिक दृष्टि केवल प्रकाश में ही 'रूप' की स्थिति को स्वीकार करती है। उनके मत में–'जल अथवा पृथिवी में अपना कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है।

(ix) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-22)

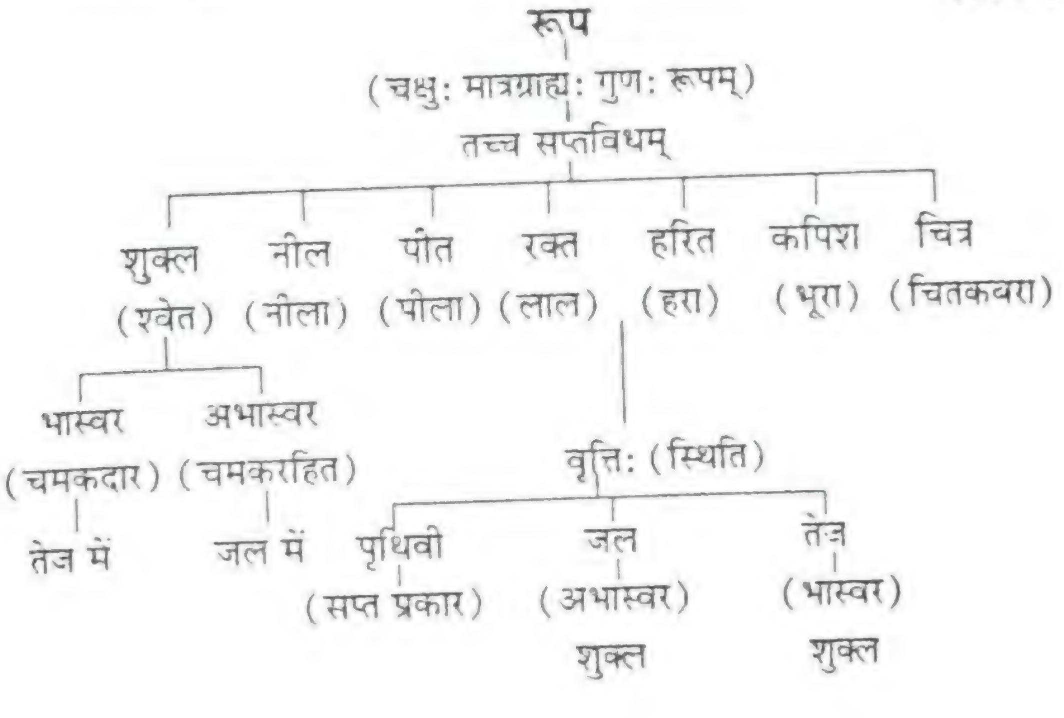

अवतरणिका–'रूप' नामक गुण का लक्षण भेद एवं वृत्ति आदि का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'रस' नामक गुण के विषय में कहते हैं कि–

रसस्य लक्षणं भेदाश्च–

रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवी जलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।

पदच्छेद–रसना-ग्राह्यः गुणः रसः। स च मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवी जलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुरः एव।

दीपिका–रसं लक्षयति-रसनेति। रसत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। रसस्याश्रयमाह–पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति-पृथिव्यामिति।

अनुवाद–रसना इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण 'रस' है तथा वह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छः प्रकार का होता है। इसकी स्थिति पृथिवी और जल में रहती है। उनमें भी पृथिवी में छहों रस विद्यमान हैं तथा जल में केवल मधुर ही है।

चन्द्रिका–रसना नामक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण ही वस्तुतः 'रस' नामक गुण होता है। साथ ही यह गुण मधुर (मीठा), खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला और तीखा भेद से छः प्रकार का होता है। यह रस नामक गुण पृथिवी और जल इन दोनों द्रव्य पदार्थों में विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त पृथिवी में ये सभी छः रस रहते हैं, जबकि जल में केवल 'मधुर' रस की ही स्थिति होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार ने 'रूप' नामक गुण की व्याख्या के समान ही यहाँ भी 'रस' नामक गुण के लक्षण का उल्लेख करते हुए उसे केवल रसना नामक इन्द्रिय के द्वारा ही ग्राह्य माना है, क्योंकि इस 'रस' नामक गुण को रसना नामक इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया ही नहीं जा सकता है। अतः अव्याप्ति-अतिव्याप्ति की कोई संभावना न होने से यहाँ उन्होंने सामान्य रूप से ही इसकी परिभाषा की है और मात्रादि का यहाँ प्रयोग नहीं किया है।

'रस' नामक गुण की परिभाषा के अनन्तर इसके मधुर-अम्ल-लवण कटु-कषाय और तिक्त नामक छः भेदों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से किया है और इन सभी छः भेदों की पृथिवी में स्थिति को स्वीकार किया, जबकि जल में केवल एक मधुर नामक रस की स्थिति का कथन किया।

इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है कि आचार्य उदयन ने अपने किरणावली नामक ग्रन्थ में पृथिवी में केवल पाँच गुणों को ही मान्यता प्रदान की है। उनका मत है कि–क्योंकि माधुर्य जल का विशेष गुण है। अतः यह पृथिवी में विशेपरूप से नहीं हो सकता है।

विशेष–(i) वैज्ञानिकों की मान्यता है कि जल नीरस होता है, जबकि वैशेपिकदर्शन वैज्ञानिकों के इस कथन से सहमत नहीं है।

(ii) वैशेषिकदर्शन के अनुसार–जल में मधुर रस समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। उसमें अन्य रसों की प्रतीति हमें पृथिवी के अन्य रस-विषयक कणों की उपस्थिति के कारण होती है। इस दृष्टि से जल में प्रतीत होने वाले अन्य लवणादि गुणों की स्थिति स्वाभाविक नहीं कही जा सकती है। हाँ, उसे औपाधिक अवश्य माना जा सकता है।

(iii) वैशेषिकदर्शन के आचार्यों की मान्यता है कि सामान्य रूप से हमें जल के स्वाभाविक गुण माधुर्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसका मुख्य कारण हमारे मुख में स्थित प्रतिकूल पार्थिव कणों के द्वारा उसके इस गुण का हरण कर लेना है, किन्तु यदि हम आँवले को खाकर अपने मुख को शुद्ध कर लेते हैं, तो उस स्थिति में जल के इस 'माधुर्य' गुण का रसनेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षरूप से अनुभव किया जा सकता है।

(iv) यद्यपि अनेक विद्वान् वैशेषिक आचार्यों के इस तर्क से सहमत नहीं हैं, उनका मानना है कि "आँवले नामक फल के कणों के भौतिक संयोग से जल में माधुर्य उत्पन्न होता है, न कि आँवले द्वारा मुख शुद्धि से जल का माधुर्य प्रकट होता है।"[1]

(v) ग्रन्थकार के उक्त अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

(चित्र-23)

रस

(रसनग्राह्यो गुणो रसः)

स च षड्विधः

मधुर (मीठा) | अम्ल (खट्टा) | लवण (नमकीन) | कटु (कडुवा) | कषाय (कसैला) | तिक्त (तीखा)

जले मधुर एव | पृथिव्यां षड्विद्यः

1. तर्कसंग्रह, डॉ० पंकज कुमार मिश्र, पृ० 64

अवतरणिका–'रस' नामक गुण का लक्षण, भेद और वृत्ति आदि का कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार तृतीय गुण 'गन्ध' के विषय में कहते हैं कि–

गन्धस्य लक्षणं, तस्य भेदौ च–

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

पदच्छेद–घ्राण-ग्राह्यः गुणः गन्धः (भवति)। सः च द्विविधः सुरभिः असुरभिः च। पृथिवी मात्र-वृत्तिः।

दीपिका–गन्धं लक्षयति-घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्।

अनुवाद–घ्राण नामक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण 'गन्ध' है तथा वह सुरभि और असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। यह केवल पृथिवी में ही विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका–घ्राण नामक इन्द्रिय अर्थात् नासिका से ग्रहण किए जाने वाले गुण को ही ग्रन्थकार ने 'गन्ध' संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि परमाणु रूप गन्ध अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। इसीलिए तर्कसंग्रहकार ने अपने लक्षण में परमाणुरूप गन्ध में अव्याप्ति निवारण के लिए 'घ्राण' पद का प्रयोग किया है। वैशेषिकदर्शन इस गुण की गणना तृतीय स्थान पर करता है।

इसके अतिरिक्त पूर्ववत् यहाँ भी गन्धत्व रूप जाति के लक्षण में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए गुण पद का प्रयोग किया गया है। यह गन्ध नामक गुण सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप से यहाँ केवल दो प्रकार का बताया गया है। जिसे ग्रन्थकार ने सुरभि और असुरभि शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है। सुरभि अर्थात् सुगन्ध से हमारे मन को असीम आनन्द की अनुभूति होती है, इसीलिए उसे हम बार-बार ग्रहण करना चाहते हैं। इस कार्य में हमें 'घ्राण' नामक इन्द्रिय अत्यन्त सहायता प्रदान करती है।

जबकि असुरभि अर्थात् दुर्गन्ध को ग्रहण करने पर हमारा मन व्याकुलता का अनुभव करता है और हम उससे शीघ्रतातिशीघ्र दूर भागना चाहते हैं। वस्तुतः असुरभि को यहाँ सुरभि के विपरीत अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ असुरभि, सुरभि से सर्वथा भिन्न और वास्तविक गन्ध है। सुरभि के समान ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। इतना अवश्य है कि सुरभि का प्रभाव हमारे मन और मस्तिष्क पर अनुकूल पड़ता है और हम उसमें देर तक रहना चाहते हैं, क्योंकि इससे हमें आनन्द की प्राप्ति होती है।

अवतरणिका–'रस' नामक गुण का लक्षण, भेद और वृत्ति आदि का कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार तृतीय गुण 'गन्ध' के विषय में कहते हैं कि–

गन्धस्य लक्षणं, तस्य भेदौ च–

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

पदच्छेद–घ्राण-ग्राह्यः गुणः गन्धः (भवति)। सः च द्विविधः सुरभिः असुरभिः च। पृथिवी मात्र-वृत्तिः।

दीपिका–गन्धं लक्षयति-घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्।

अनुवाद–घ्राण नामक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण 'गन्ध' है तथा वह सुरभि और असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। यह केवल पृथिवी में ही विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका–घ्राण नामक इन्द्रिय अर्थात् नासिका से ग्रहण किए जाने वाले गुण को ही ग्रन्थकार ने 'गन्ध' संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि परमाणु रूप गन्ध अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। इसीलिए तर्कसंग्रहकार ने अपने लक्षण में परमाणुरूप गन्ध में अव्याप्ति निवारण के लिए 'घ्राण' पद का प्रयोग किया है। वैशेषिकदर्शन इस गुण की गणना तृतीय स्थान पर करता है।

इसके अतिरिक्त पूर्ववत् यहाँ भी गन्धत्व रूप जाति के लक्षण में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए गुण पद का प्रयोग किया गया है। यह गन्ध नामक गुण सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप से यहाँ केवल दो प्रकार का बताया गया है। जिसे ग्रन्थकार ने सुरभि और असुरभि शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है। सुरभि अर्थात् सुगन्ध से हमारे मन को असीम आनन्द की अनुभूति होती है, इसीलिए उसे हम बार-बार ग्रहण करना चाहते हैं। इस कार्य में हमें 'घ्राण' नामक इन्द्रिय अत्यन्त सहायता प्रदान करती है।

जबकि असुरभि अर्थात् दुर्गन्ध को ग्रहण करने पर हमारा मन व्याकुलता का अनुभव करता है और हम उससे शीघ्रतातिशीघ्र दूर भागना चाहते हैं। वस्तुत: असुरभि को यहाँ सुरभि के विपरीत अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ असुरभि, सुरभि से सर्वथा भिन्न और वास्तविक गन्ध है। सुरभि के समान ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। इतना अवश्य है कि सुरभि का प्रभाव हमारे मन और मस्तिष्क पर अनुकूल पड़ता है और हम उसमें देर तक रहना चाहते हैं, क्योंकि इससे हमें आनन्द की प्राप्ति होती है।

इसके ठीक विपरीत असुरभि का प्रभाव हमारे मन और मस्तिष्क पर प्रतिकूल पड़ता है और हम इसमें कष्ट एवं व्याकुलता का अनुभव करते हैं, इसीलिए हम जल्दी से जल्दी उससे दूर चले जाना चाहते हैं। इसी को बदबू अथवा दुर्गन्ध भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इस गन्ध नामक गुण का वैशिष्ट्य है कि यह केवल पृथिवी अथवा इससे सम्बन्धित पदार्थों में ही पाया जाता है। इसीलिए पृथिवी का लक्षण ही 'गन्धवती' किया गया है।

यहाँ प्रतिपक्षी की ओर से शंका की जा सकती है कि हमें अनेक बार अग्नि, जल और वायु आदि में भी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध की प्रतीति होती है तो फिर यहाँ एकमात्र पृथिवी में ही इसकी स्थिति का कथन क्यों किया गया? इसका उत्तर यही है कि उन-उन पदार्थों में पृथिवी तत्त्व के विद्यमान होने पर ही हमें उनमें सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध की प्रतीति होती है। इसके अभाव में इनमें सुरभि अथवा असुरभि का होना असम्भव है। इसे यज्ञ की अग्नि के सुगन्धित धुएँ तथा सड़े हुए प्राणी का स्पर्श करके आती हुई वायु आदि दोनों उदाहरणों से समझा जा सकता है। इन दोनों ही स्थलों पर पार्थिव तत्त्वों की विद्यमानता स्पष्ट है।

विशेष–(i) अत्यन्त सरल भाषा एवं शैली में 'गन्ध' नामक गुण को स्पष्ट किया गया है।

(ii) पृथिवी में 'गन्ध' की सत्ता को अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर भी समझा जा सकता है। जैसे–यत्र-यत्र गन्धः तत्र-तत्र पृथिवी। यथा–पुष्पादि। यत्र-यत्र गन्धः नास्ति तत्र-तत्र पृथिव्यपि नास्ति। यथा-जलम्।

(iii) दीपिकाकार के अनुसार–लक्षण में गुण पद का ग्रहण गन्धत्व रूप जाति में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए किया गया है।

(iv) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-24)

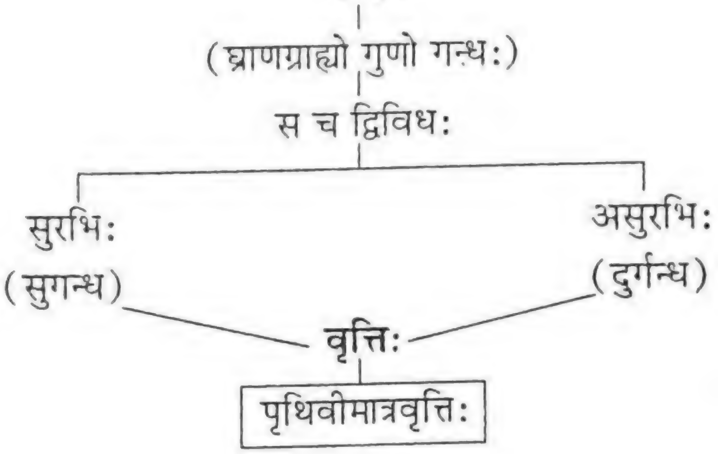

अवतरणिका–'गन्ध' नामक गुण का उल्लेख करने के बाद चतुर्थ गुण 'स्पर्श' की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–

स्पर्शस्य लक्षणं भेदाश्च–

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः–शीतोष्णाऽनुष्णाऽशीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाऽशीतः पृथिवीवाय्वोः।

पदच्छेद–त्वक्-इन्द्रिय-मात्र-ग्राह्यः-गुणः स्पर्शः। सः च त्रिविधः-शीतः-उष्ण-अनुष्ण-अशीत-भेदात्। पृथिवी-अप्-तेजः वायु-वृत्तिः। तत्र शीतः जले। उष्णः तेजसि। अनुष्ण-अशीतः पृथिवी वाय्वोः।

दीपिका–स्पर्शं लक्षयति–त्वगिति। स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम्।

अनुवादः–त्वचा (नामक) इन्द्रिय मात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण 'स्पर्श' है और वह शीत, उष्ण, अनुष्ण-अशीत भेद से तीन प्रकार का होता है। इसकी स्थिति पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहती है। उनमें भी जल में शीत, तेज में उष्ण एवं पृथिवी तथा वायु में न ठण्डा न गर्म (अनुष्णाशीत) रहता है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट रूप, रस और गन्ध नामक गुणों की व्याख्या करने के पश्चात् 'स्पर्श' नामक गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि हमारे शरीर में केवल त्वक् नामक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य गुण ही स्पर्श है। यद्यपि हम दैनिक व्यवहार में भी किसी वस्तु या व्यक्ति से छू जाने को भी स्पर्श कहते हैं तथापि यहाँ ग्रन्थकार इसका विशेष अर्थ में प्रयोग करते हुए उसका लक्षण करते हैं।

'रूप' नामक गुण की परिभाषा के समान ही स्पर्श के लक्षण में यहाँ भी ग्रन्थकार ने 'मात्र' पद का प्रयोग किया है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि आचार्य अन्नंभट्ट द्वारा कहे गए रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामक ये चारों ही गुण वस्तुतः अपनी-अपनी इन्द्रियों क्रमशः-चक्षु, रसना, घ्राण और त्वक् द्वारा ही ग्रहण किए जाते हैं, कोई भी इन्द्रिय अन्य इन्द्रिय के विषयरूप गुण को ग्रहण नहीं कर सकती है। इसलिए 'मात्र' शब्द का अन्य दोनों 'रस' और 'गन्ध' नामक गुणों के लक्षणों में भी ग्रहण करना उचित है। सम्भवतः इसी बात को स्मरण दिलाने के लिए ग्रन्थकार ने 'रूप' नामक गुण के लक्षण के अनन्तर दो गुणों की व्याख्या के पश्चात् इस गुण के लक्षण में 'मात्र' पद का प्रयोग किया है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार रस और गन्ध की परिभाषा में मात्र पद का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि ये केवल अपने ही गुणों को ग्रहण करते हैं, जबकि त्वगिन्द्रिय स्पर्श के अलावा संख्या, संयोग इत्यादि को भी ग्रहण करती है।

ग्रन्थकार के अनुसार–यह स्पर्श नामक गुण तीन प्रकार का होता है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत अर्थात् न तो ठंडा और न गर्म। इन तीनों में भी शीत नामक स्पर्श गुण जल में विद्यमान रहता है तथा 'तेज' में उष्ण नामक स्पर्श गुण स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में ठंडा होना जल का असाधारण धर्म है, जबकि गर्म तेज का। जबकि पृथिवी और वायु दोनों ही न ठण्डे और न गर्म होते हैं। इस दृष्टि से पृथिवी जल, तेज और वायु इन चारों का ही आचार्य अन्नंभट्ट स्पर्श नामक गुण के आश्रय द्रव्यों के रूप में स्वीकार करते हैं।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श इन चारों गुणों की व्याख्या के लिए एक ही शैली का प्रयोग किया है।

(ii) स्पर्श के लक्षण में प्रयुक्त 'गुण' पद का प्रयोग लक्षण के स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए किया गया है।

(iii) स्पर्श नामक गुण को ग्रन्थकार ने शीत, उष्ण और अनुष्ण-अशीतरूप तीन प्रकार का बताया है।

(iv) ग्रन्थकार ने पृथिवी, जल , तेज और वायु इन चारों में स्पर्श नामक गुण की स्थिति को स्वीकार किया है।

(v) इनमें भी जल में शीत नामक स्पर्श को, तेज में उष्ण को तथा पृथिवी और वायु दोनों में 'अनुष्णाशीत' नामक स्पर्श को मान्य किया है।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-25)

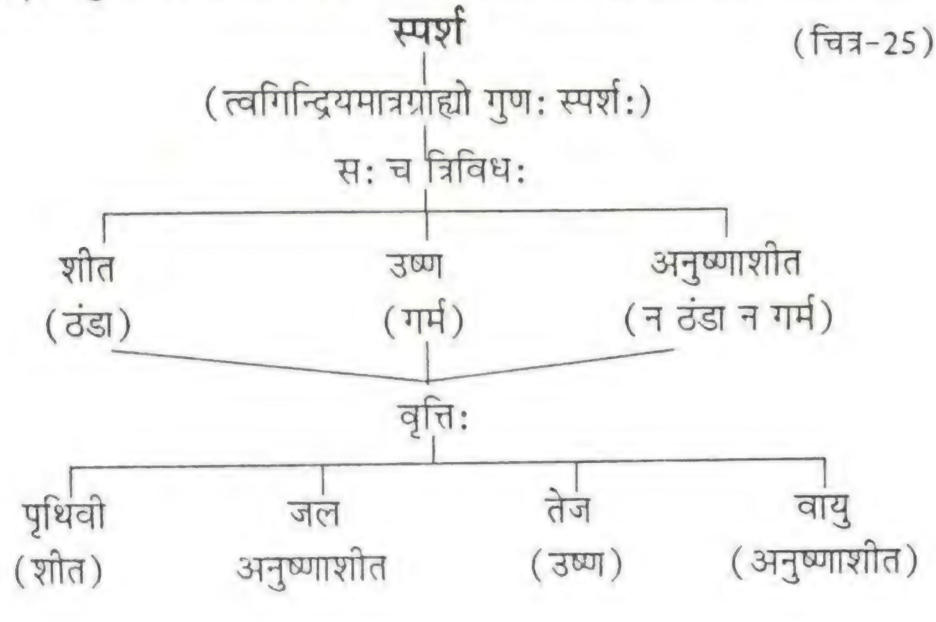

अवतरणिका–इसप्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों गुणों की क्रमश: व्याख्या करने के बाद तर्कसंग्रहकार इन चारों ही गुणों की भिन्न विशेषता का कथन करते हुए कहते हैं कि–

पाकजत्वस्य अपाकजत्वस्य च व्यवस्था–

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्राऽपाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्।

पदच्छेद–रूप-आदि-चतुष्टयम् पृथिव्याम् पाकजम् अनित्यञ्च। अन्यत्र अपाकजम् नित्यम् अनित्यम् च। नित्यगतम् नित्यम्, अनित्यगतम् अनित्यम्।

दीपिका–पाकजमिति। पाकस्तेज:संयोग:। तेन पूर्वरूपं नश्यति–रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थ:। अत्र परमाणुष्वेव पाक:, न द्व्यणुकादौ। आमपाकनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्ति:। तत्र परमाणव: समवायिकारणम्। तेज:संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्व्यणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणमिति पीलुपाकवादिनो वैशेषिका:। पूर्वघटस्य नाशं विनैव अवयविनि अवयवेषु परमाणुयुगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिका:। अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यमित्यर्थ:।

अन्यत्रेति। जलादावित्यर्थ:। नित्यगतमिति। परमाणुगतमित्यर्थ:। अनित्यगतमिति। द्व्यणुकादिनिष्ठमित्यर्थ:। रूपादिचतुष्टयमुद्भूतं प्रत्यक्षम्, अनुद्भूतमप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजको धर्म:। तदभावोऽनुद्भूतत्वम्।

अनुवाद–पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण 'पाक' द्वारा उत्पन्न होते हैं। अत: अनित्य हैं। अन्यत्र (ये) अपाकज हैं और नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। (ये) नित्य पदार्थों में नित्य तथा अनित्य में अनित्य हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार का मानना है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों गुणों की स्थिति पृथिवी में विद्यमान होती है। साथ ही ये चारों गुण इसमें 'पाक' क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन्हें यहाँ 'पाकज' संज्ञा भी प्रदान की है। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि पाकज होने अर्थात् उत्पन्न होने के कारण ये सभी अनित्य भी हैं। इस दृष्टि से पृथिवी में स्थित गन्ध नामक विशेषगुण अनित्य ही है।

जबकि एक अन्य स्थिति यह भी है कि पृथिवी से भिन्न द्रव्यों में ये सभी गुण 'अपाकज' हैं। वहाँ इनकी स्थिति नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की होती है,

क्योंकि ये गुण नित्यपरमाणु में नित्य रूप से और अनित्य कार्य में अनित्य रूप से विद्यमान हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ तर्कसंग्रहकार ने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्रथमतः दो भाग किए, पाकज और अपाकज तथा इन्हें नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का बताया। इनमें पाकज रूप रसादि कार्य होने से अनित्य हैं, जबकि अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। जो रूपादि गुण नित्य परमाणुओं में विद्यमान रहते हैं वे नित्य तथा जो अनित्य कार्य में स्थित रहते हैं वे अनित्य होते हैं। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि रूपादि पाकज गुण कभी गर्मी द्वारा उत्पन्न होते हैं, तो कभी उनकी स्थिति सहज और स्वाभाविक उत्पन्न होने की होती है।

पृथ्वी में ये उष्णता के कारण उत्पन्न होने से अनित्य हैं, जबकि अन्य तीन द्रव्य–जल, अग्नि और वायु में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। इन द्रव्यों में इन गुणों की स्थिति नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की होती है, क्योंकि जब ये नित्य परमाणुओं में स्थित रहते हैं तो नित्य होते हैं, किन्तु जब ये अनित्य रूप कार्य में विद्यमान होते हैं तो इनकी अनित्य स्थिति होती है।

प्रस्तुत अंश को समझने के लिए सर्वप्रथम यहाँ प्रयुक्त 'पाक' शब्द को समझना होगा, क्योंकि ग्रन्थकार ने यहाँ पूर्वप्रयुक्त रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सर्वप्रथम दो भेदों पाकज और अपाकज का ही उल्लेख किया है। 'पाक' का सामान्य अर्थ 'पकाना' है और यह क्रिया तेज के संयोग से होती है। इसीलिए तर्कसंग्रहकार ने तेज के संयोगमात्र को 'पाक' कहा है (तेजः संयोगमात्र पाकः)। इसे हम उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं–

"कुम्हार जब मिट्टी द्वारा बने हुए घड़े को पकाने के लिए भट्टी में चढ़ाता है तो वह मिट्टी के वर्ण का काला या मटमैला होता है, किन्तु भट्टी में उष्णता के स्पर्श से पक जाने पर उसका रंग लाल हो जाता है। घड़े के रूप में परिवर्तन की यह प्रक्रिया ही वस्तुतः 'पाक' कहलाती है।"

पृथिवी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, चारों गुण उष्णता के सम्पर्क के कारण परिवर्तनशील होने से 'पाकज' हैं। अतः कार्य होने से अनित्य भी हैं, क्योंकि यत् यत् कार्यं तत् तत् अनित्यम्। यथा घटः, पटः इत्यादि। इस दृष्टि से पृथिवी में स्थित गन्ध नामक विशेष गुण भी अनित्य ही है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि सामान्यतः एक जैसे प्रतीत होने वाले न्याय और वैशेषिकदर्शन 'पाक' विषयक प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक मत प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि न्यायदर्शन इस क्रिया को 'पिठर पाक' संज्ञा प्रदान करता है तो वैशेषिक इसे 'पीलुपाक' कहता है अर्थात् 'पाक' क्रिया को दोनों ही स्वीकार करते हैं अर्थात् मान्यता प्रदान करते हैं। जिसे उदाहरण द्वारा इसप्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

"कच्चे आम का रूप-हरा, रस-खट्टा, गन्ध-असुरभि तथा स्पर्श-कठोर होता है, किन्तु यही आम जब सूर्य की किरणों की उष्णता अथवा कार्बेट आदि रसायन की उष्णता के संपर्क में आता है तो उसी आम का रूप-लाल, रस-मधुर, गन्ध-सुरभि एवं स्पर्श-कोमल हो जाता है।"

इस परिवर्तन से सम्बन्धित सिद्धान्त के बारे में न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन समान रूप से सहमति रखते हैं, किन्तु यहाँ होने वाली प्रक्रिया को लेकर दोनों में सैद्धान्तिक मतभेद विद्यमान है। जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि वैशेषिकदर्शन 'पीलुपाक' की प्रकल्पना को मान्यता प्रदान करता है। यहाँ प्रयुक्त 'पीलु' पद का अभिप्राय है–परमाणु। अतः इस दृष्टि से इसका अर्थ हुआ–'परमाणुओं का पाक'।

अतः इस सिद्धान्त के अनुसार पाक की यह क्रिया परमाणुओं में होती है, अन्यत्र नहीं। जबकि नैयायिकों की पिठर पाक प्रकल्पना के अनुसार यह पाक परमाणुओं का नहीं, अपितु कार्य-कारण समूह में होता है, क्योंकि पिठर का अर्थ है-पिण्ड, जो वस्तुतः कार्य-कारण समुदाय ही है। इसलिए पाकरूप यह क्रिया सम्पूर्ण घट रूप पिण्ड में होती है, उसके परमाणुओं में नहीं।

अतः इन दोनों दर्शनों में उपर्युक्त स्थूल अन्तर के अतिरिक्त एक अन्तर यह भी है कि पीलुपाक को स्वीकार करने वाला वैशेषिकदर्शन इन्द्रियगम्य सभी पदार्थों को ठोस न मानकर छिद्र वाला मानता है। अतः इनके परमाणुओं के मध्य उष्णता प्रवेश करके उनके संयोग को नष्ट करती है। इस दृष्टि से पूर्व कार्य द्रव्य के प्रथम रूप घटादि का नाश हो जाता है तथा उसमें रक्तवर्ण वाले दूसरे रूप घटादि की उत्पत्ति हो जाती है। परिवर्तन की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया घट के परमाणुओं में होती है न कि कार्यरूप द्रव्य घट में होती है।

जबकि पिठर पाक की प्रक्रिया को मानने वाला नैयायिक कहता है कि दैनिक व्यवहार में हम पाकरूप यह प्रक्रिया सम्पूर्ण घटरूप पिण्ड में देखते हैं। अग्नि अपने

सूक्ष्मरूप में घटादि में स्थित छिद्रों से परमाणुओं के मध्य प्रविष्ट होकर उन्हें विखण्डित किए बिना ही घटादि में लालिमा को उत्पन्न कर देता है।

अत: इन दोनों सिद्धान्तों में मुख्य अन्तर यही है कि पीलुपाक को मानने वाले वैशेषिक आचार्य घटादि के परमाणुओं के बीच उष्णता के प्रवेश से उनके संयोग के नष्ट होने के कारण प्रथम कार्यद्रव्य घटादि का नाश मानकर नूतन लाल घट की उत्पत्ति मानते हैं। जबकि नैयायिक अग्नि में सम्पूर्ण घट के प्रवेश से उसके आरंभिक परमाणुओं के संयोग के नाश से घटनाश एवं उसके पश्चात् नये घड़े की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के अनन्तर में हम पहले वाले घड़े को ही देखते हैं। यहाँ अन्तर केवल उसमें रंग में परिवर्तन का ही है। यदि पहले घड़े के नष्ट होने पर उसके स्थान पर सर्वथा नूतन घड़ा उत्पन्न होता तो उसे हम अपने पुराने घड़े के रूप में भला कैसे पहचान सकते हैं? अत: पिठर पाक वाला सिद्धान्त ही उचित एवं व्यावहारिक प्रतीत होता है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने पूर्व में उल्लिखित रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों गुणों के पाकज और अपाकज दो भेद किए हैं।

(ii) साथ ही पृथिवी में स्थित इन चारों गुणों को पाकज मानते हुए इन्हें अनित्य बताया है।

(iii) अन्यत्र अर्थात् जल, तेज और वायु में उन्होंने इन गुणों की अपाकज स्थिति को मानते हुए इसके नित्य और अनित्य दो भेदों को स्वीकार किया है।

(iv) परमाणु आदि नित्य पदार्थों में अपाकज तथा कार्य आदि अनित्य पदार्थों में अनित्य अपाकज की स्थिति को मान्य किया है।

(v) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने पाकज और अपाकज शब्दों को स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु टीकाकारों ने इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

(vi) तत्त्वदीपिकाकार ने पाक को तेज का संयोग बताया है (पाकस्तेज: संयोग:)।

(vii) दीपिकाकार ने इस प्रसङ्ग में वैशेषिक के पीलुपाक और नैयायिकों के पिठर पाक की विस्तार से व्याख्या की है।

(viii) वैशेषिक और नैयायिकों के मध्य पीलुपाक और पिठर पाक से सम्बन्ध में होने वाले विवाद को विद्वानों ने कारिका के माध्यम से इसप्रकार प्रदर्शित किया है–

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।।

(ix) ग्रन्थकार ने पृथिवी के नित्य परमाणुओं में स्वाभाविक एवं नित्य गन्ध की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है।

(x) प्रस्तुत अंश में प्रयुक्त पाकज और अपाकज का संक्षेप में यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उष्णता के संपर्क में आने पर पृथ्वी अपने गुणों में परिवर्तन कर देती है। जबकि जल, अग्नि और वायु आदि पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(xi) यद्यपि हम देखते हैं कि वायु और जल भी उष्णता के संयोग से गर्म हो जाते हैं, किन्तु वह उनकी स्वाभाविक उष्णता नहीं होती है। अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया गया है।

(xii) वैशेषिकों के पीलुपाक के सम्बन्ध में जहाँ वह घट को पकाने पर प्रथम कृष्णवर्ण या मटमैले घट के विनाश के अनन्तर उसमें रक्तवर्ण वाले द्वितीय घट की उत्पत्ति को मानता है। इस प्रसंग में प्रतिपक्षी द्वारा शंका की जा सकती है कि यह उत्पत्ति का क्रम निरन्तर देखते रहने पर भी हमें दिखाई क्यों नहीं देता है?

(xiii) प्रतिपक्षी की इस शंका का समाधान करते हुए वैशेषिक कहता है कि प्रथम घट नाश और पुनः उत्पत्ति की यह प्रक्रिया इतनी अधिक शीघ्रता से होती है कि निरन्तर देखने पर भी उसका हमें पता ही नहीं चलता है।

(xiv) वैशेषिकों द्वारा पूर्व घटनाश एवं नूतन घटोत्पत्ति की इस प्रक्रिया में समयावधि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् इसमें 9 तो कुछ 10 तथा अन्य इसमें 11 पलों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत अन्य कुछ के मत में यह समय केवल 5 पलों का ही होता है।

(xv) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं–

(चित्र-26)

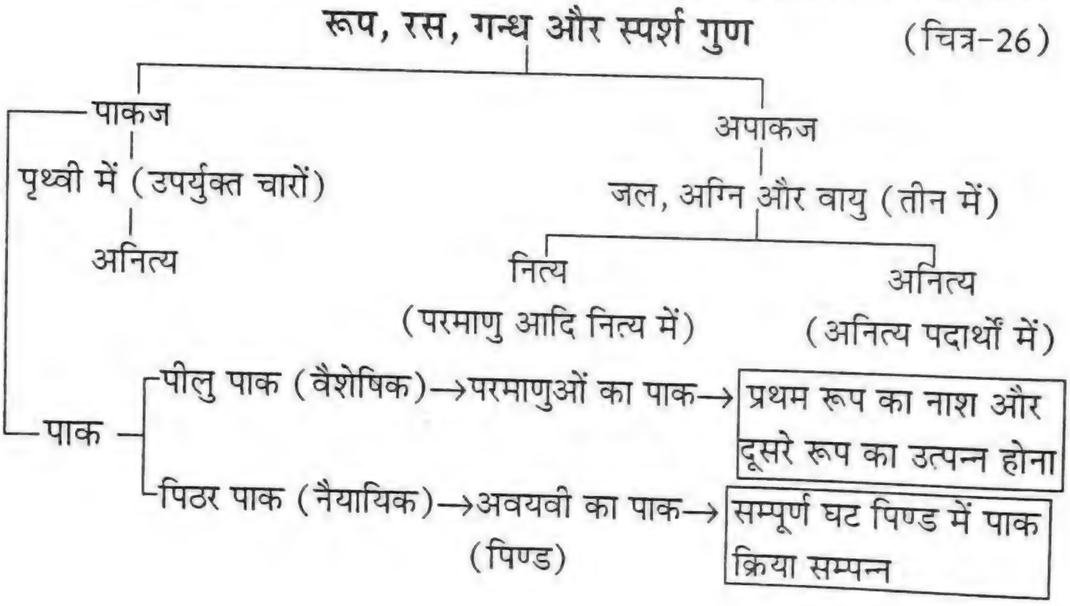

अवतरणिका–रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार गुणों के लक्षण, स्थिति तथा भेदोपभेदों का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार संख्या नामक पञ्चम गुण को स्पष्ट करते हैं–

सङ्ख्याया लक्षणम्–

एकत्वादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादि-परार्धपर्यन्ता एकत्वं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्राऽनित्यमेव।

पदच्छेद-एकत्व-आदि-व्यवहार हेतुः संख्या। सा नव-द्रव्य-वृत्तिः। एकत्व आदि-परार्ध-पर्यन्ता। एकत्वम् नित्यम् अनित्यम् च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतम् अनित्यम्। द्वित्वादिकम् तु सर्वत्र अनित्यम् एव।

दीपिका–सङ्ख्यां लक्षयति-एकत्वेति।

अनुवाद–एक, दो, तीन इत्यादि व्यवहार का कारण (ही) संख्या है। वह (सभी) नौ द्रव्यों में विद्यमान रहती है। (इसकी सीमा) एक से लेकर परार्ध तक है। एकत्व नित्य और अनित्य (दोनों प्रकार का होता) है। (वह) नित्य द्रव्य में नित्य तथा अनित्य में अनित्य है। (जबकि) द्वित्वादि संख्या सर्वत्र ही अनित्य हैं।

चन्द्रिका–संख्या नामक गुण को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार अन्नंभट्ट कहते हैं कि जिस गुण के आधार पर हम दैनिक व्यवहार में एक, दो, तीन इत्यादि का प्रयोग करते हैं, वही गुण वस्तुतः 'संख्या' इस नाम से जाना जाता है। सभी नौ द्रव्यों में इसकी विद्यमानता देखी जाती है। इसके अतिरिक्त संख्या एक से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। इन सभी संख्याओं में एकत्व नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है, क्योंकि जब वह नित्य द्रव्य में स्थित रहता है तो नित्य इसके अतिरिक्त अनित्य पदार्थ में स्थित होने पर यही एकत्व संख्या अनित्य हो जाती है। इसके ठीक विपरीत द्वित्वादि से लेकर परार्ध पर्यन्त शेष सभी संख्याएँ अनित्य की कोटि में आती हैं।

विशेष–(i) आचार्य अन्नंभट्ट ने यहाँ संख्या की परिभाषा में प्रशस्तपाद द्वारा दी गई परिभाषा का अक्षरशः प्रयोग किया है।

(ii) संख्या के लक्षण में 'हेतु' शब्द का अभिप्राय 'असाधारण निमित्त' कारण है, जिसका प्रयोग 'काल' और 'दिशा' आकाश में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए किया गया है।

(iii) विद्वानों ने सामान्य गुणों की संख्या दस मानी है, जिनमें संख्या का सर्वप्रथम परिगणन किया गया है-

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवः सांसिद्धिकस्तथा।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः।।
(भाषा-परिच्छेद-91-92)

(iv) ग्रन्थकार ने संख्या के भेदों की गणना करते हुए इसे एक से लेकर परार्ध तक माना है। यहाँ परार्ध से अभिप्राय-एक लाख×एक लाख×एक करोड़ से है, जिसे हम एक संख्या के आगे सत्रह शून्य लगाकर भी प्रदर्शित कर सकते हैं (1,00,00,00,00,00,00,00,000)।

(v) इसी संख्या को भाषा परिच्छेदकार ने एक, दश, शत, सहस्र, अयुत इत्यादि रूप से कुल अट्ठारह प्रकार का बताया है। (भाषा परिच्छेद-109)

(vi) संख्या का सबसे पहले प्रयोग हमें ऋग्वेद (1/35/6,9, 9/90/1) में उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् यजुर्वेद संहिता में (15.2.2) में भी इनका उल्लेख हुआ है।

(vii) श्रीधराचार्य एवं आचार्य शंकर ने एकत्व एवं द्वित्व के समान ही बहुत्व संख्या को भी मान्यता प्रदान की है, किन्तु उदयनाचार्य इसके पक्षधर नहीं हैं।

(viii) किरणावली में संख्या की अनित्यता को 'अपेक्षा बुद्धिजन्य' कहा गया है। यहाँ अपेक्षा बुद्धि से अभिप्राय अनेक में होने वाली एक-एक बुद्धि से ग्रहण करना चाहिए।

(ix) एकत्व संख्या के ग्रन्थकार ने प्रथमतः नित्य और अनित्य दो भेद किए हैं। जिसे हम उदारहण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं, क्योंकि आकाश, काल आदि के नित्य होने से उन में स्थित एकत्व नित्य है, जबकि घट-पट आदि अनित्य पदार्थों में रहने वाले एकत्व की स्थिति अनित्य है, क्योंकि उनके विनष्ट होने पर उनका एकत्व भी नष्ट हो जाता है।

(x) एकत्व अणुओं में विद्यमान रहता है जबकि द्वित्व से लेकर शेष संख्याएँ कार्य पदार्थ में रहती हैं। इसलिए भी वे अनित्य हैं।

(xi) वैशेषिकों की मान्यता है कि सभी ज्ञान सर्वव्यापक आत्मा के गुण होने के कारण अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। द्वित्वादि संख्या को सर्वत्र अनित्य बताने में भी यही अभिप्राय निहित है।

(xii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं–

(चित्र-27)

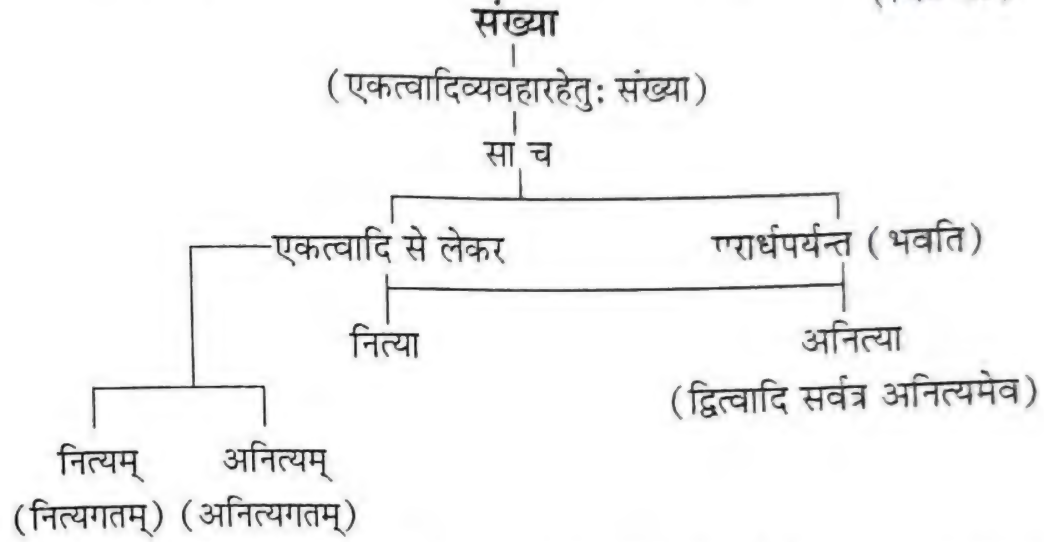

अवतरणिका–संख्या नामक गुण की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार परिमाण नाम गुण के लक्षण, वृत्ति एवं भेदादि के विषय में उल्लेख करते हैं–

परिमाणस्य लक्षणं, तद्भेदाश्च–

मानव्यवहाराऽसाधारणकारणं परिमाणम्। नवद्रव्यवृत्तिः। तच्चतुर्विधम्–अणु, महत्, दीर्घं ह्रस्वञ्चेति।

पदच्छेद–मान-व्यवहार-असाधारणकारणम् परिमाणम्। नव-द्रव्यवृत्तिः। तत् चतुर्विधम्-अुण-महत्-दीर्घ-ह्रस्वम् च इति।

दीपिका–परिमाणं लक्षयति–मानेति। परिमाणं विभजते–तच्चेति। भावप्रधानो निर्देशः–अणुत्वं, महत्वं, दीर्घत्वं, ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः।

अनुवाद–'मान' व्यवहार का असाधारण कारण (ही) परिमाण है। (जो) नौ द्रव्यों में विद्यमान रहता है। वह चार प्रकार का होता है-अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व।

चन्द्रिका–आचार्य अन्नंभट्ट परिमाण नामक सामान्य गुण की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि मान अर्थात् माप, तौल के व्यवहार के असाधारण कारण को ही परिमाण कहते हैं। इसकी स्थिति सभी नौ द्रव्यों-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन में विद्यमान रहती है। अणु (सूक्ष्म), महत्, दीर्घ और ह्रस्व भेद से यह चार प्रकार का होता है।

यद्यपि यहाँ ग्रन्थकार ने परिमाण के विषय में अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया है तथापि वैशेषिकदर्शन में अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व, इन चार प्रकार के परिमाणों

में भी प्रत्येक के मध्यम और परम दो भेदों को उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् इन आठ भेदों के भी नित्य, अनित्य भेद होते हैं। इनमें पारिमाण्डल्य और विभुत्व नित्य हैं, शेष सभी अनित्य की श्रेणी में आते हैं।

सर्वाधिक सूक्ष्म परमाणु की सूक्ष्मता पारिमाण्डल्य कहलाती है, जो वस्तुत: परमसूक्ष्मता का उदाहरण है। इसीप्रकार द्व्यणु मध्यम अणु का उदाहरण कहा जा सकता है। जबकि आकाश परम महत्त्व या विभुत्व का उदाहरण है तथा संसार के सभी दृश्य पदार्थ मध्यम महत्त्व के उदाहरण हैं। इनमें भी अणु और महत्त्व तीन आयाम के छोटेपन और बड़ेपन का कथन करते हैं। इसके ठीक विपरीत दीर्घ और ह्रस्व वस्तुत: एक आयाम में यथा-रेखा, दीर्घ अथवा ह्रस्व का संकेत करते हैं।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। परिमाण भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। इनमें पारिमाण्डल्य और विभुत्व नित्य हैं और अन्य सब अनित्य हैं। पुन: यह अनित्य परिमाण भी तीन प्रकार का माना गया है-संख्याजन्य, परिमाणजन्य तथा प्रचय जन्य। इनमें द्व्यणुकादि के परिमाण संख्या जन्य की कोटि में आते हैं तथा घटादि परिमाण जन्य के उदाहरण हैं, जबकि रुई आदि को प्रचयजन्य की श्रेणी में रखा गया है।[1]

विशेष–(i) लक्षण में प्रयुक्त 'मान' पद से अभिप्राय माप, तौल आदि से ग्रहण करना चाहिए।

(ii) परिमाण की यह परिभाषा भी वस्तुत: ग्रन्थकार ने प्रशस्तपाद की परिभाषा का अनुकरण करते हुए ही प्रस्तुत की है।

(iii) यद्यपि तर्कसंग्रहकार ने यहाँ परिमाण के चार ही भेद प्रदर्शित किए हैं तथापि वैशेषिकदर्शन इसके नित्य, अनित्य भेदों को भी मान्यता प्रदान करता है।

(iv) डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का मत है कि व्यावहारिक दृष्टि से परिमाण के अणुत्व और महत्व नामक दो भेद ही करना उचित है। उन्होंने महत्व-दीर्घत्व तथा अणुत्व और ह्रस्वत्व में प्रदर्शित भेद को सर्वथा सतही कहा है।[2]

(v) उपर्युक्त अंश के विवेचन को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

(अगले पृ० पर द्र०)

---

1. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ०-71
2. *Critique of Indian Realism,* Dr. D.N. Shastri, p. 296.

(चित्र-28)

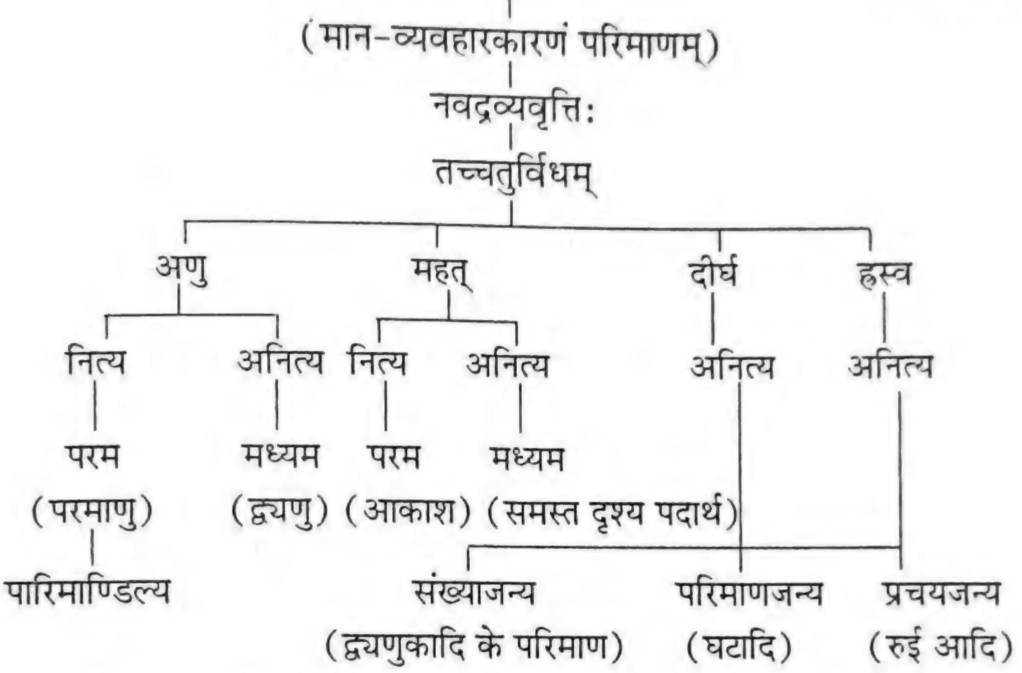

अवतरणिका–परिमाण नामक गुण का उल्लेख करने के पश्चात् 'पृथक्त्व' का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

पृथक्त्वलक्षणम्–

पृथग् व्यवहाराऽसाधारणकारणं पृथक्त्वम् सर्वद्रव्यवृत्तिः।

पदच्छेद–पृथक् व्यवहार-असाधारणकारणम् पृथक्त्वम्, सर्वद्रव्यवृत्तिः।

दीपिका–पृथक्त्वं लक्षयति-पृथगिति। इदमस्मात् पृथगिति व्यवहारकारण-मित्यर्थः।

अनुवाद–पृथक् व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहा गया है, (यह) सभी द्रव्यों में विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार ने यहाँ दो पदार्थों में पारस्परिक भिन्नता को प्रदर्शित करने वाले गुण को 'पृथक्त्व' की संज्ञा प्रदान की है, जिसका अनुभव हम दैनिक व्यवहार में 'यह इससे अलग है' इस रूप में करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि यह इससे भिन्न है, इसप्रकार की प्रतीति का भाव ही 'पृथक्त्व' नामक गुण कहलाता है। इसकी स्थिति सभी नौ द्रव्यों में विद्यमान होती है। यद्यपि ग्रन्थकार ने यहाँ इसके भेदों का उल्लेख नहीं किया है तथापि वैशेषिकदर्शन इसे एक पृथक्त्व और द्विपृथक्त्व आदि के भेद से अनेक प्रकार का मानता है।[1]

1. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ० 121

विशेष–(i) संख्या की दृष्टि से पृथक्त्व सातवाँ गुण है।

(ii) संख्या एवं परिमाण के समान ही यह भी सामान्य गुण की श्रेणी में आता है।

(iii) डॉ० दयानन्द भार्गव ने प्रशस्तपाद भाष्य में प्रयुक्त पृथक्त्व की परिभाषा को इस परिभाषा की अपेक्षा अधिक उपयुक्त माना है।

(iv) प्रशस्तपाद भाष्यकार के अनुसार–एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पृथक् रूप में जानकर पहचानना ही पृथक्त्व नामक गुण है (अपोद्धार व्यवहार कारणम् पृथक्त्वम्)।

(v) इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यह पृथक्त्व नामक गुण वस्तुतः अन्योन्याभाव से भिन्न है, क्योंकि अन्योन्याभाव में हम घट में पट के अभाव को देखते हैं, जबकि 'पृथक्त्व' में पट से घट की पृथक्ता अथवा भिन्नता को पहचाना जाता है (पटाद् घटः पृथक्)।

(vi) इस दृष्टि से पृथक्त्व के रूप में घट की एक पट से पृथक् विशेष सत्ता का कथन करना प्रमुख है। इसप्रकार पृथक्त्व वस्तुतः दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पृथक्ता को प्रदर्शित करता है।

(viii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं–

(चित्र-29)

पृथक्त्व
|
(पृथक् व्यवहारकारणं पृथक्त्वम्)
|
वृत्तिः
|
सर्वद्रव्येषु (पटात् घटः पृथक्)

अवतरणिका–पृथक्त्व नामक गुण को परिभाषित करने के बाद ग्रन्थकार आठवें गुण 'संयोग' के विषय में कहते हैं–

संयोगलक्षणम्–

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

पदच्छेद–स्पष्टमेव।

दीपिका–संयोगं लक्षयति–संयुक्तेति। 'इमौ संयुक्तावि'ति व्यवहारहेतुरित्यर्थः। सङ्ख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणायाऽसाधारणेति देयम्। संयोगो

द्विविधः-कर्मजः, संयोगजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः। द्वितीयो हस्तपुस्तकसंयोगात् कायपुस्तकसंयोगः। अव्याप्यवृत्तिः संयोगः। स्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम्।

अनुवाद—संयुक्त व्यवहार का कारण (ही) संयोग (नामक गुण) है। यह (भी) सभी द्रव्यों में विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका—ग्रन्थकार ने संयुक्त अर्थात् दो पदार्थों के जुड़े होने के व्यवहार के कारण को 'संयोग' नामक गुण की संज्ञा प्रदान की है अर्थात् ऐसे दो पदार्थ जो कभी अलग-अलग थे, उनका एक साथ मिलना ही 'संयोग' नामक गुण की श्रेणी में आता है। इसकी स्थिति भी सभी द्रव्यों में मानी गयी है। इसलिए संख्या, परिमाण और पृथक्त्व के समान ही यह भी 'सामान्य गुण' ही है।

विशेष—(i) दैनिक व्यवहार में संयोग शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। वहाँ इसका अभिप्राय दो वस्तुओं के परस्पर स्पर्श से ग्रहण करते हैं। वैशेषिक दर्शन इसे गुण की श्रेणी में रखता है।

(ii) न्याय और वैशेषिकदर्शनों की कारण विषयक चर्चा में 'संयोग' की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि वहाँ संयोग के अभाव में किसी भी कार्य की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

(iii) दीपिकाकार ने संयोग को परिभाषित करते हुए "ये दोनों संयुक्त हैं, इस व्यवहार के कारण को ही संयोग कहा है" (इमौ संयुक्तौ, इति व्यवहारहेतुः, इत्यर्थः)।

(iv) जबकि आचार्य प्रशस्तपाद पूर्व में अलग हुए दो द्रव्यों के आपस में मिलने को ही संयोग कहते हैं (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः)।

(v) आचार्य विश्वनाथ भी प्रशस्तपाद के संयोग विषयक लक्षण से ही अपनी सहमति व्यक्त करते प्रतीत होते हैं (अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः) (भाषा-परिच्छेद-115)।

(vi) महर्षि कणाद और प्रशस्तपाद आदि आचार्यों ने संयोग के तीन भेदों-अन्यतर कर्मज, उभय कर्मज तथा संयोगज का उल्लेख किया है।

(vii) जबकि दीपिकाकार इनमें से केवल कर्मज और संयोगज इन दो भेदों के साथ ही अपनी सहमति व्यक्त की है (संयोगो द्विविधः-कर्मजः संयोगजश्च)।

(viii) यद्यपि विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार-"हाथ की क्रिया द्वारा पुस्तक अथवा किसी वस्तु से होने वाला संयोग

कर्मज है, जबकि पुस्तक का शरीर से संयोग ही संयोगज है।" उनके मत में–"क्योंकि हाथ से संयोग होने का अभिप्राय ही समस्त शरीर से संयोग है, हाथ शरीर से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।" अत: वैशेषिकों का संयोगज भेद ही अपने आप में भ्रान्तिमूलक है।[1]

(ix) दो सर्वव्यापक पदार्थों के परस्पर पृथक् न होने के कारण कभी संयोग नहीं होता है। इसलिए संयोग हमेशा कृत्रिम एवं अनित्य ही होता है।

(x) सभी संयोग अव्याप्य वृत्ति माने गए हैं, क्योंकि ये पदार्थ के अंशमात्र को ही व्याप्त करते हैं, तथा विभाग अथवा आश्रय के विनष्ट होने पर नष्ट भी हो जाते हैं।

(xi) डॉ० दयानन्द भार्गव के अनुसार–"तर्कसंग्रह की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग की परिभाषा देते समय व्यवहार के बाद 'असाधारण' पद को उद्धृत किया है और कुछ में इसका उल्लेख नहीं किया गया है। वस्तुत: काल और दिक् की परिभाषा के समान सभी स्थलों पर असाधारण शब्द का प्रयोग कर लेना चाहिए।"

(xii) डॉ० भार्गव ने अपने मत की पुष्टि में सिद्धान्त चन्द्रोदय के कथन को उद्धृत किया है।[2]

(xiii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-30)

संयोग
|
(संयुक्त-व्यवहार-हेतु: संयोग:)
|
सर्वद्रव्यवृत्ति:

अवतरणिका–'संयोग' नामक गुण को परिभाषित करने के अनन्तर ग्रन्थकार 'विभाग' नामक गुण के सम्बन्ध में कहते हैं कि–

विभागलक्षणम्–

संयोग-नाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

पदच्छेद–संयोग-नाशक: गुण: विभाग:। सर्वद्रव्य-वृत्ति:।

दीपिका–विभागं लक्षयति–संयोगेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति।

---

1. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार–डॉ० पंकज कुमार मिश्र, पृ० 73
2. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार–डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 73

रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक इति। विभागोऽपि द्विविधः-कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकविभागः। द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात् कायपुस्तक-विभागः।

अनुवाद–संयोग का नाश करने वाला गुण (ही) विभाग है। (यह) सभी द्रव्यों में स्थित रहता है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार की सम्मति में संयोग नामक गुण का विनाश करने वाला गुण ही विभाग होता है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन संयोग के अभाव को ही 'विभाग' संज्ञा प्रदान नहीं करता है, अपितु उसके मत में यह एक वास्तविक सत्ता है, जो संयोग को समाप्त कर देती है। इस गुण की स्थिति सभी द्रव्यों में स्वीकार की गयी है।

यद्यपि ग्रन्थकार ने इसके भेदों का यहाँ उल्लेख नहीं किया है तथापि दीपिकाकार ने संयोग के समान ही इसके भी कर्मज और विभागज, दो भेदों का कथन किया है। तदनुसार–"हाथ की क्रिया द्वारा पुस्तक से संयुक्त हाथ का हटना कर्मज विभाग के अन्तर्गत आता है। जबकि हाथ एवं पुस्तक के अलग होने से शरीर और पुस्तक का अलग होना ही 'विभागज' नामक विभाग का भेद है।"

इसके अतिरिक्त वैशेषिकदर्शन में इसके तीन भेदों का कथन किया गया है–(क) अन्यतर कर्मजन्य, (ख) उभय कर्मजन्य, (ग) विभाग-जन्य। वहाँ उन्होंने पर्वत और पक्षी के विभाग को प्रथम प्रकार के विभाग के, दो मल्लों के परस्पर विभाग को दूसरे प्रकार के विभाग के तथा घट के समवायिकारण कपाल द्वय के विभाग को तीसरे प्रकार के विभाग के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।[1] जिनका ग्रन्थकार ने यहाँ उल्लेख नहीं किया है।

विशेष–(i) विभाग वस्तुतः संयोग का अभाव नहीं कहा जा सकता है, अपितु यहाँ इसकी पृथक् एवं वास्तविक सत्ता को मान्यता प्रदान की गयी है।

(ii) इस दृष्टि से विभाग को स्वयं संयोग नाश की अपेक्षा संयोग-नाश का कारण मानना अधिक उचित है।

(iii) दीपिकाकार ने इसके भी संयोग के समान ही कर्मज और विभागज दो भेद किए हैं, जबकि नैयायिक विभागज विभाग को अपनी मान्यता प्रदान नहीं करते हैं।

1. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृ० 128

(iv) विभागज विभाग का उदाहरण–"वृक्ष से हाथ के अलग होने पर शरीर का वृक्ष से विभाग के रूप में भी दिया जा सकता है। यहाँ शरीर का विभाग हस्तक्रिया से सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि शरीर का विभाग शरीरस्थ है और हस्तक्रिया हस्तस्थ तथा शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं होती जो उसे विभक्त कर दे। एक भाग की क्रिया समस्त अवयवी की क्रिया नहीं हो सकती।"[1]

(v) डॉ० दयानन्द भार्गव ने यहाँ विभागज विभाग के पुनः दो भेदों का उल्लेख किया है–(क) कारणमात्र विभागज, (ख) कारणाकारण विभागज।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी उद्धृत कर सकते हैं–

(चित्र-31)

विभाग

(संयोग नाशको गुणः विभागः)

स च

सर्वद्रव्य वृत्तिः

- कर्मज
  - अन्यतर कर्मज (पक्षी का पर्वत से संयोग)
  - उभय कर्मज (दो पक्षियों या दो बादलों का संयोग (डॉ. दयानन्द भार्गव) के अनुसार
- विभागज
  - कारणमात्र विभागज
  - कारणाकारण विभागज

अवतरणिका–विभाग नामक गुण की व्याख्या के अनन्तर ग्रन्थकार अन्नंभट्ट परत्व एवं अपरत्व नामक गुणों के विषय में कहते हैं कि–

परत्वाऽपरत्वयोः सलक्षणा भेदाः–

पराऽपरव्यवहाराऽसाधारणकारणे परत्वाऽपरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोवृत्तिनी। ते द्विविधे-दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतम-परत्वम्।

पदच्छेद–पर-अपर-अव्यवहार-असाधारणकारणे परत्व-अपरत्वे। पृथिवी आदि चतुष्टय मनस् वृत्तिनी। ते द्विविधे-दिक्-कृते काल-कृते च। दूरस्थे दिक्-कृतम्

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 75

परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतम्-अपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतम् परत्वम्, कनिष्ठे कालकृतम्-अपरत्वम्।

दीपिका—परत्वाऽपरत्वयोर्लक्षणमाह-परापरेति। परव्यवहारासाधारणकारणं परत्वम्। अपरव्यवहाराऽसाधारणकारणमपरत्वमित्यर्थः। परत्वाऽपरत्वे विभजते-ते द्विविधे इति। दिक्कृतयोरुदाहरणमाह-दूरस्थ इति। कालकृते उदाहरति-ज्येष्ठ इति।

अनुवाद—दूर और निकट व्यवहार के असाधारण कारण को परत्व एवं अपरत्व कहा जाता है। ये पृथिवी आदि चार तथा मन में विद्यमान रहते हैं। वे दिक्कृत और कालकृत रूप से दो प्रकार के होते हैं। दूर स्थित में दिक्कृत परत्व तथा पास में स्थित में दिक्कृत अपरत्व होता है। (उसी प्रकार) बड़े में कालकृत परत्व और छोटे में कालकृत अपरत्व विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका—प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने परत्व एवं अपरत्व नामक दो गुणों की एक साथ व्याख्या प्रस्तुत की है। यहाँ प्रयुक्त 'पर' शब्द 'दूरी' का तथा 'अपर' निकटता का वाचक है। दैनिक व्यवहार में इनका प्रयोग हम 'यह दूर है' तथा 'यह निकट है' इस रूप में करते हैं। वैशेषिकदर्शन में इसीप्रकार के असाधारण कारण को क्रमशः परत्व एवं अपरत्व की संज्ञा प्रदान करते हुए इन्हें गुणों की श्रेणी में रखा है। यही अभिप्राय यहाँ ग्रन्थकार ने परत्व एवं अपरत्व का लक्षण करते हुए प्रकट किया है।

लक्षण में प्रयुक्त असाधारण कारण का यही अभिप्राय है कि आकाश काल आदि प्रत्येक स्थिति में इनके साधारण कारण होते हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों गुणों की स्थिति मूर्त एवं अनित्य होने के कारण पृथिवी, जल, तेज और वायु आदि प्रथम चार द्रव्य पदार्थों में विद्यमान रहती है। इसके साथ ही 'मन' में भी ग्रन्थकार ने परत्व एवं अपरत्व दोनों गुणों की स्थिति को मान्य करते हुए उसका पृथक् से उल्लेख किया है, किन्तु मन में ये केवल दिक्कृत ही होते हैं कालकृत नहीं होते।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने इन दोनों ही गुणों के दिक्कृत और कालकृत रूप से दो-दो भेद किए हैं। जो पदार्थ दूर स्थित होते हैं उनमें दिक्कृत परत्व नामक गुण स्थित रहता है, जबकि पास में स्थित पदार्थों में दिक्कृत अपरत्व नामक गुण की स्थिति बनती है। इसीप्रकार जो पदार्थ काल, आयु आदि की दृष्टि से ज्येष्ठ अर्थात् बड़े होते हैं, उनमें कालकृत परत्व तथा इसी दृष्टि से उनके कनिष्ठ अर्थात् छोटे होने पर 'कालकृत अपरत्व' नामक गुण विद्यमान रहता है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में प्रयुक्त 'पर' से अभिप्राय 'दूर' और अपर' का अर्थ 'निकट' ग्रहण करना चाहिए।

(ii) परत्व एवं अपरत्व ये दोनों गुण वस्तुतः मूर्त द्रव्यों के काल और दिशा विषयक सम्बन्धमात्र के प्रदर्शक हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने इनके कालकृत एवं दिक्कृत दो भेदों का उल्लेख किया है।

(iii) वैशेषिकदर्शन मन को भी मूर्त द्रव्य की श्रेणी में रखता है। इसी कारण उसमें भी ग्रन्थकार ने परत्व एवं अपरत्व इन दोनों गुणों की स्थिति को स्वीकार किया है।

(iv) इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि मन में इन दोनों गुणों की स्थिति केवल दिक्कृत होती है, कालकृत नहीं, क्योंकि काल की गणना नित्य द्रव्यों में की गई है।

(v) यही कारण है कि आकाश, काल, दिक् और आत्मा आदि शेष चारों द्रव्य अमूर्त और नित्य हैं। अतः उनमें इन दोनों की ही स्थिति नहीं रहती है।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी उद्धृत कर सकते हैं–

(चित्र-32)

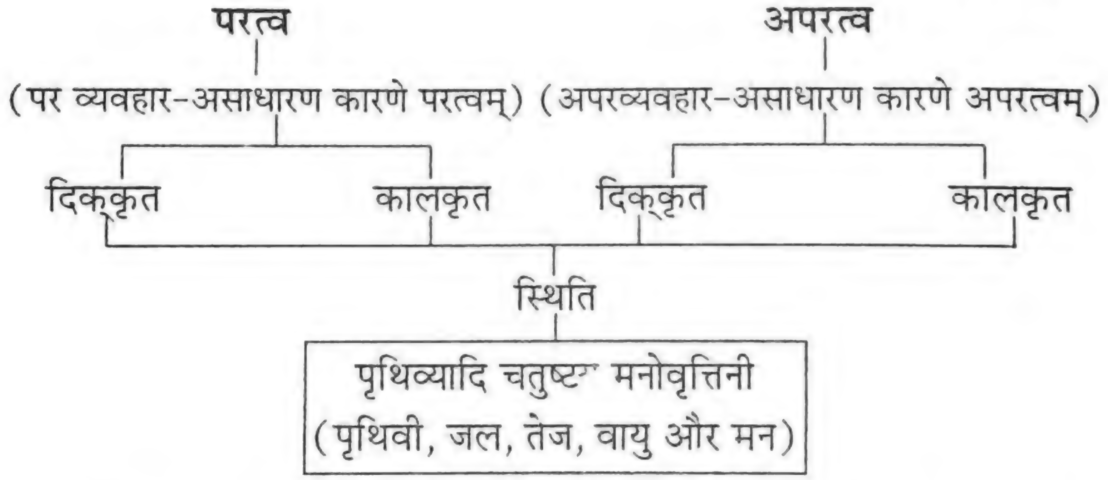

अवतरणिका–परत्व एवं अपरत्व इन दोनों गुणों की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'गुरुत्व' नामक गुण के सम्बन्ध में कहते हैं कि–

गुरुत्वस्य लक्षणम्–

आद्यपतनाऽसमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीऽजलवृत्तिः।

पदच्छेद–आद्य-पतन-असमवायिकारणम् गुरुत्वम्। पृथिवी-जल-वृत्तिः।

दीपिका–गुरुत्वं लक्षयति–आद्येति। द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणत्वा-द्वेगेऽतिव्याप्तिवारणायाद्येति।

अनुवाद–प्रथम गिरने का असमवायिकारण (हो) गुरुत्व है। यह पृथिवी और जल में विद्यमान रहता है।

चन्द्रिका–गुरुत्व शब्द से अभिप्राय सामान्य रूप से भारी होने से होता है। इसी कारण प्रत्येक वस्तु ऊपर से नीचे की ओर गिरती है। सम्भवत: इसी कारण महर्षि कणाद ने पतन के कारण को गुरुत्व की संज्ञा प्रदान की है। तर्कसंग्रहकार ने भी उसी परिभाषा का अनुकरण करते हुए प्रथम पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व बताया है। यहाँ प्रयुक्त 'प्रथम पतन' और असमवायिकारण दोनों ही व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

दीपिकाकार की मान्यता है कि लक्षण में आद्य अर्थात् पतन शब्द का प्रयोग वेग में उसकी अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए किया गया है, क्योंकि किसी भी वस्तु का ऊपर प्रारम्भिक पतन में ही गुरुत्व का कारण होना पाया जाता है, जबकि द्वितीयादि पतन में वेग भी कारण बन जाता है। अत: आद्यपतन और द्वितीय आदि पतन से अभिप्राय यहाँ प्रथम क्षण में पतन तथा द्वितीय क्षण के पतन रूप सूक्ष्म अन्तर से ग्रहण करना चाहिए।

इसीप्रकार असमवायिकारण, पतन रूप कार्य में गिरने वाली वस्तु के साथ समवेत रूप से विद्यमान है अर्थात् गुरुत्व ही वस्तु के प्रथम पतन में उसके साथ समवेत रूप से जुड़ा हुआ है। अत: इसे यहाँ असमवायिकारण कहा गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे–तन्तु संयोग पट के असमवायि कारण हैं। जिसप्रकार तन्तुओं के संयोग के अभाव में पट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसी प्रकार गुरुत्व के अभाव में किसी भी वस्तु का आद्य पतन सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ ग्रन्थकार ने गुरुत्व को प्रथम पतन का असमवायिकारण बताया है तथा इसकी स्थिति पृथिवी और जल दो ही द्रव्य पदार्थों में बतायी है।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार संयोग, वेग और प्रयत्न ये तीन गुण गुरुत्व के पतन-रूप कार्य में विरोधी होते हैं, क्योंकि अपनी डण्ठल से फल का गिरना, उसके डण्ठल के साथ 'संयोग' के कारण नहीं होता है। इसी प्रकार धनुष द्वारा फेंके गए बाण का कुछ देर बाद पृथिवी पर पतन उसमें 'वेग' के कारण नहीं होता है तथा

आकाश में उड़ते हुए पक्षी का पृथ्वी पर पतन उसके द्वारा किए जा रहे 'प्रयत्न' के कारण नहीं होता है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने अत्यन्त संक्षिप्त शैली में गुरुत्व नामक गुण को परिभाषित किया है।

(ii) गुरुत्व की विशेषता होती है कि यह अपने आश्रय नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है।

(iii) वैज्ञानिक जिस 'गिरना' क्रिया में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को कारण मानते हैं, सम्भवतः उसकी प्रेरणा उन्हें यहाँ प्रयुक्त गुरुत्व शब्द से ही प्राप्त हुई होगी, क्योंकि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन के गुरुत्व सिद्धान्त का ही परिष्कृत रूप प्रतीत होता है।

(iv) गुरुत्व की प्रस्तुत परिभाषा पूर्णतया वैज्ञानिक प्रतीत होती है, क्योंकि विज्ञान भी पदार्थ के द्रव्यमान को गुरुत्वाकर्षण के लिए आवश्यक मानता है। यही कारण है कि द्रव्यमान अथवा गुरुत्व के अभाव में दीपक की लौ का पतन नहीं होता है। दूसरे शब्दों मे उस पर गुरुत्व बल भी प्रभावी नहीं होता है।

(v) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

(चित्र-33)

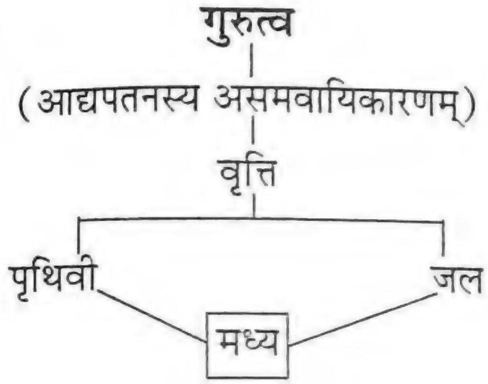

अवतरणिका–गुरुत्व का कथन करने के पश्चात् द्रवत्व को परिभाषित करते हैं–

द्रवत्वस्य सभेदं लक्षणम्–

आद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्तिः। तद्द्विविधम्–सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले नैमित्तिकं पृथिवी-तेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

पदच्छेद–आद्य-स्यन्दन-असमवायिकारणम् द्रवत्वम्। पृथिवी-अप्-तेजस: वृत्ति:। तत् द्विविधिम्-सांसिद्धिकम् नैमित्तिकम् च। सांसिद्धिकम् जले, नैमित्तिकम् पृथिवी तेजसो:। पृथिव्याम् घृतादौ अग्निसंयोगजन्यम् द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

दीपिका–द्रवत्वं लक्षयति–आद्यस्यन्दनेति। स्यन्दनं प्रस्रवणम्। तेज:संयोगजन्यं नैमित्तिकद्रवत्वम्। तद्भिन्नं सांसिद्धिकद्रवत्वम्। पृथिव्यां नैमित्तिकद्रवत्वमुदाहरति–घृतादाविति। तेजसि तदाह–सुवर्णादाविति।

अनुवाद–प्रथम बहना का असमवायिकारण (ही) द्रवत्व है। (यह) पृथिवी, जल और तेज में रहता है। वह सांसिद्धिक और नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का होता है। घी आदि में अग्नि के संयोग से ही द्रवत्व उत्पन्न होता है तथा स्वर्ण आदि तेज में (भी यह अग्नि के संयोग से ही होता है)।

चन्द्रिका–वस्तुत: गुरुत्व एवं द्रवत्व के लक्षण परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, क्योंकि जहाँ पहला पतन का असमवायिकारण है तो दूसरा प्रथम स्यन्दन का असमवायिकारण माना गया है। इन दोनों ही परिभाषाओं में ग्रन्थकार ने पतन और स्यन्दन रूप क्रियाओं में द्वितीय और परवर्ती क्षणों में होने वाली क्रियाओं में असमवायिकारण के रूप में विद्यमान वेगादि में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'आद्य' शब्द का आरम्भ में ही प्रयोग किया है।

यों भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो पतन और स्यन्दन ये दोनों ही क्रियाएँ एक समान प्रतीत होती हैं, क्योंकि ठोस पदार्थों की 'पतन' क्रिया होती है, जबकि तरल अथवा द्रव पदार्थों का स्यन्दन होता है। यही कारण है कि इन दोनों की परिभाषाओं में भी हमें साम्य परिलक्षित होता है। ग्रन्थकार ने स्यन्दन की स्थिति पृथिवी, जल और तेज तीनों ही द्रव्य पदार्थों में स्वीकार करते हुए इन्हें सांसिद्धिक और नैमिन्निक दो भेदों में विभाजित किया है।

यहाँ प्रयुक्त सांसिद्धिक का अभिप्राय अपने स्वाभाविक द्रवत्व से है, जो हमें जल में दिखायी देता है। जबकि ग्रन्थकार ने पृथिवी और तेज इन दोनों में ही नैमित्तिक द्रवत्व की ओर संकेत किया है। नैमित्तिक अर्थात् किसी कारण से होने वाला द्रवत्व, इसे हम कृत्रिम भी कह सकते हैं। पृथिवी से सम्बन्धित घी आदि में तथा सुवर्णादि तैजस् द्रव्यों में अग्नि के सम्पर्क में आने पर द्रवत्व देखा जाता है, क्योंकि घी अथवा सुवर्ण को गर्म करने पर ये दोनों ही पिघल जाते हैं।

विरोधी होता है। यह स्नेह नामक गुण जल-परमाणु में नित्य और स्थूल-जल में अनित्य रूप से विद्यमान रहता है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने 'स्नेह' नामक गुण को चूर्णरूप में स्थित पदार्थ कणों को पिण्डरूप में बनाने का हेतु माना है।

(ii) महर्षि कणाद ने 'स्नेह' नामक इस गुण का उल्लेख नहीं किया है।

(iii) आचार्य प्रशस्तपाद एवं उनके बाद के सभी वैशेषिक आचार्यों ने इस गुण को मान्यता प्रदान की है।

(iv) वैशेषिकदर्शन घी, तैल आदि चिक्कण पदार्थों में भी जलीय स्नेह की स्थिति को ही स्वीकार करते हैं। घी, तेल का स्नेह उत्कृष्ट श्रेणी का तथा जलीय स्नेह अपकृष्ट श्रेणी का माना है।

(v) उत्कृष्ट श्रेणी का जलीय स्नेह घी, तेल आदि अग्नि-विरोधी नहीं होता है, जबकि अपकृष्ट श्रेणी में जलीय स्नेह 'जल' अग्नि विरोधी होता है।

(vi) वैशेषिकदर्शन इसकी स्थिति जलीय परमाणु में नित्य और अन्यत्र अनित्य स्वीकार करता है।

(vii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-35)

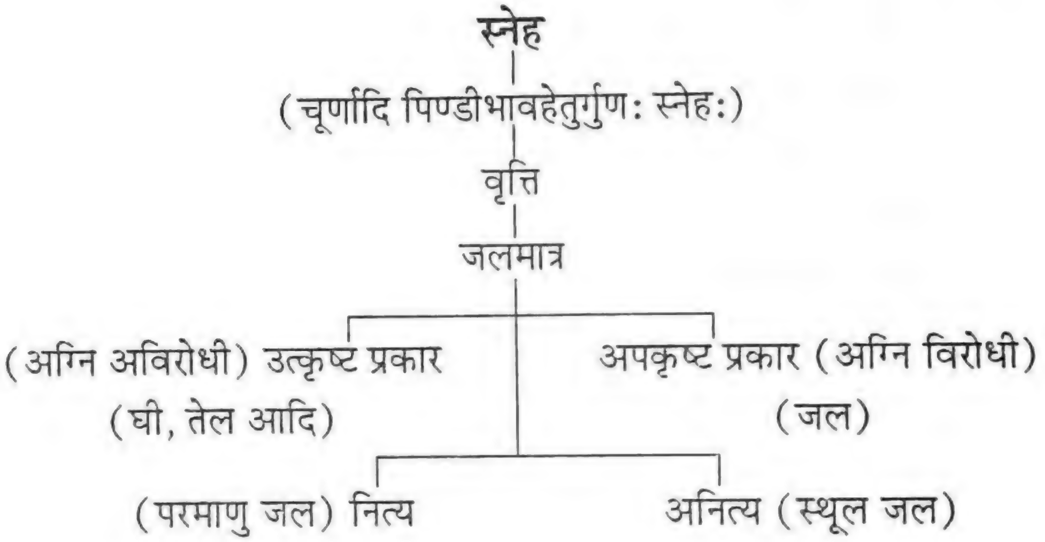

अवतरणिका–स्नेह नामक गुण का कथन करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार 'शब्द' नामक गुण का उल्लेख करते हैं–

शब्दस्य लक्षणं भेदौ च–

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः–ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

पदच्छेद–श्रोत्र-ग्राह्यः गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः ध्वन्यात्मकः वर्णात्मकः च। ध्वन्यात्मकः भेरी-आदौ। वर्णात्मकः संस्कृत-भाषा-आदिरूपः।

दीपिका–शब्दं लक्षयति-श्रोत्रेति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति। शब्दस्त्रिविधः–संयोगजो, विभागजः शब्दजश्चेति। तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंशे उत्पाट्यमाने दलद्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः। भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादिशब्दाः शब्दजाः।

अनुवाद–श्रोत्र नामक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण (ही) शब्द है। जो केवल आकाश में विद्यमान रहता है। ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक भेद से यह दो प्रकार का होता है। भेरी आदि में ध्वन्यात्मक शब्द की स्थिति है, जबकि संस्कृत भाषा आदि में इसका वर्णात्मक भेद रहता है।

चन्द्रिका–'शब्द' नामक गुण श्रोत्र अर्थात् कर्ण (कान) नामक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला पन्द्रहवाँ गुण है। इसकी स्थिति केवल आकाश में रहती है। तर्कसंग्रहकार ने 'शब्द' का उल्लेख इस ग्रन्थ में तीन स्थलों पर किया है–

प्रथम, द्रव्य-विवेचन प्रसङ्ग में उसका कथन करते हुए इसे आकाश का गुण बताया है (शब्द गुणकमाकाशम्)। द्वितीय, प्रस्तुत स्थल पर 'गुण विवेचन' क्रम में इसका उल्लेख करते हुए श्रोत्र नामक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य बताया है। तृतीय, प्रमाण-मीमांसा प्रकरण में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का कथन करके इसे पारिभाषित करते हुए आप्त वाक्य को ही शब्द प्रमाण की श्रेणी में रखा है (आप्तवाक्यं शब्दः)।

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वैशेषिकदर्शन में 'शब्द' का अत्यधिक महत्त्व है। जहाँ एक ओर यह प्रमाण है, वहीं दूसरी ओर सर्वव्यापक आकाश का 'गुण' भी है, जो श्रोत्र नामक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने की स्थिति में 'गुण' रूप में परिगणित हो जाता है। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि एकमात्र वैशेषिकदर्शन ही 'शब्द' को गुण रूप में भी स्वीकार करता है, जबकि न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त

और मीमांसा आदि सभी भारतीय दर्शन इसे केवल एक पृथक् प्रमाणरूप में ही स्वीकार करते हैं।

आकाशमात्रवृत्ति बताने के बाद ग्रन्थकार सर्वप्रथम इस शब्द नामक गुण के ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक रूप से दो भेदों को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। ध्वन्यात्मक से यहाँ अभिप्राय मात्र ध्वनि से ही ग्रहण किया जाना चाहिए, इसमें कथ्य की अस्पष्टता विद्यमान रहती है। जैसे-भेरी आदि द्वारा उत्पन्न किया शब्द अथवा ध्वनि। जबकि मनुष्य के मुख से निकले हुए संस्कृत आदि भाषाओं के शब्द, जिनमें कथ्य स्पष्ट होता है, वर्णात्मक शब्द नामक गुण की श्रेणी में आते हैं।

विशेष–(i) तत्त्वदीपिका में ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों के अतिरिक्त शब्द के संयोगज, विभागज और शब्दज, इन तीन भेदों का भी उल्लेख किया है। उनके मत में–भेरी आदि किसी भी वाद्य यन्त्र के पीटे जाने से उत्पन्न होने वाला शब्द, भेरी और हाथ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज की श्रेणी में आता है। जबकि बाँस इत्यादि को तोड़ने से उत्पन्न होने वाला शब्द विभागज होता है तथा प्रथम उत्पन्न हुए शब्द से उत्पन्न होने वाला शब्द 'शब्दज' की कोटि में परिगणित है।

(ii) किसी भी शब्द को दूर से सुनने के कारण शब्द को भी वैशेषिक 'शब्दज' की संज्ञा प्रदान की गई है।

(iii) प्रस्तुत अंश में प्रयुक्त 'आकाशमात्रवृत्ति:' का अभिप्राय यही है कि यह आकाश का विशेष गुण है, इसलिए केवल आकाश में ही रहता है।

(iv) कुछ विद्वान् शब्दज को प्रतिध्वनि मानने के भी पक्षधर रहे हैं।

(v) श्रोत्र नामक इन्द्रिय का सम्बन्ध वस्तुत: सर्वव्यापक आकाश से है। इसीलिए विद्वानों ने आकाश की परिभाषा में 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न: आकाश:' कहा है। जिसप्रकार चक्षु पदार्थ तक जाकर उससे सम्बन्ध स्थापित करती है, उसीप्रकार श्रोत्रेन्द्रिय बाहर जाकर पदार्थ रूप शब्द से सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है, अपितु शब्द को ही इन्द्रिय के पास आना पड़ता है।

(vi) नैयायिकों एवं वैशेषिकों की मान्यता है कि प्रथम उत्पन्न शब्द द्वितीय उत्पन्न शब्द को जन्म देता है तथा द्वितीय शब्द तृतीय को इसप्रकार वे कान तक पहुँच जाते हैं।

(vii) वैज्ञानिक प्रक्रिया यह है कि शब्द वायवी अवयवों में उत्पन्न तरंगों के माध्यम से श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है, जिसे वह ग्रहण करती हैं। वायवी अवयवों में

कदम्ब गोलक न्याय से तरंगों का उत्पादन एवं सम्प्रेषण चारों ओर होता है, क्योंकि जिसप्रकार कदम्ब के पुष्प की पंखुड़ियाँ चारों ओर होती हैं। ठीक उसीप्रकार शब्द भी चारों दिशाओं में यात्रा करता है। इतना अवश्य है कि हमारा मुख जिस ओर होता है, उस ओर तरंगों में गति अन्य दिशाओं की अपेक्षा अधिक होती है।

(viii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

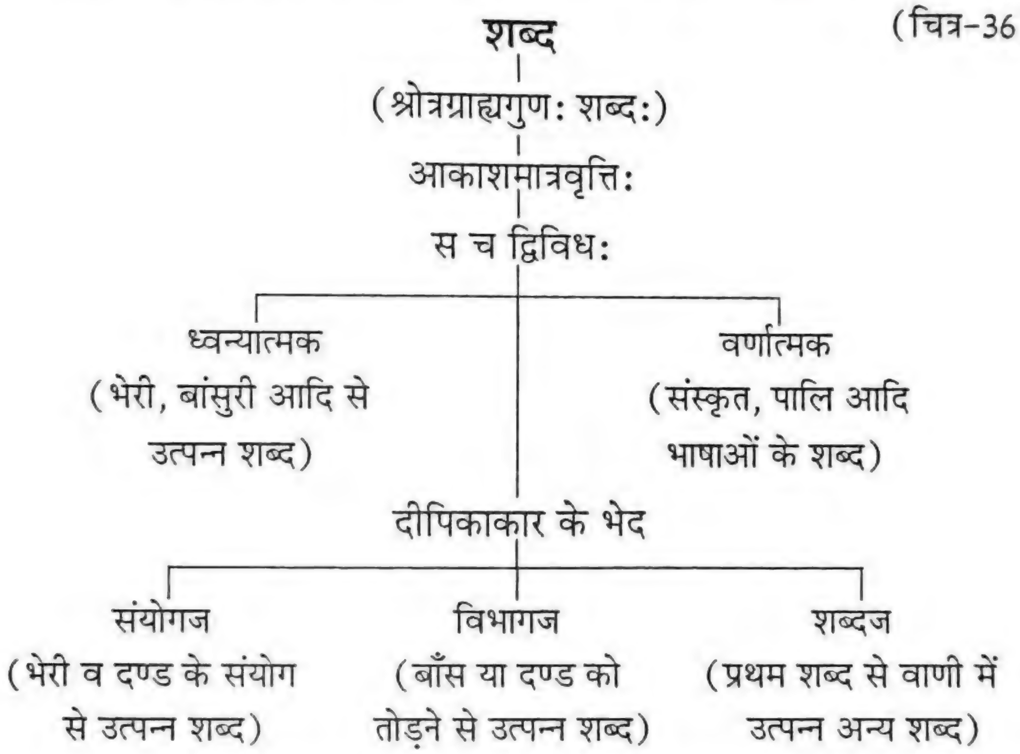

(चित्र-36)

अवतरणिका–शब्द नामक पन्द्रहवें गुण की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार बुद्धि नामक सोलहवें गुण का लक्षण करते हैं–

बुद्धेर्लक्षणं, तद्भेदौ स्मृति लक्षणं, अनुभव लक्षणं च–

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा-स्मृतिरनुभवः च। संस्कार-मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः–यथार्थोऽयथार्थश्च।

पदच्छेद–सर्व-व्यवहार-हेतुः गुणः बुद्धिः ज्ञानम्। सा द्विविधा-स्मृतिः अनुभवः च। संस्कारमात्रजन्यम् ज्ञानम् स्मृतिः। तत् भिन्नम् ज्ञानम् अनुभवः। सः द्विविधः-यथार्थः अयथार्थः च।

दीपिका–बुद्धेर्लक्षणमाह–सर्वेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय सर्वव्यवहार इति। जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः। बुद्धिं विभजते–सेति। स्मृतेर्लक्षणमाह–संस्कारेति। भावनाख्यः

संस्कार:। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति। घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति। अनुभवं लक्षयति-तद्भिन्नमिति। स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थ:। अनुभवं विभजते–स द्विविध इति।

अनुवाद–सभी प्रकार के व्यवहार का कारण बुद्धि नामक गुण है, जिसे ज्ञान भी कहते हैं। स्मृति और अनुभव रूप में वह दो प्रकार की होती है। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है, जबकि उसे भिन्न ज्ञान अनुभव होता है। वह यथार्थ और अयथार्थ रूप में दो प्रकार का होता है।

चन्द्रिका–दैनिक जीवन में सम्पूर्ण व्यवहार के कारण रूप गुण को ग्रन्थकार ने बुद्धिरूप गुण के लक्षण रूप में प्रस्तुत किया है। व्यवहार शब्द में व्यक्ति की वे सभी क्रियाएँ प्रतिक्षण बैठना, उठना, चलना, खाना, बोलना, सोना आदि समाहित हैं, जिन्हें वह अपनी रोज़मर्रा की जिन्दगी में करता है। इसी बुद्धि को दूसरे शब्दों में ज्ञान भी कहा जाता है। यह स्मृति और अनुभव दो प्रकार की होती है। तत्पश्चात् इन दोनों स्मृति एवं अनुभवरूप बुद्धि को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि संस्कार-मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही 'स्मृति' होता है, जबकि इसके अतिरिक्त ज्ञान 'अनुभव' की कोटि में आता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन के व्यवहार में व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उनके कारणरूप में ग्रन्थकार ने 'बुद्धि' नामक गुण को ही मुख्यता प्रदान करते हुए 'बुद्धि' का लक्षण प्रस्तुत किया है। साथ ही इसके दूसरे नाम ज्ञान का भी उल्लेख किया है, क्योंकि न्यायसूत्रकार ने भी बुद्धि और ज्ञान दोनों को समानार्थक माना है। तत्पश्चात् बुद्धिरूप इस ज्ञान के दो भेद करते हुए इसे स्मृति और अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया है।

उसके बाद स्मृतिरूप ज्ञान की परिभाषा के रूप में संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' तथा उसके अतिरिक्त अर्थात् भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' संज्ञा प्रदान की है। 'स्मृति' का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने 'मात्र' शब्द का प्रयोग 'प्रत्यभिज्ञा'[1] में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए किया है। स्मृति से भिन्न सभी ज्ञान 'अनुभव' कहलाते हैं। जो वस्तुत: भूतकालिक होते हैं, किन्तु समय और परिस्थिति के अनुसार वे प्रकट होकर नूतन रूप धारण करते रहते हैं। यह अनुभव भी यथार्थ अनुभव और

1. **प्रत्यभिज्ञा**–पूर्व में देखी हुई वस्तु को पुन: देखने पर 'यह वही है' अथवा 'वही यह है' जो ऐसा ज्ञान होता है, उसी को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा में अनुभव और संस्कार दोनों की ही स्थिति विद्यमान रहती है।

अयथार्थ अनुभव रूप में दो प्रकार का होता है, जिसका विवेचन हम अग्रिम अंश में करेंगे।

विशेष–(i) आचार्य उदयन एवं केशवमिश्र ने अर्थ का प्रकाश करने को 'बुद्धि' संज्ञा प्रदान की है।

(ii) आचार्य प्रशस्तपाद आदि अनेक आचार्यों ने बुद्धि के विद्या और अविद्या दो भेदों का कथन किया है। पुन: विद्या के प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्षज्ञान के रूप में चार भेद तथा अविद्या के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न रूप में चार भेद्रों का कथन करके इसे कुल आठ प्रकार का प्रतिपादित किया है।

(iii) तर्कसंग्रहकार ने यथार्थ अनुभव में प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द रूप चार भेदों का परिगणन किया है, जबकि यथार्थ अनुभव को संशय, विपर्यय और तर्क तीन भागों में विभाजित किया है।

(iv) इसप्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आचार्य प्रशस्तपाद के विद्या और अविद्या नामक बुद्धि के दो भेद ही क्रमश: आचार्य अन्नंभट्ट के यथार्थ और अयथार्थ अनुभव ठहरते हैं, किन्तु इन भेदोपभेदों में हमें आगे समानता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

(v) न्यायसूत्रकार ने बुद्धि के पर्यायरूप में उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय का उल्लेख किया है (बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्याया:। न्यायसूत्र 1/1/14)

(vi) न्यायवैशेषिकदर्शनों में बुद्धि और ज्ञान को समानार्थक ही माना गया है। यहाँ उन्होंने इसे आत्मा का गुण स्वीकार किया है।

(vii) जबकि सांख्य और वेदान्तदर्शन बुद्धि की गणना महत् तत्त्व के अन्तर्गत करते हुए इसे पदार्थ स्वीकार करते हैं। उनके मत में बुद्धि ज्ञान का साधन अर्थात् करण होता है।

(viii) प्रस्तुत स्थल पर बुद्धि की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होती है।

(ix) दीपिकाकार 'मैं जानता हूँ' इसप्रकार के ज्ञान का विषय (अनुव्यवसाय) बनने वाले ज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं।

(x) नैयायिकों ने ज्ञान के तीन भेद किए हैं–इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, ज्ञान तथा अनुव्यवसाय। घट-दर्शन पर चक्षु और इन्द्रिय का सन्निकर्ष, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हुआ। यह सन्निकर्ष 'अयम् घट:' इस बुद्धि में परिणत हो जाता है और यह बुद्धि

'घटज्ञानवान् आत्मा' का ज्ञान कराती है जो 'ज्ञान' की कोटि में आता है। तत्पश्चात् वह अहम् के साथ मिलकर 'घटमहं जानामि' इस रूप में परिणत हो जाती है, यह अन्तिम स्थिति ही वस्तुत: अनुव्यवसाय है।

(xi) ग्रन्थकार ने संस्कार मात्रजन्य ज्ञान को 'स्मृति' संज्ञा प्रदान की है, जिसे हम उदाहरण द्वारा इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं। जैसे-हम किसी कुम्हार को घड़ा बनाते हुए देखते हैं तो देखने के बाद हमारी आत्मा में अथवा मन में उसका सूक्ष्म भाव स्थित हो जाता है, इसी सूक्ष्म भाव को संस्कार की संज्ञा दी जाती है। फिर जब हम घड़ा बनाते हुए अन्य व्यक्ति को अन्यत्र कहीं भी देखते हैं तो हमारी आत्मा अथवा मन में पूर्व में स्थित संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है और हमें पूर्व में देखे गए कुम्हार का स्मरण आ जाता है। इसलिए वह संस्कार ही इस व्यक्ति का कुम्हार के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान कराता है।

(xii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-37)

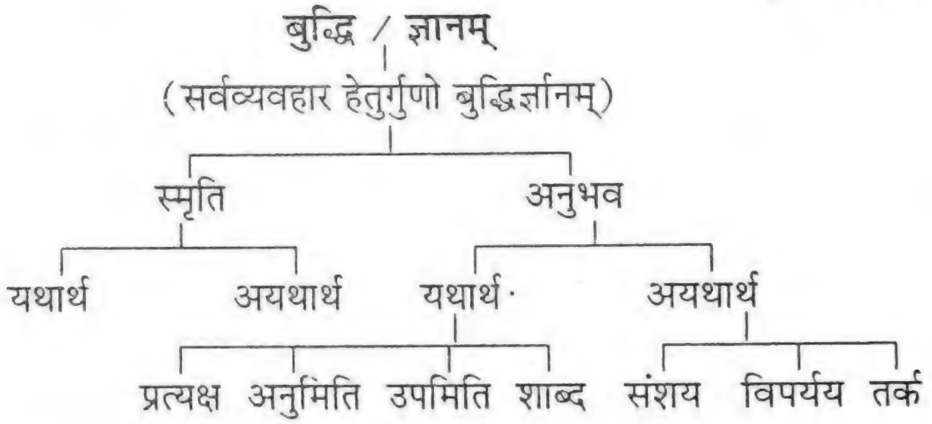

अवतरणिका–पूर्व अंश में बुद्धि के सर्वप्रथम स्मृति और अनुभव दो भेद करने के पश्चात् उन दोनों के यथार्थ और अयथार्थ भेदों का ग्रन्थकार द्वारा उल्लेख किया गया। तदनन्तर यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि–

यथार्थाऽनुभवस्य अयथार्थाऽनुभवस्य लक्षणमुदाहरणं च–

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा-रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैव 'प्रमा' इत्युच्यते।

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैवाऽप्रमेत्युच्यते।

पदच्छेद–तद्वति तत् प्रकारकः अनुभवः यथार्थः। यथा-रजते इदम् रजतम् इति ज्ञानम्। सा एव 'प्रमा' इति उच्यते। तत् अभाववति तत् प्रकारकः अनुभवः अयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदम् रजतम्' इति ज्ञानम्। सा एव अप्रमा इति उच्यते।

दीपिका–यथार्थानुभवस्य लक्षणमाह–तद्वतीति। ननु 'घटे घटत्वमि'ति प्रमायामतिव्याप्तिः, घटत्वे घटाभावादिति चेन्न, 'यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभवः' इत्यर्थाद् घटत्वेऽपि घटसम्बन्धोऽस्तीति नाव्याप्तिः। स एवेति यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः।

अयथार्थानुभवं लक्षयति–तदभाववतीति। नन्विदं संयोगीति प्रमायामतिव्याप्तिरिति चेन्न, यदवच्छेदेन यत्सम्बन्धाभावस्तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य प्रमात्वान्नातिव्याप्तिः।

अनुवाद–जो वस्तु जिस रूप में है, उसका वैसा ही अनुभव यथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे–चाँदी में 'यह रजत है' ऐसे ज्ञान का होना और वही 'प्रामाणिक ज्ञान' इस रूप में भी कहा जाता है। (इसीप्रकार) जो वस्तु जिस रूप में न हो उसे वैसा समझना अयथार्थ अनुभव होता है। जैसे–सीपी में 'यह रजत है' ऐसे ज्ञान का होना। वही 'अप्रामाणिक ज्ञान' इस रूप में भी कहलाता है।

चन्द्रिका–जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया कि ग्रन्थकार ने स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव बताया और इसके यथार्थ एवं अयथार्थ दो भेदों का उल्लेख किया। पुनः प्रस्तुत स्थल पर यथार्थ अनुभव को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि हमारे दैनिक जीवन में जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसकी वैसी प्रतीति होना ही यथार्थ अनुभव की कोटि में आता है, क्योंकि सामान्यरूप से यथार्थ पद का भी यही अभिप्राय है।

पुनः यथार्थ अनुभव के उदाहरण रूप में ग्रन्थकार 'चाँदी' को प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् चाँदी को देखकर जब व्यक्ति 'यह चाँदी है' ऐसा वास्तविक अनुभव करता है तो यह यथार्थ अनुभव कहलाएगा। साथ ही यह प्रमा अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान भी माना जाएगा। जबकि जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उसप्रकार का समझना अयथार्थ अनुभव की श्रेणी में आता है। जैसे-जब हम 'सीपी' को देखकर उसे 'यह चाँदी है' ऐसा अयथार्थ अनुभव अर्थात् अवास्तविक प्रतीति करते हैं तो यह ज्ञान अयथार्थ ज्ञान कहा जाएगा और साथ ही यह अप्रमा अर्थात् अप्रमाणिक ज्ञान भी माना जाएगा।

विशेष–(i) इस दृष्टि से यथार्थ अनुभव को प्रमा एवं अयथार्थ को अप्रमा मानना उचित है।

(ii) प्रमा के विषय में लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने चिन्तन किया है।

(iii) इसके पश्चात् ग्रन्थकार यथार्थ अनुभव के भी चार भेदों–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द का उल्लेख करते हैं, जिसका विवेचन हम अग्रिम 'प्रमाण मीमांसा प्रकरण' में करेंगे।

(iv) उपर्युक्त आधार पर शास्त्रीय दृष्टि से यथार्थ अनुभव का लक्षण हम "तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभव: प्रमा" इस रूप में भी कर सकते हैं। उस स्थिति में इसका अभिप्राय होगा– तात्त्विक अथवा वास्तविक स्थिति के अनुरूप ज्ञान का प्रकार रूप अनुभव ही प्रमा है।

(v) सांख्य एवं वेदान्त दर्शन में प्रमा की परिभाषा इसप्रकार प्रस्तुत की है– "अनधिगताबाधितार्थ विषयत्वम्" अर्थात् कभी बाधित न होने वाले अनधिगत पदार्थ का ज्ञान ही प्रमा है।

(vi) अनुभव के समान ही तर्कसंग्रहकार ने स्मृति के भी यथार्थ और अयथार्थ दो भेदों का कथन किया है। जबकि कुछ नैयायिक स्मृति को केवल एक प्रकार की ही मानने के पक्षधर रहे हैं।

(vii) अयथार्थ अनुभवों का विवेचन अग्रिम प्रकरणों में प्रस्तुत किया जाएगा।

(viii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं–

(चित्र-38)

अनुभव

- यथार्थ (रजते इदं रजतम्) — प्रमा
- अयथार्थ (शुक्तौ-इदं रजतम्) — अप्रमा

(4) प्रमाण मीमांसा प्रकरण[1]

अवतरणिका–ग्रन्थकार ने पूर्व में अनुभव के यथार्थ एवं अयथार्थ भेदों का उदाहरण सहित उल्लेख किया। पुनः प्रसङ्ग प्राप्त होने पर यथार्थ अनुभव के प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द ये चार भेद गिनाए। साथ ही इसी क्रम में इनके चार प्रकार के करण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का कथन करते हैं।

यथार्थाऽनुभवभेदाः, यथार्थाऽनुभवकरणानामपि चातुर्विध्यम्-

यथार्थाऽनुभवश्चतुर्विधः-प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।

तत्करणमपि चतुर्विधम्-प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दभेदात्।

पदच्छेद–यथार्थ-अनुभवः चतुर्विधः-प्रत्यक्ष-अनुमिति-उपमिति-शाब्दभेदात्। तत् करणम् अपि चतुर्विधम्-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दभेदात्।

दीपिका–यथार्थानुभवं विभजते-यथार्थेति।

प्रसङ्गात् प्रमाकरणं विभजते-तत्करणमिति। प्रमाकरणमित्यर्थः। प्रमायाः करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।

अनुवाद–यथार्थ अनुभव चार प्रकार का होता है–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। इसीप्रकार इनके करण (असाधारण कारण) भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्दरूप से चार प्रकार के होते हैं।

चन्द्रिका–वस्तुतः प्रस्तुत अंश से वैशेषिकदर्शन की प्रमाण-मीमांसा का प्रारम्भ होता है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को ही स्वतन्त्ररूप से मान्यता प्रदान करता है, फिर भी तर्कसंग्रहकार ने प्रस्तुत अंश में न्यायदर्शन की प्रमाण विषयक परम्परा को स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों का उल्लेख किया है तथा इन्हें यथार्थ अनुभव के चार प्रकारों–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द का असाधारणकारण अर्थात् करण बताया है। यहाँ करण अथवा असाधारण कारण से अभिप्राय ज्ञान के साधन से ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि करण, कारण और कार्य को ग्रन्थकार आगे परिभाषित करेंगे।

---

1. यद्यपि ग्रन्थकार ने मूलग्रन्थ में इस अंश का ऐसा नामकरण नहीं किया है तथापि अध्ययन के सौविध्य की दृष्टि से हमने ही इसे यह नाम दिया है।

विशेष–(i) दीपिकाकार ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए प्रमा के करण अर्थात् असाधारण कारण को प्रमाण कहा है (प्रमायाः करणं प्रमाणम्)।

(ii) वस्तुतः प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द इन चारों यथार्थ ज्ञान के साधन क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, प्रमाण की श्रेणी में आते हैं।

(iii) विद्वानों ने 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' कहकर भी प्रमाण शब्द को परिभाषित किया है, जबकि आचार्य वात्स्यायन ने उपलब्धि अर्थात् ज्ञान के साधन को प्रमाण माना है (उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि)।

(iv) भारतीय दर्शनों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रमाणों के विषय में चिन्तन किया है। इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि सभी दर्शन इन प्रमाणों की संख्या के विषय में वैमत्य धारण करते हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) चार्वाक–प्रत्यक्ष प्रमाण। (एक)

(ख) जैन–प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण। (दो)

(ग) बौद्ध एवं वैशेषिक–प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण। (दो)

(घ) सांख्य एवं योग–प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण। (तीन)

(ङ) न्याय–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण। (चार)

(च) प्रभाकर मीमांसक–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्तिप्रमाण। (पाँच)

(छ) भाट्टमीमांसक (वेदान्त)–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण। (छः)

(v) इसके अतिरिक्त शून्यवादी बौद्ध सभी प्रमाणों को स्वीकार नहीं करते हैं।

(vi) आचार्य प्रशस्तपाद ने उपमान एवं शब्द प्रमाण इन दोनों के स्थान पर क्रमशः स्मृति तथा आर्षज्ञान को सहमति प्रदान की है।

(vii) प्रशस्तपाद का मानना है कि–क्योंकि प्रत्यक्ष सभी प्रकार के ज्ञान का कारण है। अतः उसका सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है तथा सीधे प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा वस्तुतः ज्ञात अर्थों की ही 'स्मृति' होती है। इसलिए उसे तृतीय स्थान प्रदान किया गया है। लोकोत्तर पुरुषों को प्राप्त होने के कारण आर्षज्ञान का सभी लौकिक प्रमाणों के बाद निरूपण किया गया है। (प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० 153)

(viii) इसके अलावा ज्ञान की प्रामणिकता के लिए न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन अन्य साधन पर निर्भर रहने के कारण परतः प्रामाण्यवादी तथा ज्ञान की प्रामाणिकता हेतु किसी अन्य साधन पर निर्भर न रहने के कारण सांख्य, मीमांसा एवं बौद्ध ये तीनों ही दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं।

(ix) प्रमाणमीमांसा के सम्बन्ध में तर्कसंग्रहकार ने वस्तुतः आचार्य गौतम का अनुसरण करते हुए चार प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है। (न्यायसूत्र 1/1/3)

(x) पाश्चात्य विद्वानों ने इन्ट्यूशन तथा बिलीफ नामक दो अन्य ज्ञान के प्रकार भी माने हैं। किसी इन्द्रिय अथवा मानसिक क्रिया के अभाव में होने वाला ज्ञान ही इंट्यूशन है, जबकि तुरन्त न देखे जाने योग्य पदार्थ के सम्बन्ध में स्थित हमारी मान्यता ही बिलीफ है। जो वस्तुतः शब्दप्रमाण की कोटि में ही समाहित प्रतीत होता है।

(xi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-39)

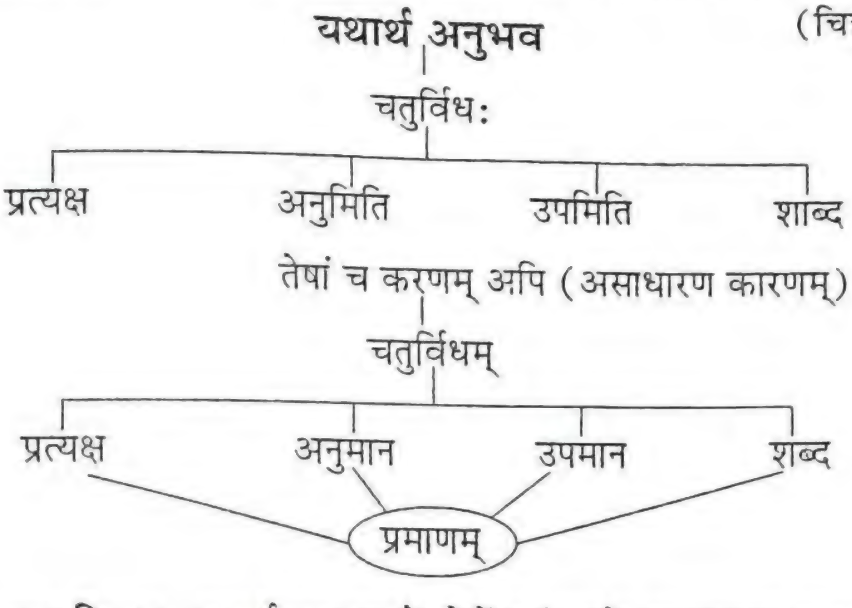

अवतरणिका–यथार्थ अनुभव के भेदों एवं उनके असाधारण कारण अर्थात् करण के चार भेदों का उल्लेख करके ग्रन्थकार प्रसङ्गवश क्रमशः करण, कारण और कार्य इन तीनों को परिभाषित करते हैं–

करणलक्षणम्, कारणलक्षणम्, कार्यलक्षणम्-

असाधारणं कारणं करणम्। कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम्। कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

पदच्छेद–असाधारणम् कारणम् करणम्। कार्य-नियत-पूर्ववृत्तिः कारणम्। कार्यम्, प्राक्-अभाव प्रतियोगि।

दीपिका—करणलक्षणमाह—असाधारणमिति। साधारणकारणे दिक्कालादावति-व्याप्तिवारणायाऽसाधारणेति। कारणलक्षणमाह-कार्येति। पूर्ववृत्तिकारणमित्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यात्, अतो नियतेति। तावन्मात्रे कृते कार्येऽतिव्याप्तिः, अतः पूर्ववृत्तीति। ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेन्न, अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिविरहः।

अन्यथासिद्धिश्च त्रिविधा-येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते। तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम्। यथा तन्तुना तन्तुरूपं तन्तुत्वं च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्त्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य। अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्। यथा पाकजलस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य। एवं चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्।

कार्यलक्षणमाह-कार्यमिति।

अनुवाद-असाधारण कारण को करण कहते हैं। कार्य से पूर्व नियतरूप से रहने वाला ही कारण होता है। प्राक्-अभाव का प्रतियोगी ही कार्य कहलाता है।

चन्द्रिका—दीपिकाकार ने प्रमाण का सामान्य लक्षण करते हुए 'प्रमा का करण' ही प्रमाण होता है, ऐसा कहा था। इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने करण, कारण और कार्य इन तीन पदों की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'करण' को स्पष्ट किया है। तदनुसार–

(i) करण—"किसी भी कार्य की उत्पत्ति के क्रम में असाधारण कारण की ही करण संज्ञा होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर, आकाश, काल, दिशा आदि ऐसे अनेक कारण होते हैं, जो प्रत्येक कार्य के कारण की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि इन नित्य पदार्थों का किसी भी समय अथवा परिस्थिति में अभाव ही नहीं होता है। इसीलिए इन सभी को उन-उन कार्यों का साधारण कारण भी कहा जाता है।"

इसके ठीक विपरीत कुछ ऐसे कारण जो कार्य-विशेष के प्रति ही कारण होते हैं, असाधारण कारण कहलाते हैं। जैसे-किसी वस्त्र-निर्माण के समय तन्तु, वेमा, जुलाहा आदि तथा घट-निर्माण में मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर, कुम्हारादि ये सभी क्रमशः पट व घट निर्माण में असाधारण कारण माने जाएँगे। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने इन असाधारण कारण को ही 'करण' संज्ञा प्रदान की है। साधारण करण को नहीं।

प्रस्तुत अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है, कारण वस्तुतः दो प्रकार के होते हैं–(क) साधारण कारण और (ख) असाधारण कारण।

(क) **साधारण कारण**–वे हैं जो प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के समय हमेशा उपस्थित रहते हैं, नित्य होने से जिनका किसी भी अवस्था अथवा परिस्थिति में अभाव नहीं होता है। जैसे-आकाश, ईश्वर, काल एवं दिशा आदि नित्य होने के कारण प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के समय विद्यमान रहते हैं। अतः इन्हें उन सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण कहा जाएगा। ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि ये साधारण कारण 'करण' संज्ञा की परिधि में नहीं आते हैं।

(ख) **असाधारण कारण**–उन्हें कहा जाता है, जिनमें से एक के भी उपस्थित न रहने पर कार्य की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं होती है। इसे तर्कसंग्रह की नीलकण्ठी टीका के प्रणेता आचार्य द्वारा इसप्रकार कहा गया है–

यद्विलम्बात् प्रकृतकार्यानुत्पादः तत्कारणत्वम्।

अर्थात् जिसके अभाव में प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं होती है, वही वस्तुतः कारण की कोटि में आता है। जैसे-घट निर्माण में मिट्टी, दण्ड-चक्र चीवर और कुम्हार आदि में से किसी एक की अनुपस्थिति में घट की निर्मिति सम्भव न होने से ये सभी घट के असाधारण कारण की श्रेणी में गिने जाएँगे।

इसीप्रकार पट-निर्माण की प्रक्रिया में जुलाहा, तन्तु, वेमा आदि असाधारण कारण कहलाएँगे, क्योंकि 'करण' रूप इन असाधारण कारणों के उपस्थित होने पर ही पट रूप कार्य की उत्पत्ति सम्भव होती है। दूसरे शब्दों में करण अर्थात् असाधारण कारण की उपस्थिति होने पर कार्य की उत्पत्ति सुनिश्चित ही रहती है। इसीलिए विद्वानों ने करण की परिभाषा के साथ 'फलयोगव्यवच्छिन्नत्व' को जोड़ने का भी प्रयास किया (फलयोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्) अर्थात् जिसके होने पर फल रूप कार्य का होना सुनिश्चित हो, वही कारण 'करण' संज्ञा वाला होता है।

(ii) **कारण**–करण को परिभाषित करते हुए 'कारण' पद का प्रयोग होने के कारण ग्रन्थकार ने इसे भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए कहा कि–"जिसका कार्य से पूर्व रहना नियत अर्थात् निश्चित होता है। वस्तुतः वही कारण होता है। प्रस्तुत लक्षण में 'नियत' और 'पूर्ववृत्ति' दोनों ही पद व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।"

यहाँ प्रयुक्त 'नियत' पद का अभिप्राय है–"निश्चय ही नियमपूर्वक स्थित रहने वाला" तथापूर्ववृत्ति से अर्थ है–"कार्य से ठीक पूर्व स्थित क्षण में विद्यमान"।

कहने का तात्पर्य यही है कि कार्य के साथ दूरवर्ती रूप से सम्बन्धित कारण नहीं होना है। अत: उसका कार्य की उत्पत्ति के ठीक पूर्वक्षण में उपस्थित रहना अनिवार्य है, वही कारण की कोटि में आता है, क्योंकि ऐसा न कहने पर घट-निर्माण में कुम्भकार के पिता की तथा अकस्मात् आए रासभ आदि की एवं पट-निर्माण में जुलाहे के पिता की कारणता सिद्ध होगी। अत: इनमें अतिव्याप्ति रूप दोष से बचने के लिए ही कारण का लक्षण करते हुए 'नियतपूर्ववृत्तिः' पद का प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने सम्भवत: विश्वनाथ से प्रभावित होकर अपनी दीपिका टीका में कारण की परिभाषा में "अनन्यथा सिद्धत्वे सति" का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यही है कि–"कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए।" जैसे–कुम्हार का पिता घट के निर्माण से पहले नियतरूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि पिता के अभाव में कुम्हार की स्थिति (उत्पत्ति) सम्भव ही नहीं है तथा कुम्हार के बिना घट की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है, किन्तु यहाँ घट के साथ कुम्हार के पिता का दूरवर्ती सम्बन्ध होने से उसे 'घट' का कारण नहीं माना जा सकता है।

यहाँ प्रयुक्त 'अन्+अन्यथासिद्ध' का अभिप्राय यही है कि "जो नियतपूर्ववर्ती तो हो, किन्तु उसकी पूर्ववर्तिता दूसरे पदार्थ की कारणता अर्थात् अन्य कार्य के जनक के रूप में चरितार्थ न हुई हो।" अर्थात् किसी भी कारण में कार्य के उत्पादन की जो शक्ति होती है, यदि वह शक्ति किसी एक कार्य के लिए प्रयुक्त हो जाती है, तो वह कारण अन्य कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध हो जाता है। अत: जो अन्यथासिद्ध नहीं होता वही अन्-अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे–तन्तुरूप पट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। अत: उसे पट का कारण नहीं माना जा सकता है। इसीप्रकार दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति, दण्डरूप, घट में स्थित घटत्व जाति भी अन्यथासिद्ध की श्रेणी में ही आते हैं। अत: उन्हें घट के प्रति कारण नहीं कहा जा सकता है।

(iii) कार्य–कारण के लक्षण में 'कार्य' पद का प्रयोग होने के कारण ग्रन्थकार ने इसी क्रम में 'कार्य' का लक्षण देते हुए 'इसे' प्राक्-अभाव का प्रतियोगी बताया है। दूसरे शब्दों में 'प्राक्-अभाव का अभाव ही कार्य है', क्योंकि प्राक्-अभाव वस्तुत: किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व का अभाव है और इस अभाव का प्रतियोगी अर्थात् विपरीत स्थिति को प्राप्त होना ही 'कार्य' है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि सामान्यरूप से प्रयासपूर्वक किए जाने वाले कर्म ही 'कार्य' माने जाते हैं, किन्तु दार्शनिक भाषा में

किसी भी प्रकार की उत्पत्ति 'कार्य' की श्रेणी में आती है। केवल न्यायवैशेषिक दर्शन में ही 'कार्य' की परिभाषा पर इतना अधिक गम्भीरता से विचार किया गया है। तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र ने कार्य का लक्षण इसप्रकार दिया है- "अनन्यथासिद्ध-नियत-पश्चाद्-भावित्वम् कार्यत्वम्"।

अर्थात् जो नियत रूप से कारण के बाद होने वाला अर्थात् पश्चाद्भावी है तथा उसकी यह पश्चाद्भाविता अन्यथासिद्ध भी नहीं है, वही कार्य है। अत: यहाँ कार्य के लिए अन्यथासिद्ध न होने की शर्त भी अनिवार्य रूप से रखी गई है। इसी अभिप्राय को तर्कसंग्रहकार ने अत्यन्त सरल शब्दों में निबद्ध करने का प्रयास किया है।

विशेष–(i) न्यायबोधिनीकार ने व्यापार से युक्त असाधारण कारण को करण संज्ञा प्रदान की है (व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्)।

(ii) तर्कभाषाकार ने आचार्य पाणिनि का अनुकरण करते हुए कार्य के प्रकृष्ट अर्थात् विशिष्ट कारण को 'करण' कहा है (साधकतमम् करणम्)।

(iii) सभी कार्यों के प्रति नित्यरूप में रहने वाले आकाश, काल, दिशा और परमात्मा साधारण कारण की श्रेणी में आते हैं, जबकि कार्य-विशेष के प्रति होने वाले कारण असाधारण कारण कहलाते हैं। जैसे–पट के प्रति तन्तु, तन्तुवाय (जुलाहा) तुरी, वेमादि।

(iv) प्राय: सभी आचार्यों ने 'कारण' का लक्षण करते हुए 'अन्यथासिद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। दीपिकाकार ने इसके तीन तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने इसके पाँच भेदों का कथन किया है।

(v) उपर्युक्त कारण-विवेचन के आधार पर 'कारण' में निम्न बातों का होना अनिवार्य कहा जा सकता है–

(अ) कार्य से पूर्व अनिवार्यता।

(ब) कार्य के अत्यन्त निकट पूर्ववर्ती क्षण में विद्यमानता।

(स) कार्य के आधार प्रदेश में स्थिति।

(द) कार्य से सीधा सम्बन्ध स्थापित होना।

(य) कार्य के अधिकरण वृत्ति के अभाव का प्रतियोगी होना।

(vi) यद्यपि सामान्यरूप से विपरीत सम्बन्ध को प्रतियोगी कहा जाता है, किन्तु यहाँ यह पारिभाषिक पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(vii) किसी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व क्षणों का अभाव ही प्राक्-अभाव (प्रागभाव) है।

(viii) प्रस्तुत अंश में प्रयुक्त कारण एवं कार्य के लक्षण नैयायिकों के कार्य कारण सिद्धान्त पर आधारित रहे हैं।

(ix) न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन असत्-कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हुए उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानते हैं।

(x) इसके विपरीत सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करता है–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।
(सांख्यकारिका-9)

(xi) सत्कार्यवादी वस्तुः कार्य की उत्पत्ति से पहले उसकी स्थिति कारण में स्वीकार करते हैं, जबकि असत्-कार्यवादी कार्य का अस्तित्व उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में नहीं मानते हैं। ये दोनों ही अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(xii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–
(चित्र-40)

करण — असाधारण कारणं करणम्
- साधारण (आकाश, दिशा, कालादि)
- असाधारण (तुरी-वेमा, तन्तु आदि)

कारणम् — कार्य नियत-पूर्ववृत्ति कारणम्

कार्यम् — कार्य प्रागभाव प्रतियोगि

अवतरणिका–करण, कारण और कार्य इन तीनों की क्रमशः परिभाषा प्रस्तुत करने के बाद तर्कसंग्रहकार कारण के त्रिविध प्रकारों–समवायी, असमवायी और निमित्त की सोदाहरण व्याख्या करते हैं–

कारणभेदाः, समवायिकारणस्य लक्षणमुदाहरणं, असमवायिकारणस्य लक्षणमुदाहरणं, निमित्तकारणस्य लक्षणमुदाहरणं, करणस्य निष्कृष्टलक्षणम् च-

कारणं त्रिविधम्-समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य पटश्च

स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा–तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा–तुरीवेमादिकं पटस्य। तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारण कारणं तदेव करणम्।

पदच्छेद–कारणम् त्रिविधिम्-

(i) समवायि-असमवायि-निमित्त भेदात्। यत् समवेतम् कार्यम् उत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा–तन्तवः पटस्य, पटः च स्वगतरूप-आदेः।

(ii) कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन् अर्थे समवेतत्वे सति यत् कारणम्। तत् असमवायिकारणम्। यथा–तन्तुसंयोगः पटस्य तन्तुरूपम् पटरूपस्य।

(iii) तत् उभय-भिन्नम् कारणम् निमित्तकारणम्। यथा-तुरी-वेमा-आदिकम् पटस्य।

तत् एतत् त्रिविध-कारण मध्ये यत् असाधारणम् कारणम् तत् एव करणम्।

दीपिका–कारणं विभजते–कारणमिति। समवायिकारणस्य लक्षणमाह–यत्समवेतमिति। यस्मिन् समवेतमित्यर्थः। असमवायिकारणं लक्षयति–कार्येणेति। कार्येणेत्येतदुदाहरति–तन्तुसंयोग इति। कार्येण पटेन सहैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुसंयोगः पटस्याऽसमवायिकारणमित्यर्थः। कारणेन सहेत्येतदुदाहरति–तन्तुरूपमिति। कारणेन पटेन सहैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। निमित्तकारणं लक्षयति–तदुभयेति। समवाय्यसमवायिभिन्नकारणं निमित्तकारणमित्यर्थः। करणलक्षणमुपसंहरति–तदेतदिति।

अनुवाद–समवायी, असमवायी और निमित्त के भेद से कारण तीन प्रकार के होते हैं–

(i) जिसमें समवेतरूप से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह समवायिकारण है। जैसे–पट के सम्बन्ध में तन्तु तथा अपने रूप के लिए पट (समवायी कारण) है।

(ii) कार्य अथवा कारण के साथ एक ही पदार्थ में समवेतरूप से स्थित कारण ही असमवायि कारण है। जैसे-पट के सम्बन्ध में तन्तुओं का संयोग तथा पटरूप के लिए तन्तुरूप।

(iii) उ दोनो (समवायी और असमवायी) से भिन्न कारण निमित्त कारण हैं। जैसे-पट के सम्बन्ध में तुरी-वेमा आदि।

उक्त तीनों कारणों के मध्य जो असाधारण कारण होता है, वही करण है।

चन्द्रिका–त्रिविध कारणों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार प्रस्तुत अंश के अन्त में कहते हैं कि ऊपर बताए गए इन तीनों कारणों के बीच में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, उत्कृष्ट असाधारण कारण होता है वही वस्तुतः 'करण' कहलाता है। इसप्रकार प्रस्तुत अंश में भी भिन्न प्रकार से उनका प्रयास 'करण' को ही स्पष्ट करने का रहा है।

तर्कसंग्रहकार ने यहाँ समवायी, असमवायी और निमित्त नामक कारण के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। साथ ही उनकी परिभाषा देते हुए उनके दो-दो उदाहरणों का भी प्रयोग किया है। सर्वप्रथम ग्रन्थकार कहते हैं कि नियत रूप से कार्य के पहले रहने वाला कारण समवायी, असमवायी और निमित्त रूप में वस्तुतः तीन प्रकार का होता है।

उन तीन प्रकार के कारणों में सर्वप्रथम समवायिकारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-"जिस कारण में कार्य की उत्पत्ति समवाय सम्बन्ध से होती है, वह समवायिकारण हैं। यहाँ प्रयुक्त समवेत शब्द से अभिप्राय अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध से है, जिसके कारण उसे कार्य से अलग नहीं किया जा सकता है। जैसे-वस्त्र के लिए उसके धागे समवायिकारण की कोटि में आएँगे, क्योंकि वस्त्र की स्थिति तन्तुओं में ही सम्भव है। समवाय सम्बन्ध से स्थित तन्तुओं के नष्ट होने पर वस्त्र स्वतः ही नष्ट हो जाता है। इसीप्रकार पट अपने अन्दर स्थित रूप के लिए समवायिकारण कहा जाएगा।"

वस्तुस्थिति यह है कि समवायि कारण में कार्य समवेतरूप से विद्यमान रहता है तथा इसकी स्थिति हमेशा ही द्रव्यपदार्थ में रहती है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद में विश्वास करने वाले सांख्याचार्य पट और तन्तुओं को दो भिन्न भिन्न वस्तु न मानकर वस्त्र को तन्तुओं की ही अवस्था विशेष स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में तन्तुओं में ही पट की पूर्व स्थिति को स्वीकार करते हुए वे तन्तुओं को ही पट रूप का परिणाम मानते हैं। इसीलिए उन्हें सत्कार्यवादी अथवा परिणामवादी कहा गया है।

जबकि न्याय वैशेषिक दोनों ही दर्शन आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवाद को

स्वीकार करते हुए ऐसी एक नयी वस्तु की उत्पत्ति को मान्यता प्रदान करते हैं, जिसकी सत्ता उसकी उत्पत्ति से पहले नहीं थी। इसप्रकार उनके मत में नूतन कार्य का प्रारम्भ नूतन वस्तु की उत्पत्ति से होता है। पुनः ग्रन्थकार असमवायिकारण के विषय में कहते हैं।

इसके अतिरिक्त पट-कार्य और तन्तु समवायिकारण के बीच में ही असमवायि-कारण भी विद्यमान रहता है समवायिकारण के विद्यमान रहने पर भी जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। जो असमवायिकारण कार्य अथवा कारण के साथ एक प्रकार से समवाय रूप से सम्बद्ध होता है। जैसे-पट की उत्पत्ति में उसके समवायिकारण तन्तुओं का आपस में संयोग ही पट का असमवायिकारण होगा। पूर्व में ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत कारण के लक्षण के अनुसार-तन्तु और तन्तु संयोग दोनों ही 'नियतपूर्ववृत्ति' होने से पट के कारण की कोटि में ही आते हैं।

इस दृष्टि से पट के लिए तन्तु समवायिकारण है, जबकि जिसके अभाव में पट की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, पट-कार्य अथवा तन्तु-कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध वह तन्तु-संयोग ही वस्तुतः असमवायिकारण है, क्योंकि पट के समवायिकारण तन्तुओं के पृथक्रूप से विद्यमान रहते हुए भी 'तन्तु-संयोग' नामक असमवायिकारण के अभाव में पट की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। असमवायिकारण का दूसरा उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसप्रकार पट के लिए तन्तु संयोग असमवायिकारण होता है। ठीक उसीप्रकार तन्तुओं का रूप, पट के रूप का असमवायिकारण है।

समवायिकारण और असमवायिकारण को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करने के बाद ग्रन्थकार तृतीय निमित्त कारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो ऊपर बताए गए समवायी और असमवायी दोनों कारणों से भिन्न होता है, किन्तु कार्य के लिए अनिवार्यतः कारण होता है, वही निमित्त कारण कहलाता है। जैसे-पट की उत्पत्ति में तुरी-वेमा आदि। आदि पद के प्रयोग से तन्तुवाय (जुलाहे) का बोध होता है।

अर्थात् जब हम पट (वस्त्र) की निर्मिति करते हैं तो उसमें तन्तु समवायिकारण होंगे, क्योंकि उनमें समवेत रूप से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। उनके अभाव में वस्त्र की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। पुनः तन्तुओं का आपस में एक विधिपूर्वक 'संयोग' (तन्तु संयोग) पट का असमवायिकारण होगा, क्योंकि तन्तुओं के साथ उसकी स्थिति समवेत रूप से विद्यमान है। असमवायिकारण के अभाव में भी पट-कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तत्पश्चात् जो न समवायिकारण है और न ही असमवायिकारण

है, किन्तु पट के लिए कारण अवश्य है, ऐसे तन्तुवाय अर्थात् जुलाहे तथा वस्त्र को बनाने के यन्त्र तुरी-वेमा आदि उपकरण सभी निमित्तकारण की कोटि में माने जाएँगे। इनमें से एक की भी अनुपस्थिति में वस्त्र की निर्मिति सम्भव नहीं है।

तुरी-वेमा और तन्तुवाय इन तीनों पर ही ग्रन्थकार का 'नियत पूर्वभावी' और 'अनन्यथासिद्ध' लक्षण भी घटित होता है, क्योंकि इनकी स्थिति पट-उत्पत्ति के पूर्वक्षणों में नियत है तथा ये किसी अन्य कार्य के लिए उसी क्षण में हेतु भी नहीं है। निमित्तकारण का ग्रन्थकार ने पूर्व दोनों कारणों समवायी, असमवायी के समान अन्य उदाहरण नहीं दिया है। इसप्रकार समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीनों कारणों को स्पष्ट करने के पश्चात् ग्रन्थकार कहते हैं कि-

"जो इन तीनों कारणों में भी असाधारण कारण होगा, उसी की हमारे मत में 'करण' संज्ञा होगी।"

इस दृष्टि से 'करण' के सम्बन्ध में अपने मत की प्रस्थापना के लिए ही ग्रन्थकार ने प्रस्तुत अंश में समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीनों कारणों को सोदाहरण परिभाषित किया है। प्रसङ्ग प्राप्त होने पर यहाँ प्रयुक्त असाधारण कारण को भी स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है।

जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं निमित्तकारण वस्तुत: दो प्रकार का होता है-साधारण और असाधारण। साधारण निमित्त कारणों की प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षा होती है। संसार का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसकी उत्पत्ति में ये कारण उपस्थित न रहते हों, किन्तु कार्य सम्पादन नहीं करते हैं। इनकी संख्या नौ मानी गई है-बुद्धि, इच्छा, कृति, जीवात्मा का अदृष्ट, कार्य का प्रागभाव, धर्म, अधर्म, दिक् तथा प्रतिबन्धक का अभाव। नित्य होने के कारण प्रत्येक कार्य के आरम्भ में इनकी उपस्थिति होने से ये साधारण कारण कहे जाते हैं, जबकि कार्य की उत्पत्ति में इनकी कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती है।

इसके विपरीत असाधारण कारण कार्य के उत्पादन में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं। पट की उत्पत्ति में समवायिकारण-तन्तु, असमवायिकारण-तन्तु संयोग तथा निमित्तकारण-तन्तुवाय, तुरी, वेमादि अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं। साथ ही ये नियतपूर्ववर्ती तथा अनन्यथा सिद्ध भी हैं। इन्हीं तीनों असाधारण कारणों को ग्रन्थकार ने 'करण' संज्ञा प्रदान की है।

विशेष-(i) न्यायवैशेषिक दर्शनों ने कारण के तीन प्रकारों को मान्यता प्रदान की है,

जबकि सांख्य एवं वेदान्तादि ने इसके केवल दो प्रकारों उपादान कारण और निमित्त कारण को ही स्वीकृति प्रदान की है।

(ii) त्रिविध कारण की ग्रन्थकार ने अत्यन्त स्पष्टरूप से सोदाहरण व्याख्या की है, जिससे अन्य दर्शनों के कारण-द्वयवाद का स्वत: ही खण्डन हो गया है।

(iii) मुक्तावलीकार ने असमवायिकारण की परिभाषा कुछ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की है। तदनुसार-जो समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से एक साथ विद्यमान हो वह असमवायी कारण है। (तत्र समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीय समवायिकारणमित्यर्थ:)

(iv) न्यायवैशेषिक द्वारा मान्य असमवायिकारण वस्तुत: दूसरे दर्शनों की दृष्टि में निमित्तकारण में ही समाहित हो जाते हैं, उन्हें पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं है।

(v) न्याय और वैशषिक दोनों ही दर्शन धर्म एवं धर्मी में भिन्नता स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर यहाँ ग्रन्थकार ने पट एवं पटरूप में भिन्नता प्रदर्शित की है एवं इसी आधार पर प्रस्तुत समवायी और असमवायिकारणों का वर्गीकरण भी सम्भव हो सका है।

(vi) इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि समवायिकारण वस्तुत: द्रव्यरूप ही होता है तथा असमवायिकारण की स्थिति सदैव गुण-रूप में विद्यमान रहती है। पट में तन्तु-संयोग वस्तुत: गुणरूप ही है। अत: वह पट का असमवायिकारण है।

(vii) इसके ठीक विपरीत सांख्य, योग और वेदान्त ये तीनों ही दर्शन धर्म एवं धर्मी में अभेद की स्थिति को मान्यता प्रदान करते हैं। इसलिए यहाँ प्रतिपादित समवायी और असमवायी दोनों ही कारण उनके उपादान रूप एक ही कारण में समाहित हो जाते हैं।

(viii) इस दृष्टि से यहाँ कारण के प्रथम दो प्रकार बनते हैं-प्रथम, जिन्हें कार्य से अलग किया जा सके, वे ही वस्तुत: निमित्त कारण हैं, क्योंकि तुरी-वेमा-तन्तुवायादि सभी निमित्त कारणों को हम पट-कार्य से अलग कर सकते हैं।

(ix) दूसरे, वे जिन्हें कार्य से अलग नहीं किया जा सकता है। जिसमें समवायी और असमवायी दोनों ही कारण आते हैं, क्योंकि तन्तु (समवायिकरण) अथवा तन्तु-संयोग (असमवायिकारण) दोनों को ही पटकार्य से अलग करने पर पट नष्ट हो जाता है।

(x) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-41)

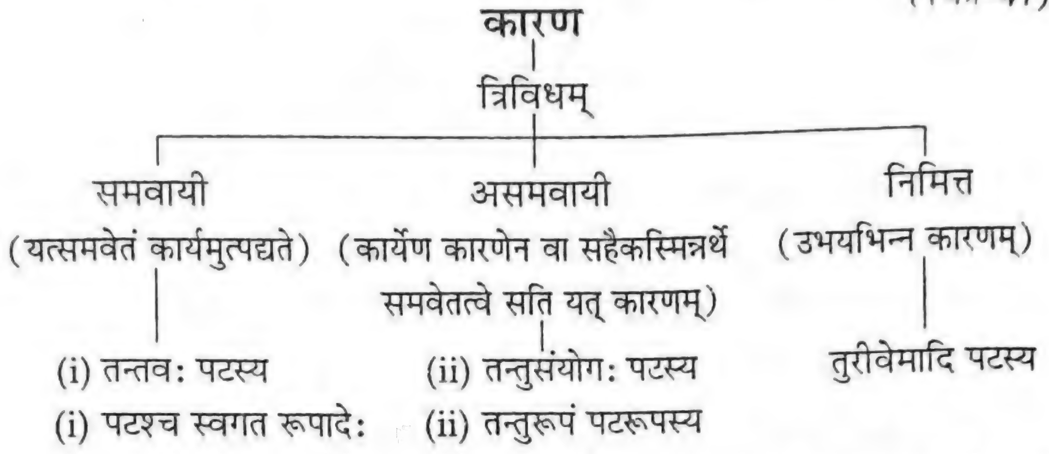

अवतरणिका–त्रिविध कारण के साथ-साथ 'करण' को स्पष्ट करने के बाद ग्रन्थकार प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा एवं भेदों का सोदाहरण उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्, प्रत्यक्षज्ञानलक्षणम्, निर्विकल्पकप्रत्यक्षलक्षणम् च-

तत्र प्रत्यक्ष-ज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद् द्विविधम्-निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा-किञ्चिदिदमिति। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा-डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति।

पदच्छेद–तत्र प्रत्यक्ष-ज्ञान-करणम् प्रत्यक्षम्। इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष-जन्यम्-ज्ञानम् प्रत्यक्षम्। तत् द्विविधम्-निर्विकल्पकम्, सविकल्पकम् च इति।

(i) तत्र निष्प्रकारकम् ज्ञानम् निर्विकल्पकम्। यथा-किञ्चित् इदम् इति।

(ii) सप्रकारकम् ज्ञानम् सविकल्पकम्, यथा-डित्थः अयम्, ब्राह्मणः अयम् श्यामः अयम् इति।

दीपिका–प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह-तत्रेति। प्रमाणचतुष्टयमध्य इत्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह-इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकम्, अर्थो घटादिः। तयोः सन्निकर्षः संयोगादिः। तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः। तद्विभजते-तद्द्विविधमिति। निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह-निष्प्रकारमिति। विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थः। ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणमिति चेन्न; गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकत्वसिद्धिः।

सविकल्पकं लक्षयति–सप्रकारकमिति। नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि ज्ञानमित्यर्थः। सविकल्पकमुदाहरति–यथेति।

अनुवाद–उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का 'करण' प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (ही) प्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक और सविकल्पक (भेद से) वह दो प्रकार का है।

(i) उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के ज्ञान से रहित (निष्प्रकारक) ज्ञान निर्विकल्पक है। जैसे–'यह कुछ है'।

(ii) (इसके अतिरिक्त) विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के ज्ञान के साथ (सप्रकारक) होने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है। जैसे–यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है (तथा) यह श्याम है।

चन्द्रिका–करण, कारण और कार्य की परिभाषा प्रस्तुत करने के बाद तर्कसंग्रहकार ने चार प्रकार के ज्ञान और उन्हें प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का उल्लेख किया था। इस प्रकरण में प्रमाण, कारण तथा उससे होने वाला ज्ञान कार्य की श्रेणी में आते हैं। अतः प्रमाण को समझने से पूर्व कार्य और कारणों की भेदपूर्वक विस्तार से व्याख्या करने के बाद सर्वप्रथम प्रत्यक्ष नामक प्रमाण को समझाते हैं–

यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की ग्रन्थकार ने दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं–प्रथम 'प्रत्यक्षज्ञानकारणं प्रत्यक्षम्'। द्वितीय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। प्रामाणिक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया में 'प्रत्यक्ष' का सर्वाधिक महत्त्व होने के कारण ग्रन्थकार ने इसकी व्याख्या सबसे पहले की है। इसके अतिरिक्त इस प्रमाण को सभी दर्शन एक मत से स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि नास्तिक दर्शन चार्वाक भी इसके सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रदान करता है। साथ ही अनुमिति, उपमिति और शाब्द आदि अन्य सभी ज्ञान और उनके प्रमाण भी अनिवार्य रूप से इसी प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित हैं। इसीलिए इसे ज्ञान के स्रोतों में 'प्रमाण-ज्येष्ठ' की संज्ञा भी प्रदान की गई है।

'प्रत्यक्ष' की प्रथम परिभाषा में ग्रन्थकार ने प्रत्यक्ष ज्ञान के असाधारण कारण अर्थात् करण को प्रत्यक्ष बताया है। इस अंश में 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है, जबकि 'प्रत्यक्षज्ञानकरणम्' उसके लक्षण रूप में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि सामान्यरूप से दैनिक व्यवहार में हम प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से करते हैं–(क) प्रमाणरूप में (ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के लिए (ग) प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय

हेतु, किन्तु प्रस्तुत स्थल पर ग्रन्थकार ने इसका प्रयोग 'प्रमाण' के अर्थ में ही विशेषरूप से किया है।

इस दृष्टि से ग्रन्थकार के प्रथम लक्षण का अर्थ है कि "किसी भी वस्तु, व्यक्ति अथवा पदार्थ का प्रत्यक्ष कराने के लिए जो असाधारण कारण के रूप में कार्य करता है, वही वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।"

दूसरी परिभाषा में ग्रन्थकार इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष अर्थात् संयोग होना अनिवार्य है। इसके अभाव में हम किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। इन्द्रियों की संख्या के आधार पर विद्वानों ने इसे घ्राणज, रसनज, चाक्षुष, स्पार्शज, श्रौत्रज और मानस छः प्रकार का बताया है।

प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है–प्रतिगतम्, अक्षम्, प्रत्यक्षम् यहाँ प्रयुक्त अक्षम् से अभिप्राय श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, रसना तथा मन आदि सभी इन्द्रियों से ग्रहण करना चाहिए। 'मन' भी महत्त्वपूर्ण अन्तरिन्द्रिय है, जो प्रत्येक प्रत्यक्ष में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। ईश्वर का प्रत्यक्ष हम 'मन' से ही करते हैं। अतः प्रत्यक्ष शब्द का अभिप्राय है कि–ज्ञानेन्द्रिय के सामने अथवा ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा प्रस्तुत होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आता है। यही कारण है कि सन्देहरहित होने से इसकी प्रामाणिकता सुनिश्चित होती है। इसीलिए हम दैनिक व्यवहार में "प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम्" उक्ति का प्रयोग भी सहज ही करते हैं।

तर्कसंग्रहकार ने इस क्रम में इसके निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो भेदों का उल्लेख करते हुए कहा कि–वस्तुमात्र का अवगाहन करने वाला, दूसरे शब्दों में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के ज्ञान से रहित-निष्प्रकारक ज्ञान ही वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान की कोटि में आता है। यह हमारी इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होता है। नाम, जाति, गुण आदि का भाव न होने के कारण इस ज्ञान को 'यह कुछ है' (किञ्चिद् इदम्) इस रूप में ही अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है। इस दृष्टि से इस निर्विकल्पक ज्ञान को अस्पष्ट ज्ञान भी कह सकते हैं, किन्तु इसे संदिग्ध की संज्ञा प्रदान नहीं कर सकते हैं। इसीलिए दीपिका टीका में और अधिक स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने इस ज्ञान को "विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध-अनवगाहि-ज्ञानम्" कहकर इसकी व्याख्या की है।

इसके ठीक विपरीत अग्रिम क्षणों में उस पदार्थ के सम्बन्ध में विशषण-विशेष्य

के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही 'सविकल्पक ज्ञान' की कोटि में आता है। जिसे हम यह डित्थ नामक पदार्थ है, यह ब्राह्मण है और यह श्याम वर्ण वाला है, इन रूपों में नाम, जाति और गुण के साथ जानते हैं। इसप्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) वास्तव में निश्चितता एवं स्पष्टता लिए हुए होता है, क्योंकि हम उस पदार्थ के गुणों से भी परिचित होते हैं।

दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होने वाले निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में होने वाले दो क्रमिक चरणों का ही प्रदर्शन है। जिनमें पहला हमारी इन्द्रिय के पदार्थ के सम्पर्क में आने के पश्चात् तत्काल होता है, इसमें हमें वस्तु के नाम, गुण, धर्म आदि का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसलिए इसके स्वरूप का ज्ञान हमें 'यह कुछ है' इस रूप में ही होता है। यद्यपि वह पदार्थ इस क्षण में अपने नाम, गुण-धर्म आदि से युक्त होता है, किन्तु हम इस प्रथम चरण में उनसे परिचित नहीं होते हैं। इसीलिए इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) की संज्ञा प्रदान की है।

इसके अगले ही क्षणों में जब हम उस वस्तु के नाम, गुण-कर्म आदि धर्मों से परिचित हो जाते हैं और उसे "यह डित्थ नामक ब्राह्मण श्याम वर्ण वाला है" इस रूप में जान लेते हैं। उसी क्षण यह प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष हो जाता है। सप्रकारक ज्ञान होने से इसे पूर्व प्रत्यक्ष से भिन्न दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष बताया गया है।

विशेष–(i) प्रत्यक्ष प्रमाण और उससे होने वाले निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्षों की सोदाहरण सुन्दर व्याख्या की गई है।

(ii) प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम दिङ्नाग द्वारा किया गया था, जिसे बाद में न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

(iii) प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रमाण, प्रमा और प्रमेय इन तीनों के लिए होता है।

(iv) आचार्य वात्स्यायन ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का इसप्रकार उल्लेख किया है–"आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेनेति।" अर्थात् प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा का सम्बन्ध सर्वप्रथम मन से होता है। तत्पश्चात् मन को इन्द्रिय के साथ उसके बाद इन्द्रिय का सम्पर्क (सन्निकर्ष) अर्थ के साथ होता है।

आत्मा→मन→ इन्द्रिय (चक्षु आदि→पदार्थ (घटादि)

(v) तर्कसंग्रहकार की प्रत्यक्ष विषयक परिभाषा में 'प्रत्यभिज्ञा' और 'मानस-

प्रत्यक्ष' भी आ जाते हैं, क्योंकि मानस प्रत्यक्ष में मन को ही इन्द्रिय माना गया है। ईश्वर का प्रत्यक्ष इसी से होता है।

(vi) कुछ विद्वानों ने सर्वप्रथम ज्ञान के नित्य और अनित्य दो भेद किए हैं। इनमें नित्य ज्ञान को मनुष्यों का बताते हुए सविकल्पक और निर्विकल्पक दो श्रेणियों में विभाजित किया है। पुनः सविकल्पक ज्ञान भी लौकिक, अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें भी पाँच इन्द्रिय और छठे मन इन कुल छः इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला लौकिक ज्ञान छः प्रकार का तथा अलौकिक ज्ञान–सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज भेद से तीन प्रकार का बताया है[1]–

(चित्र-42)

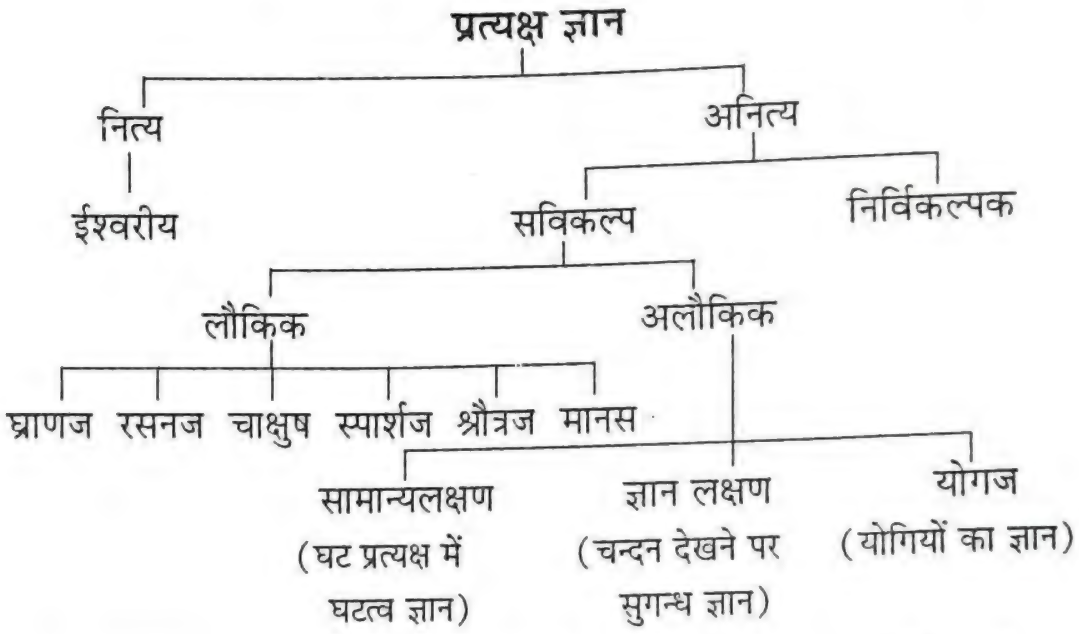

(vii) आचार्य अन्नंभट्ट ने इन ज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है।

(viii) परमात्म दर्शन की प्रक्रिया में सविकल्पक ज्ञान के पश्चात् निर्विकल्पक ज्ञान की स्थिति मानी गयी है। वेदान्त दर्शन ने इसका विस्तार से उल्लेख किया है।

(ix) बौद्ध दार्शनिक केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही सत्य मानते हैं। उनके मत में नाम, जात्यादि धर्मों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है।

(x) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

---

1. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, पृ० 103

(चित्र-43)

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष ज्ञानकरणं प्रत्यक्षम् | इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

तद् द्विविधम्

निर्विकल्पकम्
(निष्प्रकारकम् ज्ञानम्)
(किञ्चिद् इदम्)

सविकल्पकम्
(सप्रकारकम् ज्ञानम्)
(डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति)

अवतरणिका—प्रत्यक्ष ज्ञान का उल्लेख करने के पश्चात् उसके हेतु इन्द्रिय और पदार्थों के षड्विध सन्निकर्षों की सोदाहरण व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

सन्निकर्षस्य लक्षणं तस्य भेदाश्च, घटादि (द्रव्य)-प्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः, घटरूपप्रत्यक्षजनने कः सन्निकर्षः, रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः, शब्दप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः, शब्दत्वसाक्षात्कारे कः सन्निकर्षः, अभावप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः, प्रत्यक्ष प्रमाणस्य निष्कृष्टं लक्षणं किम्—

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियाऽर्थसन्निकर्षः षड्विधः-संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

(i) चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः।

(ii) घटरूप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

(iii) रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

(iv) श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवर-वृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

(v) शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

(vi) अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाऽभाववद्भूत-लमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाऽभावस्य विशेषणत्वात्।

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

पदच्छेद–प्रत्यक्ष-ज्ञान-हेतुः इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्षः-षड्विधः-संयोगः, संयुक्त-समवायः संयुक्त-समवेत-समवायः, समवायः, समवेत-समवायः, विशेषण-विशेष्यभावः च इति।

(i) चक्षुषा घट-प्रत्यक्ष-जनने 'संयोगः' सन्निकर्षः।

(ii) घटरूप-प्रत्यक्ष-जनने 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

(iii) रूपत्व-सामान्य-प्रत्यक्षे 'संयुक्त-समवेत-समवाय' सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे समवेतम् तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

(iv) श्रोत्रेण शब्द-साक्षात्कारे 'समवायः' सन्निकर्षः। कर्ण-विवर-वृत्ति-आकाशस्य श्रोत्रत्वात् शब्दस्य आकाश-गुणत्वात् गुण-गुणिनः च समवायात्।

(v) शब्दत्व-साक्षात्कारे 'समवेत-समवायः' सन्निकर्षः। श्रोत्र-समवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

(vi) अभाव-प्रत्यक्षे 'विशेषण-विशेष्यभावः' सन्निकर्षः। घट-अभाववद् भूतलम् इत्यत्र चक्षुः संयुक्ते भूतले घट-अभावस्य विशेषणत्वात्।

एवम् सन्निकर्षषट्कजन्यम् ज्ञानम् प्रत्यक्षम्। तत् कारणम् इन्द्रियम् तस्मात् इन्द्रियम् प्रत्यक्षप्रमाणम् इति, सिद्धम्।

दीपिका–इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विभजते–प्रत्यक्षेति।

संयोगसन्निकर्षमुदाहरति–चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः सन्निकर्ष इत्यर्थः। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते।

संयुक्तसमवायमुदाहरति–घटरूपेति। तत्र युक्तिमाह–चक्षुःसंयुक्त इति।

संयुक्तसमवेतसमवायमुदाहरति–रूपत्वेति।

समवायमुदाहरति–श्रोत्रेणेति। तदुपपादयति–कर्णेति। ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रेण सम्बन्ध इति चेन्न; वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रसम्बन्धात् प्रत्यक्षत्वसम्भवात्।

विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति–अभावेति। अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः। तदुपपादयति–घटाभाववदिति। भूतलं विशेष्यम्। घटाभावो विशेषणम्। 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्। एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्।

यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्। दर्शनाभावान्नास्तीति तर्कित-प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धेः सहकृतेनेन्द्रियेणैवाभावज्ञानोपपत्तावनुपलब्धेः प्रमाणाऽन्तरत्वासम्भवात्। अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोप पत्तादनुपलब्धेः करणत्वस्यायुक्तत्वात्। विशेषणविशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः सम्बन्धः।

प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरंस्तस्य करणमाह–एवमिति। असाधारणकारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः। प्रत्यक्षप्रमाणमुपसंहरति–तस्मादिति।

अनुवाद–प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष–(i) संयोग, (ii) संयुक्तसमवाय, (iii) संयुक्त समवेत समवाय, (iv) समवाय, (v) समवेत समवाय और (vi) विशेषण-विशेष्यभाव रूप से छः प्रकार का होता है।

(i) नेत्र से घट का प्रत्यक्ष होने में 'संयोग' नामक सन्निकर्ष होता है।

(ii) घट के रूप का प्रत्यक्ष करने में 'संयुक्त समवाय' नामक सन्निकर्ष है, क्योंकि नेत्र से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से स्थित रहता है।

(iii) रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में 'संयुक्त समवेत समवाय' नामक सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है तथा उसमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से स्थित है।

(iv) कर्ण-विवर में स्थित आकाश ही श्रोत्र होने से तथा आकाश का गुण शब्द होने के कारण एवं गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्र द्वारा शब्द का साक्षात्कार करने में 'समवाय' सन्निकर्ष है।

(v) (इसी प्रकार) श्रोत्र में समवेत रूप से विद्यमान शब्द में शब्दत्व जाति के समवाय सम्बन्ध से स्थित रहने के कारण, शब्दत्व के साक्षात्कार में 'समवेतसमवाय' नामक सन्निकर्ष होता है।

(vi) 'भूतल घट के अभाव वाला है', यहाँ नेत्र से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है। अत: अभाव का प्रत्यक्ष करने में विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष

इसप्रकार (उक्त) छः प्रकार के सन्निकर्षों से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तथा उसका करण (साधन) इन्द्रिय है। इसलिए इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

चन्द्रिका–वस्तुतः न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों ने प्रत्यक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हुए उससे होने वाले ज्ञान एवं उसकी प्रक्रिया की अत्यन्त सूक्ष्म गहन और विस्तृत चर्चा की है। इसलिए यहाँ भी इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की गहनता एवं सूक्ष्मता के साथ इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्षों का छः प्रकार से विवेचन किया है। तर्कसंग्रहकार का यह सम्पूर्ण विवेचन न्याय परम्परा का अनुकरण करते हुए किया गया है, क्योंकि वहाँ भी इन्हीं छः प्रकार के सन्निकर्षों का विवेचन किया गया है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन न केवल द्रव्य, अपितु उसके गुण, जाति, मात्र ध्वनि रूप में स्थित शब्द, उसकी जाति यहाँ तक कि किसी वस्तु के अभाव के प्रत्यक्ष में भी विश्वास करते हैं। इनके लिए ही इन्होंने इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष के प्रस्तुत अंश में छः भेदों–संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त-समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय एवं विशेषण-विशेष्यभाव की उदाहरणपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है। तदनुसार–

(i) संयोग सन्निकर्ष–किसी द्रव्य के साथ होने वाला इन्द्रिय का संयोग ही संयोग नामक सन्निकर्ष होता है। जैसे-चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष ही संयोग सन्निकर्ष की कोटि में परिगणित होगा, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय घट आदि पदार्थों के साथ सीधे सम्पर्क में आते हैं। अतः इन्द्रिय और घट का सन्निकर्ष 'संयोग' नामक सन्निकर्ष है।

(ii) संयुक्त समवाय सन्निकर्ष–इसीप्रकार जब हम घट आदि पदार्थों में विद्यमान रूप, गुण और उसमें रहने वाली घटत्व जाति का प्रत्यक्ष करते हैं तो उस समय इन्द्रिय का सन्निकर्ष 'संयुक्त समवाय' होता है, क्योंकि घट में स्थित रूप का प्रत्यक्ष करने में सर्वप्रथम चक्षु का घट के साथ 'संयोग' होता है तथा उस घट में रूप 'समवाय' सम्बन्ध से स्थित रहता है। गुण और गुणी का हमेशा समवाय सम्बन्ध ही माना गया है। यहाँ भी घट गुणी और रूप उसका गुण है। अतः घटरूप का प्रत्यक्ष करने में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है।

(iii) संयुक्त-समवेत समवाय सन्निकर्ष–इसीप्रकार जब हम घट आदि पदार्थों में विद्यमान रूप आदि गुणों में उनकी रूपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष करते हैं तो

यह संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष के ही माध्यम से होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप की स्थिति समवेत रूप से होती है और उस रूप गुण में भी उसकी रूपत्व जाति समवाय रूप से विद्यमान रहती है। अतः किसी भी वस्तु के गुण की जाति का प्रत्यक्ष करने में संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष का आवश्यकता होती है।

थोड़ी लम्बी प्रक्रिया होने के कारण इसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

(क) चक्षु-घट-संयोग अथवा **संयुक्त** सम्बन्ध।

(ख) घट में स्थित रूप गुण की स्थिति-**समवेत** या समवाय रूप से।

(ग) घटरूप में स्थित रूपत्व जाति की स्थिति-**समवाय** सम्बन्ध से।

इस दृष्टि से घट की रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष करने के लिए इन तीनों सम्बन्धों को जोड़कर संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष की स्थिति बन जाती है। वस्तुतः यहाँ प्रयुक्त संयोग और संयुक्त पद पर्यायवाची है। ठीक इसीप्रकार समवेत और समवाय शब्द भी पर्यायवाची ही हैं। यहाँ शब्दों की पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(iv) समवाय सन्निकर्ष–इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण करते समय 'समवाय' नामक सन्निकर्ष रहता है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों का मानना है कि हमारे कर्णविवर से अवच्छिन्न (आच्छादित) आकाश ही वस्तुतः श्रोत्र नामक इन्द्रिय है। इस दृष्टि से यह श्रोत्रेन्द्रिय आकाशात्मक हुआ और 'शब्द' आकाश का गुण होता है एवं गुण तथा गुणी का परस्पर 'समवाय' सम्बन्ध होता है। इस कारण श्रोत्र नामक इन्द्रिय के द्वारा शब्द को ग्रहण करने अथवा उसका प्रत्यक्ष करने में 'समवाय सन्निकर्ष' ही होगा।

(v) समवेत समवाय सन्निकर्ष–इसीप्रकार श्रोत्र नामक इन्द्रिय द्वारा शब्द में स्थित शब्दत्व नामक जाति का प्रत्यक्ष करने में 'समवेत समवाय' नामक सन्निकर्ष का प्रयोग करना होगा, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय में समवेत रूप से विद्यमान शब्द में शब्दत्व जाति समवाय सम्बन्ध से स्थित रहती है। अतः उस तक पहुँचने के लिए हमें दो स्टेप स्वीकार करने होंगे, जो समवेत समवाय सन्निकर्ष के सम्बन्ध रूप में ही होंगे।

(vi) विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष–इसके अलावा जब हम चक्षु नामक इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करते हैं, तो उस समय विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि "यह भूतल घट के अभाव वाला है (घटाभाववद् भूतलम्) इसका प्रत्यक्ष करने में चक्षु नामक इन्द्रिय का भूतल से संयोग होता है तथा घट का अभाव उस भूतल का विशेषण है। इस दृष्टि

से चक्षु संयुक्त भूतल विशेष्य होगा तथा भूतल में घट का अभाव विशेषण होगा। अत: इस अभाव के प्रत्यक्ष में हमें विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष को सहमति प्रदान करनी होगी।"

इसप्रकार छ: प्रकार के सन्निकर्षों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त छ: प्रकार के सन्निकर्षों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। इन्द्रियाँ ही इसमें साधन अर्थात् करण हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष में हमारी इन्द्रियाँ ही वस्तुत: प्रत्यक्षरूप प्रमाण होती हैं।

विशेष

(i) इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानने के पश्चात् ग्रन्थकार ने सन्निकर्ष के छ: प्रकारों का उल्लेख किया है।

(ii) तर्कसंग्रहकार द्वारा प्रतिपादित छ: सन्निकर्षों में संयोग, समवाय और विशेषण-विशेष्यभाव ये तीन सन्निकर्ष ही वस्तुत: मौलिक हैं, क्योंकि संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय तथा समवेत-समवाय ये तीनों ही पूर्व-पूर्व के समन्वय से निर्मित होते हैं।

(iii) ग्रन्थकार के अनुसार-विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष द्वारा केवल अभाव का ही प्रत्यक्ष होता है। वस्तुत: घटाभाव के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्षों की स्थिति बनती है-प्रथम, इन्द्रिय का भूतल से सन्निकर्ष तथा भूतल का घटाभाव से सन्निकर्ष। इनमें प्रथम भूतल घट के अभाव वाला है, ऐसा कहने पर विशेष्य है तथा द्वितीय, भूतल पर घट का अभाव है, ऐसा प्रतीत होने पर विशेषण है। अत: दोनों को ही यहाँ संक्षेप में विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष कहा गया है।

(iv) दीपिका टीका में प्रस्तुत अंश की ग्रन्थकार ने विस्तृत व्याख्या की है।

(v) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-

(चित्र-44)

(क)

सन्निकर्ष

षड्विधः

- संयोग (चक्षु द्वारा घट प्रत्यक्ष)
- संयुक्त समवाय (चक्षु द्वारा घट रूप का प्रत्यक्ष)
- संयुक्तसमवेतसमवाय (चक्षु द्वारा घट रूप में स्थित रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष)
- समवाय (शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष)
- समवेत समवाय (श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द में स्थित शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष)
- विशेषणविशेष्य भाव चक्षु द्वारा (घट के अभाव का प्रत्यक्ष)

(ख)

1. वस्तु → संयोग सन्निकर्ष
2. वस्तु का रूप → संयुक्त समवाय सन्निकर्ष
3. वस्तु के रूप में स्थित रूपत्व जाति → संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष
4. शब्द → समवाय सन्निकर्ष
5. शब्द में स्थित शब्दत्व जाति → समवेत समवाय सन्निकर्ष
6. अभाव → विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष

इतिप्रत्यक्षखण्डः।

अथाऽनुमानखण्डः

अवतरणिका–प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रयुक्त होने वाले षड्विध सन्निकर्षों की विस्तारपूर्वक सोदाहरण व्याख्या करने के अनन्तर ग्रन्थकार द्वितीय अनुमान प्रमाण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

अनुमानलक्षणम्, अनुमितिलक्षणम्, परामर्शस्य लक्षणम्,
का नाम व्याप्तिः, पक्षधर्मताया लक्षणम् च–

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा–'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमानि' ति ज्ञानमनुमितिः। 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति' साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

पदच्छेद–अनुमिति-करणम् अनुमानम्। परामर्श-जन्यम् ज्ञानम् अनुमितिः। व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मता-ज्ञानम् परामर्शः। यथा-वह्नि-व्याप्य-धूमवान् अयम् पर्वतः, इति ज्ञानम् परामर्शः। तत् जन्यम् 'पर्वतः वह्निमान्' इति ज्ञानम् अनुमितिः। 'यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः' इति साहचर्य-नियमः व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वत-आदि-वृत्तित्वम् पक्षधर्मता।

दीपिका–अनुमानं लक्षयति–अनुमितिकरणमिति। अनुमितेर्लक्षणमाह-परामर्शेति। ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम्; 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधादिति चेन्न; पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात् सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमिति-प्रतिबन्धिका। सिद्धिसत्त्वेऽप्यनुमिनुयामितीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषोत्तेजिका। ततश्चोत्तेजकाभावविशिष्टमप्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्य-भावस्याप्यनुमितिकारणत्वम्। परामर्श लक्षयति–व्याप्तीति। व्याप्तिविषयकं यत्प्रत्यक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः। परामर्शमभिनीय दर्शयति–यथेति। अनुमितिमभिनीय दर्शयति–तज्जन्यमिति। परामर्शजन्यमित्यर्थः। व्याप्तेर्लक्षणमाह-यत्रेति। 'यत्र धूमस्तत्राग्निरि'ति व्याप्तेरभिनयः। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्यं सामानाधिकरण्यम्, तस्य नियमः–हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावा- प्रतियोगिसाध्य-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः। पक्षधर्मतास्वरूपमाह–व्याप्यस्येति।

अनुवाद–अनुमिति का करण अनुमान होता है। परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (ही) अनुमिति है। व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता विषयक ज्ञान को परामर्श कहते

हैं। जैसे-"अग्नि से युक्त (व्याप्य) यह पर्वत धूमवाला है", इसप्रकार का ज्ञान ही परामर्श है। उससे उत्पन्न होने वाला "पर्वत वह्निमान् है", यह ज्ञान (ही) अनुमिति है। "जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है", इसप्रकार का साहचर्य नियम ही व्याप्ति है तथा व्याप्त (अग्नि) का पर्वतादि (पक्ष) में विद्यमान होना ही पक्षधर्मता है।

चन्द्रिका–यहाँ ग्रन्थकार सर्वप्रथम अनुमान को परिभाषित करते हुए उसे 'अनुमिति का करण' बताते हैं। पुनः इसी प्रसङ्ग प्रयुक्त अनुमिति को परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान कहते हैं तथा उसका उदाहरण अग्नि की व्याप्ति से विशिष्ट यह पर्वत धूम वाला है। इसी क्रम में आगे व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–"यह पर्वत अग्निमान् है।" इस परामर्श रूप ज्ञान से उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान ही वस्तुतः अनुमिति है। तत्पश्चात् इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले व्याप्ति और पक्षधर्मता पदों को भी स्पष्ट करते हैं। तदनुसार–"जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है, ऐसा इनका एक साथ रहने सम्बन्धी नियम ही अनुमान की प्रक्रिया में 'व्याप्ति' कहलाता है तथा व्याप्त अग्नि का पर्वतादि पक्ष में रहना ही 'पक्षधर्मता' है।"

वस्तुतः ज्ञान–प्राप्ति के लिए प्रमाण–प्रक्रिया में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के बाद दूसरा स्थान 'अनुमान' प्रमाण का ही है। चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने इस प्रमाण को मान्यता प्रदान की है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में तो इसका अत्यधिक महत्त्व है। विद्वानों ने 'अनुमान' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। प्रथम, अनुमीयते अनेन इति अनुमानम् तथा दूसरी, 'अनुमितिः अनुमानम्'। दोनों ही स्थितियों में अनुमित्यात्मक ज्ञान को ही अनुमान कहा है, क्योंकि यह ज्ञान (अनु अर्थात् बाद में मान अर्थात् ज्ञान) बाद में होता है, इससे पूर्व कभी हम किसी न किसी रूप में इसका ज्ञान प्राप्त कर चुके होते हैं। इसीलिए एक परिभाषा में 'प्रत्यक्ष द्वारा अप्रत्यक्ष' के ज्ञान को अनुमान की संज्ञा भी प्रदान की गयी है (प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिः)।[1]

प्रस्तुत अंश को समझने के लिए हमें यहाँ प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों को सबसे पहले समझना होगा, किन्तु इससे पूर्व हम अनुमान की व्यावहारिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाल रहे हैं, जिससे इन पारिभाषिक शब्दों को समझने में भी सरलता हो सकेगी।

हम अपने दैनिक जीवन में विशेषरूप से रसोईघर में हमेशा ही धूम (धुआँ) और अग्नि के साहचर्य को देखकर यह निश्चय कर लेते हैं कि–"जहाँ-जहाँ हमें धुआँ दिखाई देता है, वहाँ-वहाँ अग्नि की उपस्थिति अवश्य होती है।" इसी निश्चयात्मक ज्ञान को दार्शनिक भाषा में "यत्र-यत्र धूमः-तत्र-तत्र वह्निः" इसप्रकार

1. वात्स्यायनभाष्य, गौतमसूत्र, 2.2.2

प्रदर्शित किया गया है तथा इसी साहचर्य-नियम को 'व्यापित' की संज्ञा भी दी गई है। तर्कभाषाकार ने भी इसे "यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः" कहकर इङ्गित किया है।

धूम और अग्नि के साहचर्य-नियम सम्बन्धी इस व्याप्ति विषयक ज्ञान को ग्रहण किए हुए हम जंगल में जाते हैं तथा वहाँ से दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित पर्वत में धुआँ उठता हुआ देखते हैं तो हम निःशङ्क होकर कह उठते हैं कि 'यह पर्वत अग्नि वाला है।' 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' यद्यपि पर्वत के अत्यधिक दूरी पर स्थित होने से हम अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु फिर भी हमारे कथन में दृढ़ता, सत्यता और निश्चयात्मकता है, क्योंकि हमारा पर्वत में अग्नि विषयक ज्ञान पूर्णतया प्रामाणिक है। हमारे इस ज्ञान को प्रमाणित करने वाला प्रमाण ही वस्तुतः 'अनुमान प्रमाण' की श्रेणी में आता है तथा इससे प्राप्त होने वाला ज्ञान '**अनुमिति**' कहलाता है।

इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने अनुमिति के असाधारण कारण अर्थात् करण को 'अनुमान प्रमाण' की संज्ञा प्रदान की है (अनुमितिकरणमनुमानम्)। उनका मानना है कि परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही वस्तुः अनुमिति है। दूसरे शब्दों में–उन्होंने अनुमिति को परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान कहा है। इसके अतिरिक्त "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः।" इस व्याप्ति के साथ (व्याप्तिविशिष्ट) पक्षधर्मता अर्थात् पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि हेतु के होने का ज्ञान ही **परामर्श** है, जिसे ग्रन्थकार ने "वह्नि व्याप्ति विशिष्ट यह पर्वत धूम वाला है" (वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) इस रूप में उदाहरण देकर प्रदर्शित भी किया है।

अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया में न्यायदर्शन में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष, हेतु साध्य, व्याप्य एवं व्यापक शब्दों का भी अत्यधिक प्रयोग हुआ है। अतः इन्हें समझना भी आवश्यक है। **पक्ष** से अभिप्राय उस स्थान से है, जहाँ हम किसी वस्तु या व्यक्ति को सिद्ध करना चाहते हैं अथवा 'संदिग्ध साध्यवान् पक्षः' परिभाषा के अनुसार जहाँ साध्य की स्थिति में सन्देह हो वह 'पक्ष' होता है। जैसे–"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमत्वात्" उदाहरण में पर्वत में अग्नि का सन्देह होने के कारण वह पर्वत ही अनुमान की प्रक्रिया में '**पक्ष**' कहा जाएगा। प्रस्तुत उदाहरण के प्रसङ्ग में ही '**सपक्ष**' वह होगा, जहाँ साध्य-रूप अग्नि की स्थिति सुनिश्चित हो, जैसे-रसोईघर। जबकि '**विपक्ष**' में साध्यरूप अग्नि का पूर्णतया अभाव होगा। जैसे-तालाब।

इसीप्रकार जिसके कारण 'पक्ष' पर्वत में साध्य (अग्नि) का सन्देह होता है, उस 'धूम' को यहाँ 'हेतु' कहा जाएगा, क्योंकि धूम के कारण ही हमें पर्वत में अग्नि का सन्देह होता है। अनुमान की प्रक्रिया में चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान न होने

पर जब हम किसी संदिग्ध वस्तु को अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो उसे साध्य कहते हैं। जैसे-पर्वत पर धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान लगाना इत्यादि उदाहरण में 'अग्नि' साध्य कहा जाएगा, क्योंकि हमारा उद्देश्य उसी को पर्वत में सिद्ध करना है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त उदाहरण में ही धूम '**व्याप्य**' और साध्यरूप अग्नि '**व्यापक**' होगा, क्योंकि व्यापक अग्नि, व्याप्य धूम की अपेक्षा अधिक देश में रहता है। इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती ही है, किन्तु जहाँ धूम नहीं होता वहाँ भी अग्नि की उपस्थिति देखी जाती है, जैसे तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि तो विद्यमान होती है, किन्तु वहाँ धुआँ नहीं होता है। इसीप्रकार वर्तमान समय में रसोईघर में प्रयुक्त होने वाली गैस से उत्पन्न अग्नि में धुआँ नहीं होता है। इस दृष्टि से अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य हुआ।

अनुमान की प्रक्रिया में जो व्यक्ति दूर से ही पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करता है, वह इसप्रकार की व्याप्ति से पूर्णतया परिचित होता है कि "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः" अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, क्योंकि इसका निश्चयात्मक ज्ञान वह रसोईघर में धुएँ के साथ अग्नि को बार-बार देखकर कर चुका है। इसीलिए पर्वत में उठते हुए धुएँ को देखकर वह निश्चय करता है कि इस पर्वत पर अग्नि विद्यमान है। यद्यपि वह पर्वत से अत्यधिक दूर खड़ा हुआ है और दूर होने के कारण उसे अग्नि दिखायी भी नहीं दे रही है, तो भी यह ज्ञान उसका निश्चयात्मक एवं प्रामाणिक है, क्योंकि इसका आधार हेतु 'धूम' एवं 'व्याप्ति' हैं।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम 'अनुमिति' के असाधारण कारण अर्थात् करण को अनुमान की संज्ञा प्रदान की है।

(ii) उसके बाद प्रसङ्ग प्राप्त होने पर 'अनुमिति' की परिभाषा करते हुए परामर्शजन्य ज्ञान की अनुमिति बताया है।

(iii) इसी क्रम में परामर्श को परिभाषित किया है। तदनुसार–"व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता विषयक ज्ञान को 'परामर्श' कहा है।"

(iv) तत्पश्चात् 'परामर्श' को भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'अग्नि से व्याप्त यह पर्वत धूमवान् है' यही ज्ञान परामर्श और इसी परामर्श के साथ इसलिए 'यह पर्वत अग्नि वाला है' इस रूप में उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुमिति है।

(v) प्रसङ्ग प्राप्त होने पर अन्त में 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' दोनों पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्ट किया है।

(vi) यह ग्रन्थकार की विशिष्ट शैली ही है कि वे क्रमश: प्रयुक्त होने वाले नये-नये शब्दों की व्याख्या करते हुए चलते हैं।

(vii) तर्कभाषाकार ने तृतीय ज्ञान को 'परामर्श' कहा है। तदनुसार-"रसोईघर में धूम का ज्ञान प्रथम ज्ञान है, जिससे हमें "यत्र-यत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि:" रूप व्याप्ति का ग्रहण होता है। पुन: पर्वत में धूम-दर्शन द्वितीय ज्ञान है तथा इसके पश्चात् व्याप्ति स्मरण सहित पुन: धूम का देखना ही तृतीय ज्ञान है, अनुमान की प्रक्रिया में इसी को 'परामर्श' कहते हैं।"

(viii) इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना अत्यधिक आवश्यक है कि भले ही हमें अग्नि की अपेक्षा धूम अधिक क्षेत्र में फैला हुआ दिखायी दे, किन्तु वह व्यापक न होकर व्याप्य ही होगा, जबकि अग्नि व्यापक होगी। इसका कारण यही है कि दैनिक व्यवहार में यह अनिवार्य है कि धूम के दृष्टिगोचर होने पर 'अग्नि' का होना अनिवार्य है, जबकि अग्नि की उपस्थिति में धूम की अनिवार्यता नहीं देखी जा सकती है। तपा हुआ लोहे का गोला और वर्तमान LPG गैस से उत्पन्न अग्नि में धूम का अभाव होता ही है। इसीलिए अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्त। व्यापक हमेशा अधिक स्थानों पर होता है।

(ix) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्ति दी जा सकती है-

(चित्र-45)

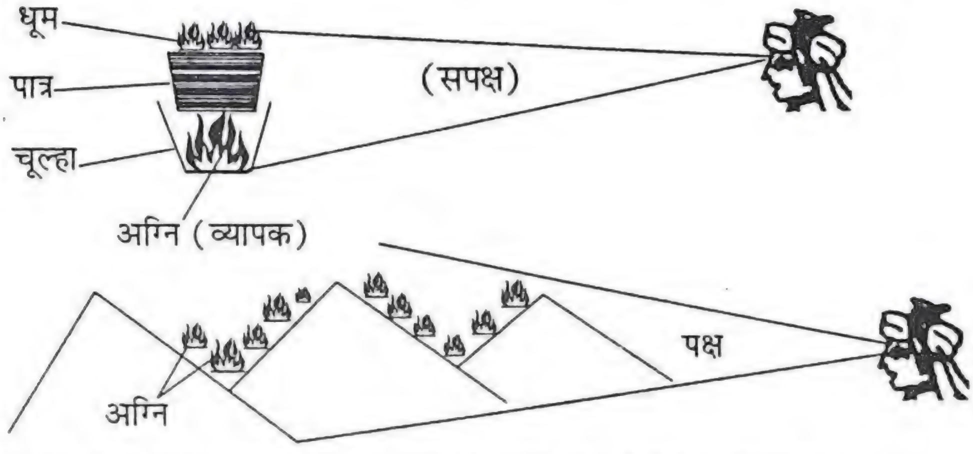

(i) पर्वत में धूम दर्शन (पर्वत पक्ष में धूम हेतु के होने का ज्ञान)।

(ii) पुन: व्याप्ति स्मरणपूर्वक पुन: धूमदर्शन ही 'परामर्श' है, जिसे ग्रन्थकार ने द्वितीय ज्ञान माना है, जबकि तर्कभाषाकार इसे तृतीय ज्ञान मानते हैं।

(iii) इसी परामर्श से उत्पन्न ज्ञान 'अनुमिति' तथा इस अनुमिति का कारण अर्थात् असाधारण कारण ही अनुमान प्रमाण है।

अवतरणिका-अनुमान प्रमाण एवं उसकी परिभाषा में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों 'अनुमिति', 'परामर्श', 'व्याप्ति' एवं 'पक्षधर्मता' को स्पष्ट करने

के बाद ग्रन्थकार अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान रूप से दो भेद करते हुए उन्हें स्पष्ट करते हैं–

अनुमानद्वैविध्यम्, किं नाम स्वाऽर्थाऽनुमानम्–

अनुमानं द्विविधम्-स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथा हि-स्वयमेव भूयो दर्शनेन 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरि'ति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति-'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्शः इत्युच्यते। तत्मात् पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत् स्वार्थानुमानम्।

पदच्छेद–अनुमानम् द्विविधम्-स्वार्थम् परार्थम् च। तत्र स्वार्थम् स्व-अनुमिति-हेतुः। तथाहि-स्वयम् एव भूयः दर्शनेन यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः' इति। महानस-आदौ व्याप्तिम् गृहीत्वा पर्वत-समीपम् गतः, तत् गते च अग्नौ संदिहानः पर्वते धूमम् पश्यन् व्याप्तिम् स्मरति-'यत्र-यत्र धमः तत्र-तत्र अग्निः' इति। तत् अनन्तरम् 'वह्नि-व्याप्य-धूमवान्-अयम् पर्वतः' इति ज्ञानम् उत्पद्यते। अयम् एव लिङ्ग परामर्शः इति उच्यते। तस्मात् पर्वतः वह्निमान् इति ज्ञानम् अनुमितिः उत्पद्यते। तत् एतत् 'स्वार्थानुमानम्'।

दीपिका–अनुमानविभागमाह-अनुमानमिति। तद्द्वैविध्यं दर्शयति-स्वार्थमित्यादिना। तत्रेति। उभयोर्मध्ये इत्यर्थः। स्वार्थानुमानं दर्शयति-स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे साध्यसाधनयोर्भूयः सहचारदर्शनेनेत्यर्थः।

ननु पार्थिवत्वलौहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेऽपि धूमादौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयो दर्शनेन कथं व्याप्तिग्रह इति चेन्न; व्यभिचारज्ञान-विरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्। व्यभिचारज्ञानं द्विविधम्–निश्चयः, शङ्का च। तद्विरहः क्वचित्तर्कात्, क्वचित्स्वतः सिद्ध एव। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे कार्यकारणभाव-मङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः। ननु सकलवह्निधूमयोरसन्निकर्षात् कथं व्याप्तिग्रह इति चेन्न; वह्नित्वधूमत्वरूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सकलवह्नि-धूमज्ञानसम्भवात्। तस्मादिति। लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः।

अनुवाद–अनुमान दो प्रकार का होता है–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। उनमें स्वार्थानुमान अपने 'अनुमिति' विषयक ज्ञान का हेतु (कारण) होता है। जैसे–(कोई) स्वयं ही रसोईघर (आदि) में बार-बार देखकर जहाँ-जहाँ धूम है,

वहाँ-वहाँ अग्नि है, ऐसी व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के पास जाता है और वहाँ जाने पर पर्वत में धूम को देखता हुआ अग्नि के सम्बन्ध में सन्देह करते हुए इस व्याप्ति को स्मरण करता है-"जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है।"

उसके पश्चात् (उसे) यह पर्वत अग्नि से व्याप्त धूम वाला है। इसप्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही 'लिङ्ग परामर्श' कहलाता है। इसलिए यह पर्वत अग्निवाला है, यह अनुमितिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। बस यही स्वार्थानुमान है।

चन्द्रिका–इससे पूर्व ग्रन्थकार ने अनुमान प्रमाण की व्याख्या की थी। प्रस्तुत अंश में वे अनुमान के दो भेदों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–यह अनुमान स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद से दो प्रकार का होता है। जैसा कि इन शब्दों से ही स्पष्ट है, जो अनुमान अपने ज्ञान के लिए हो वह स्वार्थानुमान (स्व+अर्थ+अनुमान) होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति हम इसप्रकार करेंगे–"स्वस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थं तत् खलु अनुमानम्, स्वार्थानुमानम्।"

इसके विपरीत दूसरे के लिए अनुमान प्रक्रिया से प्रयुक्त ज्ञान ही परार्थानुमान होता है। (पर+अर्थ+अनुमान)। इस स्थिति में परस्य एव अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थम्, तत् खलु अनुमानम्, परार्थानुमानम्। दूसरे शब्दों में जो अपने लिए हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिए हो वह परार्थ है। स्वार्थानुमान अनौपचारिक होता है, जबकि परार्थानुमान में औपचारिकता विद्यमान रहती है, क्योंकि स्वार्थानुमान से व्यक्ति स्वयं अनुमान लगाता है तथा परार्थानुमान में वह इस प्रक्रियात्मक ज्ञान को दूसरे को समझाता है, उस तक पहुँचाता है।

इसके अतिरिक्त स्वार्थानुमान में हम अपने अनुभव के आधार पर तुरन्त अनुमान कर लेते हैं, जबकि परार्थानुमान में इसी अपने अनुभव के आधार पर एक निश्चित वाक्यों वाली भाषा का प्रयोग करके वह ज्ञान हम दूसरों तक प्रेषित करते हैं। अतः परार्थानुमान में पञ्चायव वाली भाषा का अत्यधिक महत्त्व है, जिसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या अग्रिम अंश में की जाएगी। यहाँ केवल इतना स्पष्ट करना ही पर्याप्त होगा कि–

स्वार्थानुमान वस्तुतः अपने ही अनुमिति विषयकज्ञान का हेतु होता है। जिसे हम उदारहण द्वारा इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं। जैसे–कोई व्यक्ति रोजाना स्वयं ही रसोईघर में धुएँ को बार-बार देखकर "जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है", जैसे-रसोईघर। (यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः, यथा-महानसः) इसप्रकार की व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत की ओर वन में जाता है और वहाँ दूर से ही पर्वत

में अग्नि को उठता हुआ देखकर यह सन्देह करता है–अरे! इस पर्वत में तो आग लगी है (अग्निवान् पर्वतोऽयम्)। जो निश्चयात्मक एवं प्रामाणिक होता है। यद्यपि सामान्यरूप से देखने पर यह ज्ञान हमें तत्काल प्रतीत होता है, किन्तु इस सम्पूर्ण आनुमानिक प्रक्रिया में चिन्तन के पाँच स्तर होते हैं, जो शीघ्रतातिशय के कारण हमें प्रतीत नहीं होते हैं, जिनकी ओर ग्रन्थकार ने यहाँ संकेत किया है।

तदनुसार पर्वत पर 'धूम' को देखकर व्यक्ति 'अग्नि' का सर्वप्रथम सन्देह करता है और रसोईघर में दैनिक धूम-अग्नि के साहचर्य विषयक ज्ञान (व्याप्ति) का स्मरण करता है। (यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः, इति) पुनः क्योंकि यह पर्वत भी धुएँ से युक्त है। अतः अग्नि वाला है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। न्याय की भाषा में इस क्रम को इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

(क) प्रतिज्ञा–यह पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतोऽयम् वह्निमान्)।

(ख) हेतु–धूमवाला होने से (धूमवत्वात्)।

(ग) उदाहरण–जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे–रसोईघर। (यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः, यथा-महानसः)।

(घ) उपनय–यह पर्वत भी वैसा ही धूमवाला है। (तथा चायम्)।

(ङ) निगमन–इसलिए यह भी अग्नि से युक्त है (तस्मात्तथेति)।

यद्यपि उक्त पञ्चावयव वाक्य प्रक्रिया परार्थानुमान में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है, तथापि यही प्रक्रिया स्वार्थानुमान में भी प्रयुक्त होती है, किन्तु वह इतने कम समय में हमारे मन में ही हो जाती है कि उसके क्रम का हमें ज्ञान नहीं हो पाता है। इस दृष्टि से इन दोनों स्वार्थानुमान और परार्थानुमान में कोई विशेष भेद नहीं होता है, क्योंकि प्रत्येक परार्थानुमान, वस्तुतः स्वार्थानुमान पर ही आधारित होता है और स्वार्थानुमान को परार्थानुमान में भी परिवर्तित किया जा सकता है।

विशेष– (i) वस्तुतः अनुमान का करणरूप होने के कारण स्वार्थानुमान ही 'अनुमान' कहा जाने योग्य है।

(ii) आचार्य गौतम एवं महर्षि कणाद ने भी स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद नहीं किए हैं।

(iii) यद्यपि दूसरे व्यक्ति को शब्दों के माध्यम से ज्ञान प्रेषित करने के कारण परार्थानुमान 'शाब्दबोध' के अन्तर्गत भी ग्रहण किया जा सकता है तथापि इसका आधार अनुमान होने से इसे अनुमान के अन्तर्गत माना गया है।

(iv) हेतु 'धूम' को आगे चलकर ग्रन्थकार ने 'लिङ्ग' शब्द द्वारा भी कहा है। इसीलिए इस लिङ्ग के (तृतीय) परामर्श को अनुमान संज्ञा प्रदान की है। (तस्मात् लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्) इस लिङ्ग को ग्रन्थकार ने आगे अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि तथा केवलव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का बताया है।

(v) अनुमान को तृतीय लिङ्गपरामर्श इसलिए कहा जाता है, क्योंकि प्रथम धूम ज्ञान हमें 'महानस' में होता है, द्वितीय धूमज्ञान पर्वत पर होता है। जबकि व्याप्ति स्मरणपूर्वक पुनः पक्ष पर्वत में धूम-दर्शन ही तृतीय लिङ्ग परामर्श है।

(vi) अनुमान के अन्य भेदों में आचार्य गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट भेद भी बताए हैं, जिनका तर्कभाषाकार ने उल्लेख नहीं किया है।

(vii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-

(चित्र-46)

अनुमान

द्विविधम्

स्वार्थानुमान (स्व अनुमिति हेतुः स्वार्थम्)

परार्थानुमान (पर अनुमितिहेतुः परार्थम्)

महानसौ यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः इति व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतं प्रति गच्छति

तत्र पर्वते धूमं पश्यन् अग्नौ संदिहानः व्याप्तिं स्मरति

तथा धूमवान् च अयम् पर्वतः अतः अग्निमान् वर्तते इति स्वार्थानुमानं लभते

अवतरणिका–स्वार्थानुमान की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार परार्थानुमान के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं कि–

परार्थानुमानस्य स्वरूपम्–

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा–"पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति"। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

पदच्छेद–यत् तु स्वयम् धूमात् अग्निम् अनुमाय परम् प्रति बोधयितुम् पञ्च-अवयव-वाक्यम् प्रयुज्यते, तत् परार्थानुमानम् (पर-अर्थ-अनुमानम्)। यथा–"पर्वतः

(iv) हेतु 'धूम' को आगे चलकर ग्रन्थकार ने 'लिङ्ग' शब्द द्वारा भी कहा है। इसीलिए इस लिङ्ग के (तृतीय) परामर्श को अनुमान संज्ञा प्रदान की है। (तस्मात लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्) इस लिङ्ग को ग्रन्थकार ने आगे अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि तथा केवलव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का बताया है।

(v) अनुमान को तृतीय लिङ्गपरामर्श इसलिए कहा जाता है, क्योंकि प्रथम धूम ज्ञान हमें 'महानस' में होता है, द्वितीय धूमज्ञान पर्वत पर होता है। जबकि व्याप्ति स्मरणपूर्वक पुनः पक्ष पर्वत में धूम-दर्शन ही तृतीय लिङ्ग परामर्श है।

(vi) अनुमान के अन्य भेदों में आचार्य गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट भेद भी बताए हैं, जिनका तर्कभाषाकार ने उल्लेख नहीं किया है।

(vii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-46)

अनुमान

द्विविधम्

स्वार्थानुमान (स्व अनुमिति हेतुः स्वार्थम्) | परार्थानुमान (पर अनुमितिहेतुः परार्थम्)

स्वार्थानुमान:
- महानसौ यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः इति व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतं प्रति गच्छति
- तत्र पर्वते धूमं पश्यन् अग्नौ संदिहानः व्याप्तिं स्मरति
- तथा धूमवान् च अयम् पर्वतः अतः अग्निमान् वर्तते इति स्वार्थानुमानं लभते

अवतरणिका–स्वार्थानुमान की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार परार्थानुमान के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं कि–

परार्थानुमानस्य स्वरूपम्–

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा–"पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति"। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

पदच्छेद–यत् तु स्वयम् धूमात् अग्निम् अनुमाय परम् प्रति बोधयितुम् पञ्च-अवयव-वाक्यम् प्रयुज्यते, तत् परार्थानुमानम् (पर-अर्थ-अनुमानम्)। यथा–"पर्वतः

वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यः यः धूमवान् सः-सः वह्निमान्, यथा-महानसम् तथा च अयम्, तस्मात् तथा इति।" अनेन प्रतिपादितात् लिङ्गात् परः अपि अग्निम् प्रतिपद्यते।

दीपिका–परार्थानुमानमाह-यत्त्विति। यच्छब्दस्य तत्परार्थानुमानमिति तच्छब्देनान्वयः। पञ्चावयववाक्यमुदाहरति-यथेति।

अनुवाद–किन्तु जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए पाँच अवयवों वाले वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान होता है। जैसे-धूमवान् होने के कारण (यह) पर्वत अग्नि वाला है। जो-जो धूम वाला होता है, वह-वह अग्नि वाला (भी) होता है। जैसे-रसोईघर और उसी प्रकार यह (भी धूमवान्) है। इसलिए (यह भी) वैसा (ही अर्थात् अग्निमान्) है। इसप्रकार प्रतिपादित लिङ्ग द्वारा दूसरा व्यक्ति भी (पर्वत में) अग्नि विषयक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

चन्द्रिका–निश्चय ही दूसरे प्रकार के इस अनुमान में व्यक्ति धूम रूप हेतु अथवा लिङ्ग के द्वारा अग्नि का अनुमान करने के पश्चात् यदि दूर स्थित पर्वत पर धूम को दिखाता हुआ कहता है कि अरे! इस पर्वत पर तो आग लगी है, उसके ऐसा कहने पर उसके साथ स्थित व्यक्ति को समझाते हुए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से युक्त पाँच अवयवों वाले वाक्य का इसप्रकार प्रयोग करता है–

1. प्रतिज्ञा-अरे! पर्वतोऽयम् वह्निमान्।
2. हेतु – धूमवत्त्वात्।
3. उदाहरण-यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः, यथा-महानसम्।
4. उपनय – तथा चायम्।
5. निगमन – तस्मात् तथेति।

इसप्रकार धूमरूप लिङ्ग का प्रयोग करके अन्य व्यक्ति भी दूर होने पर अग्नि के दिखायी न देने पर भी उसका अनुमान पर्वत पर कर लेता है। इसकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। अतः पुनरावृत्ति से बचने के लिए पुनः यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

विशेष–(i) प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त शब्द से ही स्पष्ट है कि पर अर्थात् दूसरे, अर्थ अर्थात् के लिए प्रयुक्त अनुमान-परार्थानुमान।

(ii) 'पर्वतोऽयम् अग्निमान्' को सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार ने 'शब्दचित्र' प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

(iii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-47)

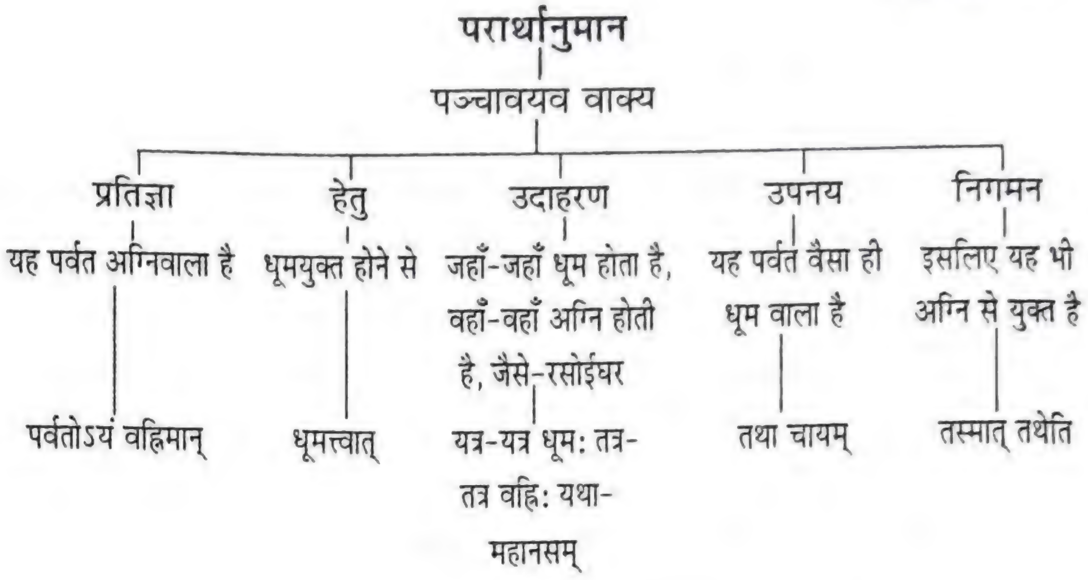

अवतरणिका–परार्थानुमान प्रसङ्ग में प्रयुक्त पञ्चावयव वाक्यों को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं–

के नाम पञ्चाऽवयवाः–

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः।'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसम्, इत्युदाहरणम्।' तथा चायम् इत्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

पदच्छेद–प्रतिज्ञा-हेतु-उदारहण-उपनय-निगमनानि पञ्च-अवयवाः। पर्वतः वह्निमान् इति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वात्, इति हेतुः। यः यः धूमवान् सः सः अग्निमान्, यथा महानसम् इति, उदाहरणम् तथा च अयम् इति उपनयः। तस्मात् तथा इति निगमनम्।

दीपिका–अवयवस्वरूपमाह–प्रतिज्ञेति। उदाहृतवाक्येषु प्रतिज्ञादिविभागमाह–पर्वतो–वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकं वचनमुदाहरणम्। व्याप्तिविशिष्टलिङ्गप्रतिपादकं वचनमुपनयः। हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम्। पक्षज्ञानं प्रतिज्ञाप्रयोजनम्। लिङ्गज्ञानं हेतुप्रयोजनम्। व्याप्तिज्ञानमुदाहरणप्रयोजनम्। पक्षधर्मताज्ञानमुपनयप्रयोजनम्। अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्।

अनुवाद–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन परार्थानुमान में (ये) पाँच अवयव होते हैं। (उनमें) '**पर्वत वह्निमान् है**' यह प्रतिज्ञा (वाक्य) है। 'धूमवाला होने से' यह हेतु है। जो-जो धूमवान् है, वह-वह अग्निमान् है, जैसे-रसोईघर, यह उदाहरण है और यह भी वैसा है, यह उपनय है। इसलिए 'यह अग्निवाला है' यह निगमन है।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार की मान्यता है कि परार्थानुमान कराने के लिए हमें पाँच अवयवों अर्थात् वाक्यों से युक्त भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। जिसे दार्शनिक भाषा में पञ्चावयव वाक्य कहा जाता है। सर्वप्रथम ग्रन्थकार इन पाँचों वाक्यों के नाम का उल्लेख करते हैं। तत्पश्चात् सोदाहरण इनकी व्याख्या की गई है। तदनुसार–

(i) प्रतिज्ञा–पर्वत को धूम से युक्त देखकर जब कोई व्यक्ति कहता है कि यह पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्)। वस्तुतः यही वाक्य '**प्रतिज्ञा वाक्य**' है, जो पक्ष के साथ साध्य अग्नि के सम्बन्ध को परार्थानुमान में प्रथम बार कहता है। यद्यपि पर्वत में अग्नि की सिद्धि के बाद यही वाक्य निगमन भी बन जाता है। यह वाक्य वक्ता की ओर से श्रोता के लिए होता है।

(ii) हेतु–प्रतिज्ञा वाक्य की सिद्धि हेतु दी गई युक्ति अथवा कारण का कथन करना ही 'हेतु' है। जिसे श्रोता द्वारा जिज्ञासा व्यक्त करने पर वक्ता प्रयोग करता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रोता की जिज्ञासा का स्वरूप कुछ इसप्रकार रहता है–

श्रोता-यहाँ से पर्वत तो बहुत दूरी पर स्थित है तथा अग्नि हमें दिखायी भी नहीं दे रही है, तो फिर भला आपने कैसे जान लिया कि "यह पर्वत अग्नि वाला है"?

इसप्रकार श्रोता द्वारा जिज्ञासा करने पर वक्ता कहता है कि–

वक्ता–पर्वत के धूम वाला होने के कारण (धूमवत्त्वात्) मैंने जान लिया कि यह पर्वत अग्नि से युक्त है। यहाँ हेतु का प्रयोजन लिङ्ग धूम का ज्ञान कराना है।

श्रोता द्वारा फिर भी अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करने पर वक्ता उदाहरण द्वारा उसे समझाता है, जो पञ्चावयव का 'उदाहरण वाक्य' है।

(iii) उदाहरण–जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे-रसोई-घर में। (यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः, यथा-महानसे)। यहाँ श्रोता को धूम और अग्नि के नियमित साहचर्य रूप व्याप्ति को रसोईघर का उदाहरण देकर समझाया जाता है। वस्तुतः इस उदाहरण का प्रयोजन श्रोता को धूम और अग्नि के नियमपूर्वक साहचर्य अर्थात् व्याप्ति से परिचित कराना है।

(iv) उपनय–श्रोता द्वारा रसोईघर में धूम-अग्नि के साहचर्य रूप नियम को समझने के पश्चात् वक्ता पुनः पर्वत की ओर संकेत करते हुए कहता है कि ठीक उसी प्रकार "यह पर्वत भी धूम से युक्त है" (तथा चायम्) इसप्रकार यह उपनय ही हेतु 'धूम' की व्याप्तिस्मरणपूर्वक द्वितीय परामर्श भी कहलाता है।

(v) निगमन--इसप्रकार प्रस्तुति के बाद वक्ता अपने कथन की पुष्टि में प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग दृढ़ता के साथ इसप्रकार करता है–इसीलिए तो यह पर्वत अग्नि न दिखायी देते हुए भी "अग्नि वाला है" (तथा चायम्) पञ्चावयव वाक्य के अन्तिम स्तर पर वस्तुतः वक्ता का प्रतिज्ञा वाक्य सिद्ध हो जाता है। इसी कारण यहाँ इसे निगमन की संज्ञा प्रदान की गई है। इसे दूसरे शब्दों में स्थापना अथवा सिद्धि भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसी अन्तिम वाक्य द्वारा पर्वत में वह्नि की सिद्धि हुई है।

विशेष–(i) अनुमान प्रमाण में वस्तुतः ज्ञान की प्रक्रिया को अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया गया है।

(ii) नैयायिकों द्वारा परार्थानुमान प्रमाण को तार्किक शैली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

(iii) पाश्चात्य न्यायदर्शन और कुछ भारतीय दर्शनों में इन वाक्यों की संख्या केवल तीन प्रयुक्त हुई है।

(iv) यहाँ प्रयुक्त प्रतिज्ञा से अभिप्राय पक्ष-पर्वत में साध्य-अग्नि की घोषणा से है, क्योंकि इस वाक्य द्वारा वक्ता, श्रोता को समझाना चाहता है कि मेरा क्या कहना उद्देश्य है।

(v) हेतुवाक्य का प्रयोग हमेशा 'प्रतिज्ञा' के पश्चात् ही किया जाता है, जो प्रायः पञ्चमी विभक्ति द्वारा प्रदर्शित करते हैं। (धूमवत्त्वात्)

(vi) यहाँ हेतु और लिङ्ग में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर भी विद्यमान है, क्योंकि हेतु उस लिङ्ग का प्रतिपादक वाक्य है तथा लिङ्ग का हम हेतु-वाक्य में कथन करते हैं।

(vii) हेतु से प्रतिज्ञा की सिद्धि की सामर्थ्य एक प्रकार से उदाहरण वाक्य में होती है, जो वस्तुतः बार-बार देखने के कारण प्रामाणिकता लिए होता है।

(viii) प्रतिज्ञा को हेतु पर लागू करने का कार्य अर्थात् पर्वत में अग्नि विषयक शंका का समाधान उपनय वाक्य ही करता है।

(ix) निगमन का अभिप्राय है समर्थन, सिद्धि अथवा सम्बद्धता। इसीलिए

निगमन वाक्य सभी बातों को एक-दूसरे से सम्बद्ध करते हुए हमें परिणाम तक पहुँचा देता है।

(x) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-

(चित्र-48)

पञ्चावयव वाक्य

- प्रतिज्ञा (पर्वतः वह्निमान्)
- हेतु (धूमत्वात्)
- उदाहरण (यः यः धूमवान् सः सः अग्निमान् यथा महानसे)
- उपनय (तथा अयम्)
- निगमन (तस्मात् तथा)

अवतरणिका–अनुमान प्रमाण की व्याख्या के प्रसङ्ग में ही ग्रन्थकार अन्य नैयायिकों के समान ही 'लिङ्ग परामर्श को अनुमान' की संज्ञा प्रदान करते हुए उसके त्रिविध लिङ्गों-अन्वय-व्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवल-व्यतिरेकि की सोदाहरण व्याख्या करते हैं-

स्वाऽर्थानुमितिपराऽर्थाऽनुमित्योः किं करणम्, लिङ्गं त्रिविधम्,
अन्वयव्यतिरेकिलक्षणम्, केवलाऽन्वयिलक्षणम्,
केवलव्यतिरेकिलक्षणम् च–

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्ग-परामर्शोऽनुमानम्। लिङ्गं त्रिविधम्-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति।

(i) अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा-वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा-महानसम्' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा ह्रद' इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

(ii) अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा–घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

(iii) व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा-पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा-जलम्। न चेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद् गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

पदच्छेद–स्व-अर्थ-अनुमानम् इति पर-अर्थ-अनुमानमित्योः लिङ्ग परामर्शः एव कारणम् तस्मात् लिङ्गपरामर्शः अनुमानम्।

लिङ्गम् त्रिविधम्-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि च इति।

(i) अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत् अन्वयव्यतिरेकि। यथा-वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमः तत्र अग्निः, यथा-महानसः, इति अन्वय-व्याप्तिः। "यत्र वह्निः न अस्ति तत्र धूमः अपि न अस्ति, यथा ह्रदः, इति व्यतिरेक व्याप्तिः।"

(ii) अन्वयमात्र-व्याप्तिकम् केवलान्वयि। यथा-घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्। अत्र प्रमेयत्व-अभिधेयत्वयोः व्यतिरेकव्याप्तिः न अस्ति। सर्वस्य अपि प्रमेयत्वात् अभिधेयत्वात् च।

(iii) व्यतिरेक-मात्र-व्याप्तिमकम् केवलव्यतिरेकि। यथा-पृथिवी-इतरेभ्यः भिद्यते गन्धवत्त्वात्। यद् इतरेभ्यः न भिद्यते न तत् गन्धवत्, यथा-जलम्। न च इयम् तथा। तस्मात् न तथा इति। अत्र यत् गन्धवत् तत् इतरभिन्नम् इति अन्वय-दृष्टान्तः न अस्ति, पृथिवी-मात्रस्य पक्षत्वात्।

दीपिका–अनुमितिकरणमाह-स्वार्थेति। ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मता-ज्ञानाभ्यामेवानुमितिसम्भवे व्याप्तिविशिष्टलिङ्गपरामर्शः किमर्थमङ्गीकर्तव्य इति चेन्न; 'वह्निव्याप्यधूमवानयमि'ति शाब्दपरामर्शस्थले परामर्शस्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव कारणत्वात्। लिङ्गं न करणम्; अतीतानागतादौ व्यभिचारात्। 'व्यापारवत्कारणं करणमि'ति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। अनुमानमुपसंहरति–तस्मादिति।

लिङ्गं विभजते–लिङ्गमिति। अन्वयव्यतिरेकि लक्षयति–अन्वयेनेति। हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः, तदभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः।

केवलान्वयिनो लक्षणमाह–अन्वयेति। केवलान्वयिसाधकं लिङ्गं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। केवलान्वयिनमुदाहरति–यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति। ईश्वरप्रमाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभावः।

केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह–व्यतिरेकेति। केवलव्यतिरेकि उदाहरति-पृथिवीति। नन्वितरभेदः प्रसिद्धो वा न वा? आद्ये–यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वे अन्वयित्वम्, असत्त्वे असाधारण्यम्। द्वितीये–साध्यज्ञानाभावात् कथं तद्विशिष्टानुमितिः? विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात्। प्रतियोगिज्ञानाभावाद्व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यादिति चेन्न; जलादित्रयोदशान्योन्याभावानां त्रयोदशसु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते। तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदात्मकसाध्यस्यैकाधिकरणवृत्तित्वा-

भावात्रान्वयित्वासाधारण्ये। प्रत्येकाधिकरणप्रसिद्ध्या साध्यविशिष्टानुमितिः। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणं च-यदितरेति।

अनुवाद–स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति दोनों में लिङ्ग-परामर्श ही करण होता है, इसीलिए लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान है। लिङ्ग तीन प्रकार का होता है- अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवल व्यतिरेकि।

(i) अन्वय और व्यतिरेकि दोनों व्याप्तियों से युक्त लिङ्ग अन्वय-व्यतिरेकि होता है। जैसे-अग्नि के साध्य होने पर धूमत्व लिङ्ग। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है, जैसे–रसोईघर, यह अन्वय-व्याप्ति हुई। जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ धुआँ भी नहीं होता है। जैसे–तालाब, यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई।

(ii) अन्वयमात्र व्याप्ति वाला लिङ्ग केवलान्वयि होता है। जैसे-घट अभिधेय है, क्योंकि वह पट के समान प्रमेय है। यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेक-व्याप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि (संसार में) सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय होता है।

(iii) (इसीप्रकार) व्यतिरेकमात्र व्याप्ति से युक्त लिङ्ग केवल व्यतिरेकि होता है। जैसे–पृथिवी दूसरे (पदार्थों) से भिन्न होती है, क्योंकि वह गन्धवती है। जो दूसरे पदार्थों से भिन्न नहीं है, वह गन्ध से युक्त नहीं है, जैसे-जल। यह पृथिवी वैसी (गन्धरहित) नहीं है। इसलिए इतर पदार्थों के समान नहीं है। यहाँ जो गन्ध से युक्त है, वह दूसरे पदार्थों से भिन्न है, ऐसा अन्वय दृष्टान्त ही नहीं है, क्योंकि पृथिवी मात्र ही यहाँ पक्ष है।

चन्द्रिका–प्रस्तुत अंश में तर्कसंग्रहकार ने सर्वप्रथम अनुमान के दोनों भेदों स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति में लिङ्ग-परामर्श को ही असाधारण कारण बताया है। अत: स्पष्ट है कि पूर्व में केवल परामर्श को ही अनुमिति का कारण बताने के पश्चात् अपने ही कथन में परिवर्तन करके यहाँ दोनों प्रकार के अनुमान को लिङ्ग परामर्श कहा। इसका अभिप्राय यही है कि केवल लिङ्ग का दर्शन अनुमिति का करण नहीं है, अपितु 'लिङ्ग परामर्श' अर्थात् लिङ्ग का तृतीय दर्शन ही अनुमिति का करण है। यहाँ प्रयुक्त करण और लिङ्ग-परामर्श की व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि तर्कसंग्रहकार यहाँ तर्कभाषाकार का अनुकरण करते हैं। उनका मत है कि केवल व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मज्ञान द्वारा अनुमिति होना सम्भव नहीं है, यदि ऐसा होता तो फिर परामर्श को अलग से गिनवाने की आवश्यकता नहीं थी। हमने यहाँ लाघव की दृष्टि से ही लिङ्ग परामर्श को अनुमिति का कारण माना है।

तत्पश्चात् इस लिङ्ग के तीन भेदों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवल-व्यतिरेकि भेद से यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है। अनुमान की प्रक्रिया में लिङ्ग वस्तुत: वह चिह्न, पहचान अथवा विशेषता होती है, जिसे देखकर किसी वस्तु को पहचाना जा सकता है। जब हम पर्वत में अग्नि का अनुमान करते हैं, तो वहाँ धुआँ अग्नि का हेतु, कारण अथवा लिङ्ग होता है। इसीप्रकार जब हम किसी व्यक्ति के मस्तक पर तिलक देखकर उसके ब्राह्मण होने का अनुमान कर लेते हैं, तो यहाँ ब्राह्मणत्व का लिङ्ग चिह्न 'तिलक' होगा।

लिङ्ग का व्युत्पत्तिपरक अर्थ-"लीनं परोक्षं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्" होगा, अर्थात् जो लीन अर्थ का, अप्रत्यक्ष अर्थ का भी बोध करा दे वही लिङ्ग है। लिङ्ग का सामान्य अर्थ 'चिह्न' ही ग्रहण किया जाता है। अनुमान की प्रक्रिया में इसका अत्यधिक महत्त्व होता है, क्योंकि लिङ्ग के शुद्ध होने की स्थिति में ही अनुमिति रूप ज्ञान की शुद्धता सम्भव होती है। ग्रन्थकार ने इसके तीन भेद किए हैं, जिनका यहाँ क्रमश: उल्लेख कर रहे हैं-

(i) अन्वय-व्यतिरेकि-हेतु और साध्य की व्याप्ति 'अन्वय' होती है, जबकि इन दोनों के अभाव की व्याप्ति 'व्यतिरेक' कहलाती है। इसीलिए व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति के व्याप्य-व्यापक के क्रम में परिवर्तन हो जाता है। जैसे-यत्र-यत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि:, यथा महानसे अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे-रसोईघर में। यहाँ हेतु-धूम और साध्य-अग्नि की व्याप्ति होने के कारण 'अन्वय-व्याप्ति' कही जाएगी।

इसीप्रकार "यत्र अग्नि: नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदे" अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे जलाशय इत्यादि उदाहरण में हेतु और साध्य के अभाव की व्याप्ति होने के कारण 'व्यतिरेक व्याप्ति,' मानी जाएगी। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि यहाँ साध्य अग्नि का प्रथम वाक्य में तथा धूम हेतु का द्वितीय वाक्य में प्रयोग किया गया है, जबकि 'अन्वय व्याप्ति' में यह क्रम उल्टा प्रयुक्त हुआ है।

अत: जिन स्थलों पर प्रयुक्त हेतु में इन दोनों व्याप्तियों की स्थिति बनती है, वह 'अन्वय-व्यतिरेकि' हेतु नामक लिङ्ग का प्रथम भेद होता है। अत: वह्नि के साध्य होने पर धूमवत्त्व 'अन्वय-व्यतिरेकि' लिङ्ग माना जाएगा।

(ii) केवलान्वयि-जिस हेतु में केवल अन्वय की ही व्याप्ति बनती हो, व्यतिरेक व्याप्ति सम्भव न हो सके वह 'केवलान्वयि' हेतु कहलाता है। जैसे-घट

अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है, जिसप्रकार घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात्, घटवत्। यहाँ केवल अन्वय-व्याप्ति की ही स्थिति सिद्ध होती है। व्यतिरेक व्याप्ति यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार के पदार्थों के प्रमेय होने के कारण व्यतिरेक व्याप्ति का कोई उदाहरण ही उपलब्ध नहीं है। इसप्रकार केवलान्वयि साध्य का अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं होता है। उपर्युक्त उदाहरण में अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है।

(iii) केवल व्यतिरेकि– जिस लिङ्ग में केवल व्यतिरेक-व्याप्ति ही सम्भव हो, अन्वय-व्याप्ति न बन सकती हो, 'केवल व्यतिरेकि' हेतु (लिङ्ग) कहलाता है। इसका उदाहरण ग्रन्थकार ने पृथिवी को इतर पदार्थों से भिन्न सिद्ध करते हुए उसका गन्धवती होना दिया है अर्थात् पृथिवी इतर पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि वह गन्धवती है, "पृथिवी इतरेभ्य: भिद्यते गन्धवत्वात्" जो इतर से भिन्न नहीं है, वह गन्धवती नहीं है, जैसे–जल (यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा-जलम्)।

यहाँ पृथिवी मात्र के 'पक्ष' होने के कारण अन्वय-व्याप्ति सम्भव नहीं है। अत: केवलव्यतिरेकि हेतु की श्रेणी में आता है, क्योंकि जिस हेतु (लिङ्ग) का अपने साध्य के साथ केवल व्यतिरेक सम्बन्ध ही सम्भव हो सके, अन्वयव्याप्ति का उदाहरण न हो वह लिङ्ग केवल-व्यतिरेकि होता है, क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण में "यत्र-यत्र गन्धवत्वं तत्र पृथिवीतर भेद:" अन्वयव्याप्तियुक्त कथन सम्भव नहीं है। वस्तुत: यहाँ गन्धवान् सभी पदार्थ पृथिवीत्व में ही आ जाते हैं।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में निर्णयात्मक रूप से लिङ्ग परामर्श को ही अनुमान कहा गया है।

(ii) साथ ही यहाँ प्रयुक्त लिङ्ग के केवल विधिपरक (अन्वयी), केवल निषेधपरक (व्यतिरेकी) तथा दोनों प्रकार के (अन्वय-व्यतिरेकि) भेदों का कथन करके कुल तीन प्रकार किए हैं।

(iii) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने अनुमान प्रक्रिया में प्रयुक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व लिङ्ग के तीनों भेदों की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की है।

(iv) अनुमान की प्रक्रिया में लिङ्ग एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अनुमान की शुद्धि के लिए लिङ्ग का शुद्ध होना अत्यावश्यक है।

(v) तर्कभाषाकार ने व्याप्ति के बल से अर्थ के ज्ञापक को लिङ्ग कहा है– "व्याप्तिबलेन अर्थगमकम् लिङ्गम्"।

(vi) अन्वय-व्यतिरेक भेद से व्याप्ति दो प्रकार की होती है। जहाँ दोनों प्रकार की व्याप्ति बनती है, वह अन्वय-व्यतिरेकि हेतु कहलाता है।

(vii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-49)

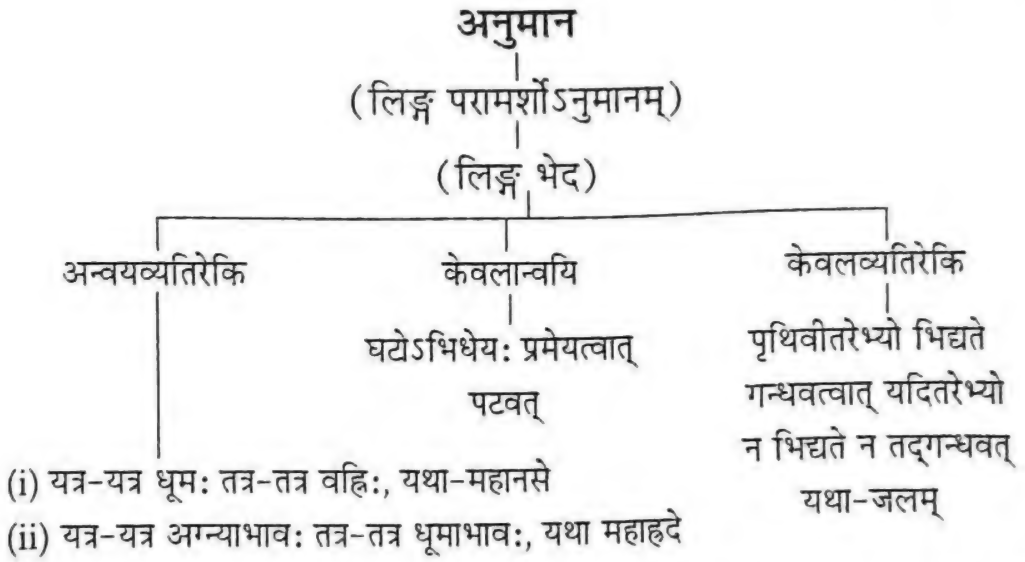

अवतरणिका–अनुमान प्रकरण में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष इन शब्दों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इसलिए ग्रन्थकार इन्हें सोदाहरण स्पष्ट करते हैं–

पक्षलक्षणम्, सपक्षलक्षणम्, विपक्षस्य लक्षणम् च–

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा-धूमवत्वे हेतौ पर्वतः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा-तत्रैव महानसम्। निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। यथा-तत्रैव महाह्रदः।

पदच्छेद–स्पष्टमेव।

दीपिका–पक्षलक्षणमाह–सन्दिग्धेति। ननु श्रवणानन्तरभाविमननस्थले अव्याप्तिः, तत्र वेदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन सन्देहाभावात्। किञ्च प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यत्रेच्छयानुमितिस्तत्राप्यव्याप्तिरिति चेन्न; उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात्।

सपक्षलक्षणमाह–निश्चितेति।

विपक्षलक्षणमाह–निश्चितेति।

अनुवाद–सन्दिग्ध साध्य वाला 'पक्ष' होता है। जैसे-धूमवत्त्व हेतु में पर्वत पक्ष है। निश्चित साध्य वाला 'सपक्ष' होता है। जैसे-रसोईघर। साध्य के निश्चित अभाव वाला 'विपक्ष' होता है। जैसे-वहीं जलाशय।

चन्द्रिका–हेत्वाभास की भेदों सहित व्याख्या से पहले ग्रन्थकार यहाँ प्रयुक्त होने वाले पक्ष, सपक्ष और विपक्ष को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं, क्योंकि आगे आने वाले हेत्वाभास प्रकरण में हेतु दुष्टता इन्हीं तीनों पर आधारित है। ग्रन्थकार के अनुसार–

(i) पक्ष–जिसमें साध्य संदिग्ध होता है, वह पक्ष है। जैसे-धूमवत्त्व हेतु के सम्बन्ध में 'पर्वत' ही पक्ष है, क्योंकि दूरी होने के कारण धुआँ उठता हुआ देखने पर व्यक्ति को 'अग्नि' रूप साध्य का यहाँ सन्देह होता है।

(ii) सपक्ष–जिसमें साध्य की निश्चितरूप से स्थिति हो, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे-अग्नि को सिद्ध करने के लिए धूम हेतु के प्रसङ्ग में उदाहरण रूप में प्रस्तुत रसोईघर सपक्ष कहा जाएगा, क्योंकि रसोईघर में जब-जब हम धुआँ उठता हुआ देखते हैं, तो वहाँ उस-उस क्षण में निश्चित रूप से अग्नि विद्यमान रहती है। इसलिए रसोईघर में साध्य अग्नि का निश्चित रूप से स्थित होना सिद्ध होता है।

(iii) विपक्ष–इसीप्रकार जिस स्थल पर साध्य का निश्चित रूप से अभाव होता है, वह न्यायदर्शन की भाषा में 'विपक्ष' माना जाएगा। जैसे-पर्वत में अग्नि को सिद्ध करने के प्रसङ्ग में तालाब आदि विपक्ष होंगे, क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से तालाब में कभी भी अग्नि की उपस्थिति नहीं देखी जाती है, अर्थात् जलाशय सदैव साध्य अग्नि के अभाव वाला ही होता है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने दार्शनिक दृष्टि से पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीन पारिभाषिक शब्दों की अत्यन्त संक्षिप्त एवं सरल व्याख्या उदाहरणपूर्वक प्रस्तुत की है।

(ii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को चित्रात्मक शैली में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

चित्र-50

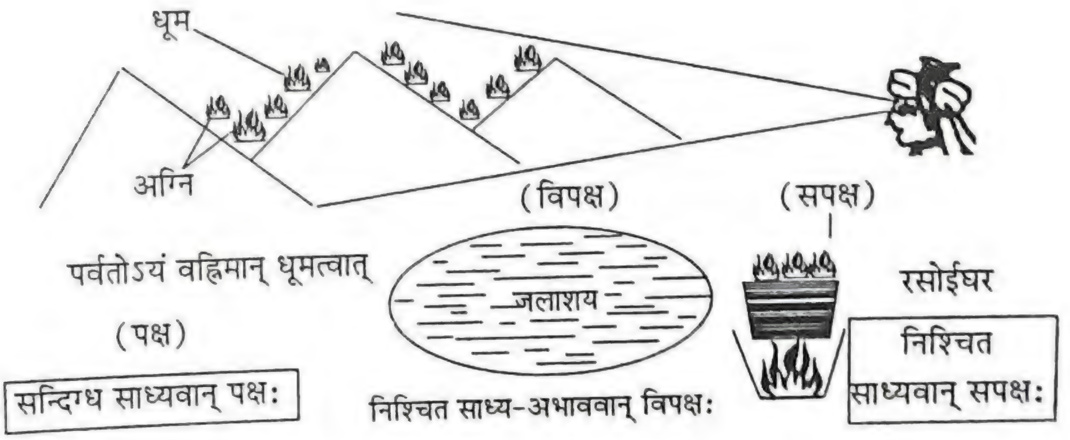

अवतरणिका–अनुमान की प्रक्रिया में 'हेतु' का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि अनुमान का आधार ही 'हेतु' होता है। हेतु के 'सद्' होने पर ही शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत 'असद्' हेतु से प्राप्त अनुमिति ज्ञान निश्चय ही अशुद्ध होता है। असद् हेतु को न्यायवैशेषिकदर्शन की भाषा में हेत्वाभास की संज्ञा प्रदान की गई है। हेतु के पूर्ण ज्ञान के लिए हेत्वाभास का ज्ञान अत्यावश्यक है। इसीलिए न्यायदर्शन में इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। अत: तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट पक्ष, सपक्ष और विपक्ष को स्पष्ट करने के पश्चात् हेत्वाभास के पाँच भेदों की उपभेद सहित उदाहरणपूर्वक प्रस्तुति करते हैं–

हेत्वाभासाः के ?, कतिविधाश्च ते ?, सव्यभिचारस्य लक्षणं भेदाश्च, साधारणस्य लक्षणमुदाहरणं च, असाधारणस्य लक्षणमुदाहरणं च, अनुपसंहारिणो लक्षणमुदाहरणं च–

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः–साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा-पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वादिति। अत्र प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा-शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्तिः। अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा-सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

पदच्छेद–सव्यभिचार-विरुद्ध-सत्प्रतिपक्ष-असिद्ध-बाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः। (1) सव्यभिचारः अनैकान्तिकः। सः त्रिविधः साधारण-असाधारण-अनुपसंहारी भेदात्।

(क) तत्र साध्य-अभाववद् वृत्तिः साधारणः अनैकान्तिकः। यथा-पर्वतः वह्निमान् प्रमेयत्वात् इति। प्रमेयत्वस्य वह्नि-अभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

(ख) सर्व-सपक्ष-विपक्ष-व्यावृत्तः पक्षमात्र-वृत्तिः असाधारणः। यथा-शब्द नित्यः शब्दत्वात् इति। शब्दत्वम् हि सर्वेभ्यः नित्येभ्यः अनित्येभ्यः च व्यावृत्तम् शब्दमात्र-वृत्तिः।

(ग) अन्वय-व्यतिरेक-दृष्टान्तरहितः अनुपसंहारी। यथा-सर्वम् अनित्यम् प्रमेयत्वात् इति। अत्र सर्वस्य अपि पक्षत्वात् दृष्टान्तः न अस्ति।

दीपिका—एवं सद्धेतून्निरूप्यासद्धेतून् (हेत्वाभासान्) निरूपयितुं विभजते-सव्यभिचारेति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्। सव्यभिचारं विभजते-स त्रिविध इति। साधारणं लक्षयति-तत्रेति। उदाहरति-यथेति। असाधारणं लक्षयति-सर्वेति। अनुपसंहारिणो लक्षणमाह-अन्वयेति।

अनुवाद—हेत्वाभास पाँच होते हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

इनमें जो सव्यभिचारी अनैकान्तिक हेत्वाभास है, (वह) साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी भेद से तीन प्रकार का होता है।

(क) उनमें भी साध्य के अभाव में भी विद्यमान रहने वाला हेतु 'साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास' होता है। जैसे-(यह) पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि यह प्रमेय है। जबकि यह प्रमेयत्व अग्नि के अभाव वाले स्थान जलाशय में भी विद्यमान रहता है।

(ख) (इसीप्रकार जो हेतु) सभी सपक्ष एवं विपक्ष को छोड़कर केवल पक्ष में विद्यमान रहता है, वह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। जैसे-शब्द नित्य है, शब्दत्व के कारण। वस्तुतः शब्दत्व सभी नित्य, अनित्य दोनों में ही न रहकर केवल शब्द में विद्यमान रहता है।

(ग) (इसके अतिरिक्त) अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति-युक्त दृष्टान्त से रहित अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। जैसे-सभी कुछ अनित्य है, प्रमेयत्व के कारण। यहाँ सभी का पक्ष होने के कारण कोई दृष्टान्त ही नहीं है।

चन्द्रिका—वस्तुतः अनुमान की प्रक्रिया में जो हेतु असद् होते हुए भी हेतु के समान प्रतीत होता है। उसे न्यायदर्शन की भाषा में हेत्वाभास कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो वस्तुतः हेतु नहीं होता, किन्तु हेतु के समान भासित होता है, उसे हेत्वाभास कहा जाता है। इस दृष्टि से इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं-

(i) आभासते इत्याभासः, हेतोराभासः हेत्वाभासः। अथवा

(ii) हेतुवद् आभासते, इति हेत्वाभासः।

सद् हेतु की पक्ष और सपक्ष में स्थिति (वृत्ति) और विपक्ष में व्यावृत्ति अर्थात् अभाव रहता है, किन्तु जो हेतु इस आवश्यक नियम की स्थिति में से किसी एक से भी हीन होता है तथा कोई हेतु धर्मों के योग से हेतु के समान आभासित होता है, वह हेत्वाभास कहलाता है। यहाँ ग्रन्थकर ने इसकी परिभाषा अथवा व्याख्या न करके सीधे ही इसके पाँच भेदों का उल्लेख किया है। तदनुसार-हेत्वाभास सव्यभिचार,

विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित भेद से कुल पाँच प्रकार के होते हैं। जिनमें प्रथम को स्पष्ट करते हैं। व्यभिचार का अर्थ है–नियम का उल्लंघन। अत: सव्यभिचार का अर्थ है नियम के उल्लंघन सहित। अर्थात् जब हेतु साध्य के अभाव के साथ भी रहता है, तो वहाँ नियम में दोष होने से सव्यभिचार कहा जाएगा। इसी को अनैकान्तिक भी कहते हैं। तत्पश्चात् तर्कसंग्रहकार इनमें से प्रथम सव्याभिचार अनैकान्तिक हेत्वाभास के साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी भेदों का सोदाहरण उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार–

(क) साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास–जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि सद् हेतु के अन्तर्गत पक्ष में सत्ता, सपक्ष में सत्ता और विपक्ष में व्यावृत्ति अर्थात् अभाव, ये तीन रूप अनिवार्यरूप से होते हैं, किन्तु जब यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में विद्यमान होता है, तो यह सद् हेतु न होकर असद् हेतु अथवा हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होता है, क्योंकि इस स्थिति में साध्य और साध्य का अभाव दोनों ही सिद्ध होते हैं। इसीलिए इसे साधारण सव्यभिचारी हेत्वाभास भी कहा जाता है।

जैसे–यदि कोई कहे कि–"पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्"। अर्थात् यह पर्वत अग्नि वाला है, ज्ञान का विषय होने के कारण (प्रमेयत्वात्)। इस अनुमान वाक्य में पर्वत को अग्नियुक्त सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व को हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो पक्ष पर्वत, सपक्ष–रसोईघर तथा विपक्ष–जलाशय, तीनों में ही समान रूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि सरोवर भी प्रमा अर्थात् ज्ञान का कारण होता है।

(ख) असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास–यह हेत्वाभास केवल पक्ष में ही विद्यमान रहता है। इस कारण इस हेतु की सपक्ष में सत्ता भी नहीं होती है, जबकि सद् हेतु का 'सपक्ष' में रहना अनिवार्य होता है। सामान्यरूप में कोई भी सद् हेतु विपक्ष में विद्यमान नहीं रहता है, किन्तु असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास की विशेषता होती है कि यह 'सपक्ष' में भी नहीं रहता है। दूसरे शब्दों में इस हेत्वाभास में अव्याप्ति दोष होता है, क्योंकि इसे जहाँ व्याप्त होना चाहिए, उस सपक्ष में भी व्याप्त नहीं होता है।

जैसे–कोई कहे कि शब्द नित्य होता है, क्योंकि उसमें शब्दत्व विद्यमान रहता है (शब्दो नित्य: शब्दत्वादिति)। यहाँ 'पक्ष' शब्द में नित्यता की सिद्धि अपेक्षित है, दूसरे शब्दों में नित्यता यहाँ साध्य है तथा शब्दत्व हेतु है और वह अपने 'सपक्ष' आकाश में विद्यमान न होने के कारण व्यभिचारयुक्त है, क्योंकि शब्दत्व जाति आकाश में स्थित नहीं रहती है, इसलिए केवल 'पक्ष' में रहने के कारण इसे असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास की श्रेणी में रखा गया है।

(ग) अनुपसंहारी–जहाँ 'पक्ष' से भिन्न सपक्ष और विपक्ष का उदाहरण ही उपलब्ध नहीं होता है, वहाँ यह हेत्वाभास होता है, क्योंकि इस हेतु द्वारा कोई निष्कर्ष अर्थात् उपसंहार प्राप्त नहीं किया जा सकता है, इसीलिए इसे अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास की संज्ञा प्रदान की गई है। इस दृष्टि से अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही दृष्टान्तों का अभाव भी रहता है, इसलिए विद्वानों ने इसकी "अन्वय व्यतिरेक-दृष्टान्त-रहितोऽनुपसंहारी" परिभाषा भी प्रस्तुत की है।

जैसे–"सर्वमनित्यम्, प्रमेयत्वात्"। सभी कुछ अनित्य होता है, प्रमेय होने के कारण। यहाँ प्रस्तुत पक्ष 'सर्वम्' के सर्वव्यापक होने के कारण 'सपक्ष' और 'विपक्ष' की सत्ता की कोई सम्भावना नहीं है। अतः अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने यहाँ हेत्वाभास को परिभाषित न करके सीधे ही उसके पाँच भेदों का उल्लेख किया है।

(ii) प्रस्तुत अंश में हेत्वाभास के पाँच भेदों में से प्रथम सव्यभिचार नामक भेद के पुनः तीन उपभेद–साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी की उदाहरणपूर्वक व्याख्या की है।

(iii) सव्यभिचार हेत्वाभास उपभेदों का मुख्य आधार पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में हेतु की स्थिति रहा है। जिसे हम इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(क) साधारण – हेतु की पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में विद्यमानता।

(ख) असाधारण – हेतु की केवल पक्ष में सत्ता, सपक्ष, विपक्ष में अभाव।

(ग) अनुपसंहारी – पक्ष से भिन्न सपक्ष, विपक्ष के उदाहरण की अनुपलब्धता।

(iv) हेत्वाभास का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि–"जो केवल हेतु जैसा प्रतीत हो, किन्तु हेतु न हो (हेतोः आभासः सदृशः स्यात्-हेत्वाभासः)। अतः जो हेतु दुष्ट (दोषयुक्त) होता है, वही हेत्वाभास कहलाता है।"

(v) वस्तुतः ग्रन्थकार ने हेत्वाभास प्रकरण में हेतु के दोषों का ही विविध प्रकार से परिगणन किया है। दुष्ट हेतु के प्रकारों का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि एक ही हेतु में उक्त पाँच दोषों में से एक से अधिक दोष भी सम्भव है।

(vi) हेत्वाभास की संख्या के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। गौतम के अनुयायी नैयायिकों तथा तर्कसंग्रहकार ने इनकी पाँच संख्या ही स्वीकार की है।

(vii) वैशेषिकों ने सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध तीन ही हेत्वाभासों को

मान्यता प्रदान की है, वे सत्प्रतिपक्ष और बाधित नाम हेत्वाभासों को क्रमशः आश्रय-असिद्ध तथा सव्यभिचार के अन्तर्गत मान लेते हैं।

(viii) वस्तुतः हेत्वाभासों के उल्लेख का उद्देश्य यह भी है कि हेतु-दोषों को जानने के बाद दुष्ट हेतु की पहचान सरल हो जाती है।

(ix) सव्यभिचार का ही अन्य नाम अनैकान्तिक भी है।

(x) इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है कि सामान्यरूप से देखने पर साधारण और असाधारण, अनैकान्तिक हेत्वाभास, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि हेतुओं के समान प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों में पर्याप्त भेद हैं, क्योंकि-

(क) केवलान्वयि में हेतु साध्य में व्याप्त रहता है। जैसे-पर्वतोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। जबकि साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास में ऐसा नहीं होता है। जैसे-पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्।

(ख) इसीप्रकार केवलव्यतिरेकि में साध्य और हेतु व्याप्त होते हैं, किन्तु असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास में ऐसा नहीं होता है। जैसे-पृथिवी इतरेभ्यः भिद्यते पृथिवीत्वात्, केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है, जबकि 'पृथिवी नित्या पृथिवीत्वात्' असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण होगा।

(xi) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-51)

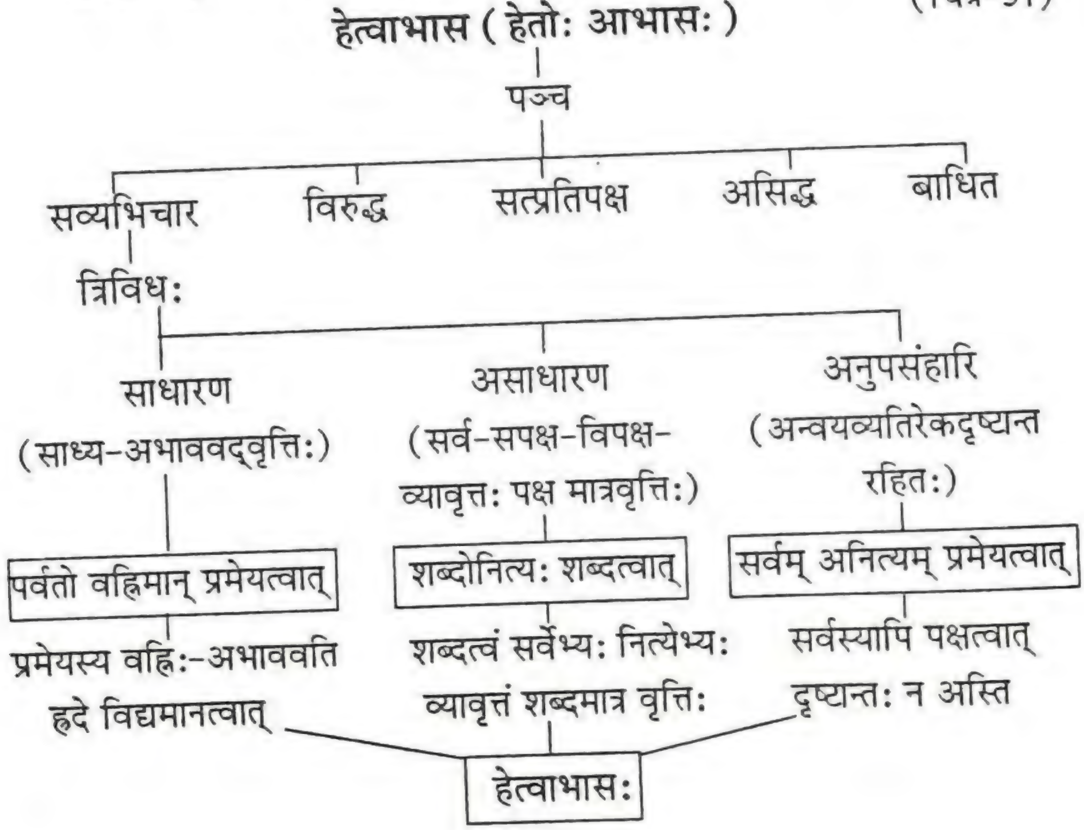

अवतरणिका–सव्यभिचार हेत्वाभास की सोदाहरण व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार द्वितीय 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

विरुद्धस्य लक्षणमुदाहरणं च–

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा-शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

पदच्छेद–साध्य-अभाव-व्याप्तः हेतुः विरुद्धः (भवति)। यथा-शब्दः नित्यः कृतकत्वात् इति। कृतकत्वम् हि नित्यत्व-अभावेन अनित्यत्वेन व्याप्तम्।

दीपिका–विरुद्धं लक्षयति–साध्येति।

अनुवाद–साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु 'विरुद्ध हेत्वाभास' (होता) है। जैसे-शब्द नित्य है, कार्य होने। यहाँ कृतकत्व, नित्यत्व के अभाव रूप 'अनित्यत्व' से व्याप्त है।

चन्द्रिका–जब साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया कोई हेतु साध्य के अभाव को ही सिद्ध करता है, तो उस स्थिति में वह 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहलाता है। इसप्रकार साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास की कोटि में आता है। जैसे-शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक अर्थात् जन्य है (शब्दः नित्यः कृतकत्वात्) प्रस्तुत उदाहरण में कृतकत्व हेतु साध्यरूप नित्यत्व के अभाव रूप अनित्यत्व से व्याप्त है, क्योंकि जो कृतक अर्थात् जन्य होता है वह तो अनित्य होता है, नित्य नहीं। इसलिए यहाँ कृतकत्व सद् हेतु न होकर 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास की श्रेणी में परिगणित होगा।

वस्तुतः यहाँ शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिए उसका 'कार्य होना' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है। इसलिए यहाँ नित्यत्व साध्य होगा और कृतकत्व हेतु कहा जाएगा और कृतक का अभिप्राय है कार्य। सामान्य रूप से व्याप्ति यह बनती है कि जो कृतक अर्थात् कार्य होता है, वह अनित्य होता है तथा अनित्य का अर्थ है नित्यत्व का अभाव, जिसे हम प्रस्तुत उदाहरण के प्रसङ्ग में साध्य का अभाव भी कह सकते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यहाँ प्रस्तुत हेतु साध्य के अभाव से व्याप्त होने के कारण 'विरुद्ध' हेत्वाभास है।

विशेष–(i) पाँच हेत्वाभासों में द्वितीय स्थान पर परिगणित 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास की उदाहरणपूर्वक प्रस्तुति की गयी है।

(ii) तर्कभाषाकार ने विरुद्ध हेत्वाभास की परिभाषा "साध्य-विपर्यय-व्याप्तः" प्रस्तुत की है। अर्थ की दृष्टि से दोनों परिभाषाएँ समान ही हैं।

(iii) न्यायसूत्र (1/2/6) की दृष्टि से विरुद्ध नामक इस हेत्वाभास के द्वारा तो जो बात हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसके विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।

(iv) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-52)

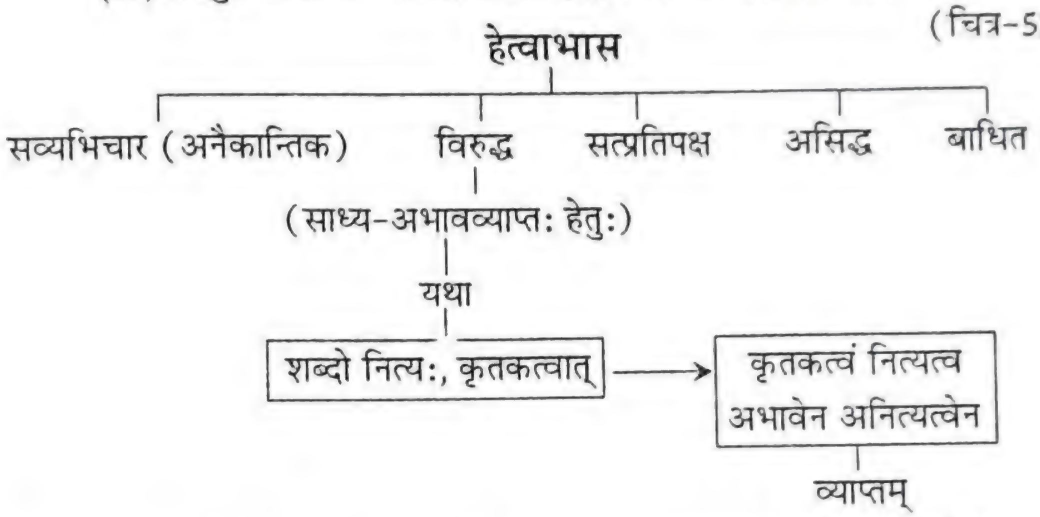

अवतरणिका–विरुद्ध नामक द्वितीय हेत्वाभास की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'सत्प्रतिपक्ष' नामक तृतीय हेत्वाभास की सोदाहरण व्याख्या करते हुए कहते हैं–

सत्प्रतिपक्षस्य लक्षणमुदाहरणं च–

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा-शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दवत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवदिति।

पदच्छेद–यस्य साध्य-अभाव-साधकम् हेतु-अनन्तरम् विद्यते, सः सत्प्रतिपक्षः। यथा-शब्दः नित्यः श्रावणत्वात् शब्दवत्। शब्दः अनित्यः कार्यत्वात् घटवत् इति।

दीपिका–सत्प्रतिपक्षं लक्षयति–यस्येति।

अनुवाद–जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु होता है, वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होता है। जैसे-शब्द नित्य है श्रावणत्व के कारण, शब्द के समान। शब्द अनित्य है कार्य होने से घट के समान।

चन्द्रिका–आचार्य गौतम ने इस हेत्वाभास को 'प्रकरणसम' नाम से भी कहा है। वस्तुतः एक हेतु के विरोधी दूसरे हेतु की उपस्थिति ही सत्प्रतिपक्ष है। इसकी

उपस्थिति में पूर्व में प्रस्तुत हेतु द्वारा सिद्ध वाक्य का स्वतः ही खण्डन हो जाता है, क्योंकि एक हेतु के विरोधी रूप में दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। अपने कथ्य की पुष्टि में ग्रन्थकार ने दो वाक्यों को प्रस्तुत किया है–

(i) शब्दः नित्यः श्रावणत्वात्-शब्दवत्।

(ii) शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्-घटवत्।

स्पष्ट है कि यहाँ प्रस्तुत दोनों ही वाक्यों में एकमात्र शब्द ही पक्ष है तथा प्रथम वाक्य में नित्यता और दूसरे में अनित्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अतः पहले वाक्य में साध्य नित्यता है तो दूसरे में साध्य अनित्यता है। इसके अतिरिक्त पहले वाक्य में नित्यता को सिद्ध करने में हेतु रूप में उसका श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाना (श्रावणत्वात्) प्रस्तुत किया गया है।

जबकि दूसरे वाक्य में शब्द में अनित्यता को सिद्ध करने के लिए उसका कार्य होना हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये दोनों एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, क्योंकि एक उसकी नित्यता को सिद्ध करता है तो दूसरा उसकी अनित्यता को। इस कारण प्रथम और द्वितीय दोनों ही वाक्यों में दिए हुए हेतु सत्प्रतिपक्ष अथवा प्रकरण सम हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होंगे।

विशेष–(i) इस हेत्वाभास की सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि यहाँ साध्य के विपरीत अर्थात् उसके अभाव को सिद्ध करने वाला, समान बल वाला दूसरा हेतु भी विद्यमान रहता है।

(ii) प्रकरण का अर्थ है–निर्णय तथा सम का अर्थ है-समान। अर्थात् जहाँ समान बल वाला निर्णय होता है। वही प्रकरण सम हेत्वाभास है। सम्भवतः इसी अभिप्राय को दृष्टिगत रखते हुए गौतम ने इस हेत्वाभास का नाम 'प्रकरणसम' रखा है।

(iii) आचार्य वात्स्यायन ने इस हेत्वाभास की व्याख्या–"जहाँ निर्णय ही न किया जा सके" (प्रकरणमनतिवर्तमानः) कहकर की है।

(iv) वस्तुतः हेत्वाभास के इस भेद में दो परस्पर विरोधी अनुमानों में दो हेतु होते हैं तथा दोनों ही तुल्य बल वाले होते हुए एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। यही कारण है कि यहाँ निर्णय में बाधा उत्पन्न होती है।

(v) उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में क्रमशः श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाना और कार्यरूप होना, दोनों ही परस्पर प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी हैं, क्योंकि यहाँ प्रथम नित्यता को तो द्वितीय अनित्यता को सिद्ध करने वाला है।

(vi) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

(चित्र-53)

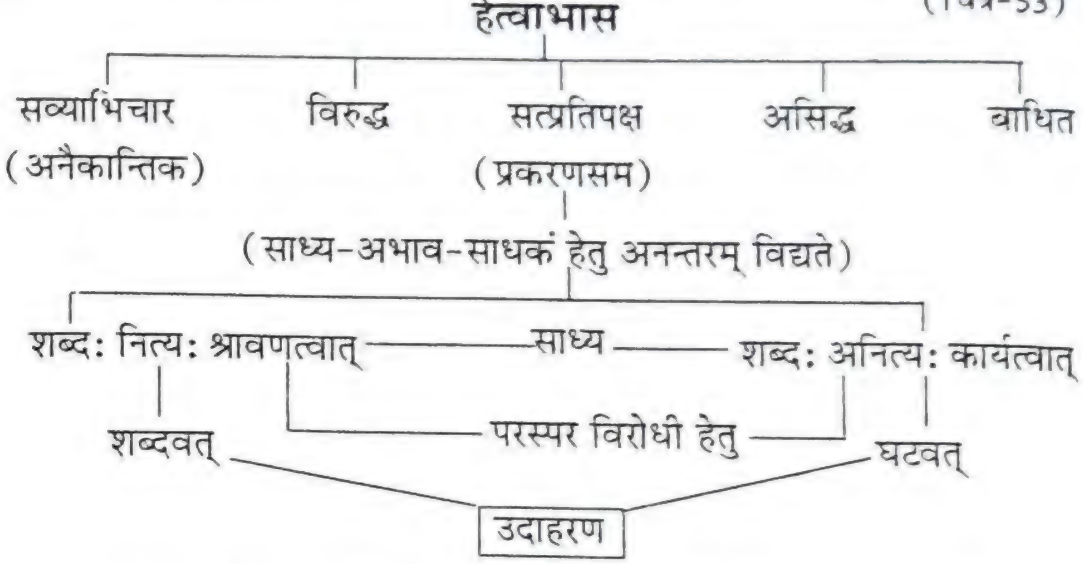

अवतरणिका–हेत्वाभासों के प्रथम तीन भेदों की सोदाहरण व्याख्या करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार 'असिद्ध' नामक चतुर्थ हेत्वाभास को उसके भेद सहित स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

असिद्धस्य त्रैविध्यम्, आश्रयाऽसिद्धस्योदाहरणम्,
स्वरूपाऽसिद्धस्योदाहरणम्, व्याप्यत्वाऽसिद्धस्य
लक्षणमुपाधिरूपं च किम्–

असिद्धस्त्रिविधः–आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

(क) आश्रयासिद्धो यथा-गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

(ख) स्वरूपासिद्धो यथा-शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

(ग) सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि–यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

पदच्छेद—असिद्धः त्रिविधः-आश्रय-असिद्धः स्वरूप-असिद्धः, व्याप्यत्व-असिद्धः च इति।

(क) आश्रय-असिद्धः, यथा-गगन-अरविन्दम् सुरभिः अरविन्दत्वात् सरोज-अरविन्दवत्। अत्र गगन-अरविन्दम् आश्रयः सः च न अस्ति एव।

(ख) स्वरूप-असिद्धः, यथा-शब्दः गुणः चाक्षुपत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वम् शब्दे न अस्ति, शब्दस्य श्रावणत्वात्।

(ग) स-उपाधिकः हेतुः व्याप्यत्व-असिद्धः। साध्य-व्यापकत्वे सति साधन-अव्यापकत्वम् उपाधित्वम्। साध्य-समान-अधिकरण-अत्यन्त-अभाव-अप्रतियोगित्वम् साध्य-व्यापकत्वम्। साधनवत् निष्ठा-अत्यन्त अभाव-प्रतियोगित्वम् साधन-अव्यापकत्वम्। 'पर्वतः धूमवान् वह्निमत्वात्' इति, अत्र आर्द्र-ईंधन-संयोगः उपाधिः।

तथाहि यत्र धूमः तत्र आर्द्र-ईंधन-संयोगः न अस्ति, अयः गोलकः आर्द्र-ईंधन-संयोग-अभावात् इति, साधन-अव्यापकता एवम् साध्य-व्यापकत्वे सति साधन-अव्यापकत्व आर्द्र-ईंधन-संयोगः उपाधिः। स-उपाधिकत्वात् वह्निमत्त्वम् व्याप्यत्व असिद्धम्।

दीपिका—असिद्धं विभजते-असिद्ध इति।

आश्रयासिद्धमुदाहरति—गगनेति।

स्वरूपासिद्धमुदाहरति—शब्देति।

व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह—सोपाधिक इति। उपाधेर्लक्षणमाह—साध्येति। उपाधिश्चतुर्विधः—केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्न-साध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्यः—आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा—वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्व-व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा—प्रध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थो यथा-प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्।

अनुवाद—असिद्ध (नामक हेत्वाभास) तीन प्रकार का होता है-(क) आश्रय असिद्ध, (ख) स्वरूप असिद्ध तथा (ग) व्याप्यत्व असिद्ध।

(क) आश्रय असिद्ध (हेत्वाभास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं)। जैसे-

आकाश-कमल सुगन्धित होता है, कमल होने के कारण, सरोवर में उत्पन्न कमल के समान। यहाँ आकाशकमल का जो आश्रय है, वह वस्तुतः होता ही नहीं है।

(ख) (पुनः) स्वरूप असिद्ध (को कहते हैं-) यथा-शब्द गुण है, दिखायी देने के कारण, रूप के समान। यहाँ चाक्षुषत्व शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द का तो श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है।

(ग) (इसके अतिरिक्त) उपाधि से युक्त हेतु व्याप्यत्व-असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। साध्य के व्यापक होने पर साधन का अव्यापक पदार्थ उपाधि होता है। (इसीप्रकार) साध्य के समान अधिकरण में विद्यमान अभाव का जो प्रतियोगी नहीं होता, वह साध्य व्यापक होता है। (साथ ही) साधन से युक्त में स्थित अत्यन्त-अभाव का प्रतियोगी होना ही साधन-अव्यापकता होती है। जैसे-पर्वत धूमवान् है, वह्नियुक्त होने के कारण। यहाँ गीले ईंधन का संयोग उपाधि है।

क्योंकि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ गीले ईंधन का संयोग है, यह साध्य-व्यापकता है तथा जहाँ केवल अग्नि है, वहाँ आर्द्र ईंधन का संयोग नहीं है। जैसे-अग्नि से तप्त लोहे का गोला। आर्द्र ईंधन के संयोग के अभाव के कारण यहाँ साधन अव्यापकता है। इसप्रकार साध्य के व्यापक होने पर साधन के अव्यापक होने के कारण गीले ईंधन का संयोग ही उपाधि है। अतः यहाँ उपाधि-युक्त होने के कारण वह्निमत्व व्याप्यत्व असिद्ध नामक हेत्वाभास हुआ।

चन्द्रिका—वस्तुतः असिद्ध हेत्वाभास वहाँ होता है, जहाँ हेतु अनुमान के साधनरूप में ही विद्यमान नहीं रहता है। ग्रन्थकार ने इस चतुर्थ हेत्वाभास असिद्ध की परिभाषा न देकर सीधे ही इसके तीन भेदों का उल्लेख करते हुए कहा कि यह असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है-(क) आश्रय असिद्ध, (ख) स्वरूप असिद्ध, (ग) व्याप्यत्व असिद्ध। तत्पश्चात् इन्हें उदाहरण द्वारा समझाते हैं-

(क) आश्रय असिद्ध हेत्वाभास—जिस हेतु का आश्रय अर्थात् आधार ही प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो, आश्रय असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-कोई कहे कि गगनारविन्द अर्थात् आकाश-कमल सुगन्धित होता है, कमल होने के कारण (गगनारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात्) प्रस्तुत उदाहरण में कमल में सुगन्धि सिद्ध करना साध्य है, किन्तु आकाश कमल जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता है। इसलिए यहाँ प्रयुक्त अरविन्दत्वात् हेतु का आश्रय अर्थात् आधार ही न होने के कारण यह आश्रय-असिद्ध नामक हेत्वाभास हुआ।

(ख) स्वरूप असिद्ध हेत्वाभास–इसीप्रकार जो हेतु अपने स्वरूप से अपने पक्ष में स्थित ही नहीं रह सकता है, वह स्वरूप-असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। जैसे-कोई कहे कि, शब्द गुण है, दिखायी पड़ने के कारण (शब्दः गुणः चाक्षुषत्वात्)। यहाँ शब्द 'पक्ष' है तथा गुण 'साध्य' है। जिसे सिद्ध करने के लिए चाक्षुषत्व अर्थात् दिखायी देना को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि हम शब्द को अपने नेत्रों द्वारा नहीं देख सकते हैं, क्योंकि शब्द का तो हम अपने कान द्वारा श्रवण करके प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिए यह हेतु अपने स्वरूप से ही असिद्ध होने के कारण स्वरूप असिद्ध नामक हेत्वाभास ही श्रेणी में आएगा।

(ग) व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास–यह वह हेतु होता है, जिसका साध्य के साथ व्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं होता है अथवा जिसका साध्य के साथ सम्बन्ध किसी उपाधि अर्थात् कारण पर निर्भर रहता है। वस्तुतः साध्य के साथ व्याप्त न होने के कारण ही इसे व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे–यदि कोई कहे कि यह पर्वत धूमवाला है, अग्नियुक्त होने के कारण (पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्)।

प्रस्तुत अनुमान वाक्य में पर्वत 'पक्ष' है तथा धूम 'साध्य' है एवं अग्नि को यहाँ 'हेतु' रूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि यहाँ प्रस्तुत साध्यरूप धूम और हेतु रूप अग्नि के व्याप्ति रूप सम्बन्ध को निर्बाध नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अग्नि से तपे हुए लोहे के गोले में आग तो विद्यमान रहती है, किन्तु वहाँ धुएँ की उपस्थिति नहीं रहती है।

वस्तुतः यहाँ प्रस्तुत व्याप्ति सम्बन्ध में गीले ईंधन का संयोग रूप उपाधि विद्यमान है, जिसे हम इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–"यत्र-यत्र आर्द्रेंधन संयोगः अग्निः, तत्र-तत्र धूमः, यथा-महानसे।" इसलिए यहाँ धूम की उपस्थिति के लिए गीले ईंधन का संयोग उपाधि माना जाएगा। इसलिए पूर्व में प्रयुक्त वह्निमत्व की व्याप्ति को असिद्ध होने के कारण 'व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास' की श्रेणी में माना जाएगा, क्योंकि उपाधियुक्त सम्बन्ध न तो नियत होता है और न ही वह व्यभिचाररहित होता है।

इसी बात को हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि व्याप्यत्व असिद्ध नामक तृतीय प्रकार के हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सुनिश्चित नहीं होती है, इसलिए इसे हेत्वाभास की कोटि में रखा गया है। इस हेत्वाभास के लक्षण में ग्रन्थकार ने 'सोपाधिक' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे जानना अत्यावश्यक है। तर्कसंग्रहकार का मानना है कि साध्य के व्यापक होने पर साधन (हेतु) का अव्यापक पदार्थ ही उपाधि कहलाता है (साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधित्वम्)।

आचार्य उदयन ने उपाधि को इसप्रकार स्पष्ट किया है-"उप-समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधि:", अर्थात् जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रामित कर देती है, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे-यदि हम स्फटिक के पास कोई रक्त कमल रख देते हैं तो स्फटिक हमें लाल प्रतीत होने लगता है, क्योंकि लाल कमल अपनी लालिमा को स्फटिक में संक्रामित कर देता है। इसलिए लाल न होते हुए भी स्फटिक हमें लाल दिखायी देता है। ठीक इसीप्रकार अग्नि में धुआँ नहीं होता है, किन्तु यदि हम उसके साथ गीले ईंधन का संयोग (आर्द्रेंधन संयोग:) करते हैं तो उस अग्नि में भी हमें धुएँ की प्रतीति होने लगती है। अत: यहाँ आर्द्रेंधन संयोग उपाधि माना जाएगा।

"पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्" इत्यादि उदाहरण में 'वह्निमत्व' हेतु आर्द्रेंधन संयोगरूप उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्यत्व असिद्ध नामक हेत्वाभास की श्रेणी में माना जाएगा, क्योंकि जहाँ-जहाँ अग्नि होती हैं, वहाँ-वहाँ धूम का होना अनिवार्य नहीं है। जैसे-अग्नि से तप्त लोहे के गोले में अग्नि तो विद्यमान है, किन्तु धूम का अस्तित्व वहाँ नहीं होता है।

विशेष-(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने असिद्ध हेत्वाभास के तीन भेदों को सोदाहरण स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

(ii) उक्त तीनों हेत्वाभासों को संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं-

(क) आश्रय-असिद्ध हेत्वाभास के 'पक्ष' में कोई दोष होता है।

(ख) स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास का 'हेतु' ही स्वयं में दूषित (दोष युक्त) होता है।

(ग) व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास की व्याप्ति में दोष होता है।

(iii) आचार्य गौतम ने असिद्ध हेत्वाभास को 'साध्यसम' संज्ञा प्रदान की है। अर्थात् जिसप्रकार साध्य संदिग्ध होता है, उसी प्रकार हेतु के भी संदिग्ध होने से इसे उन्होंने 'साध्य सम' कहा है।

(iv) स्वरूप असिद्ध हेतु और व्याप्यत्व असिद्ध हेतु में यह अन्तर होता है कि स्वरूप असिद्ध हेतु पक्ष में नहीं रहता है, जबकि व्याप्यत्व असिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सम्भव नहीं होती है।

(v) तर्कसंग्रहकार की संक्षिप्त, सरल एवं सूत्रात्मक शैली द्रष्टव्य है।

(vi) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं-(अगले पृ० पर चित्र 54)

(चित्र-54)

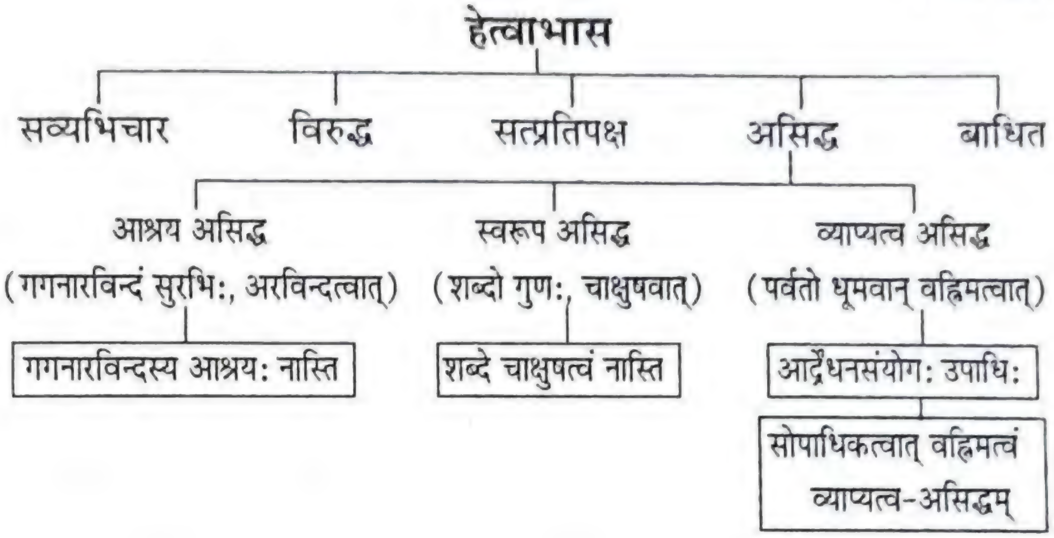

अवतरणिका—प्रथम चार हेत्वाभासों को स्पष्ट करने के बाद ग्रन्थकार अबाधित नामक पञ्चम हेत्वाभास की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

बाधितस्य लक्षणमुदाहरणं च—

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा-वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्राऽनुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

पदच्छेद—यस्य साध्य-अभावः प्रमाण-अन्तरेण निश्चितः सः बाधितः। यथा-वह्नि-अनुष्णः द्रव्यत्वात् इति। अत्र अनुष्णत्वम् साध्यम्, तत् अभावः उष्णत्वम् स्पार्शन-प्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

दीपिका—बाधितस्य लक्षणमाह-यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभावनिश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां तु परामर्शप्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभाववत्तया, विरुद्धस्य सामानाधिकरण्याभाववत्तया, व्याप्यत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्यभाववत्तया, असाधारणानुपसंहारिणोर्व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः। सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटकतयाऽऽ-श्रयासिद्धे अन्तर्भवतीति प्राञ्चः। निग्रहस्थानान्तरमिति नवीनाः।

अनुवाद—जिस हेतु के साध्य का अभाव (किसी) अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित होता है, वह बाधित (नामक हेत्वाभास) है। जैसे-अग्नि शीतल होती है, द्रव्य होने

के कारण। यहाँ अनुष्णत्व (शीतलता) साध्य है तथा उसका अभाव उष्णत्व स्पार्शन नामक प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसलिए यहाँ बाधित नामक हेत्वाभास है।

चन्द्रिका–जहाँ वक्ता जिस बात को सिद्ध करना चाहता है, उस साध्य का ही अभाव अन्य किसी प्रमाण द्वारा निश्चित हो जाता है, इसे सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हेतु को बाधित हेत्वाभास कहते हैं। बाधित का अभिप्राय है–रोक दिया जाना, जिसका साध्य प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण द्वारा रोक दिया जाए, वहाँ बाधित हेत्वाभास होता है।

जैसे–कोई कहे कि अग्नि ठण्डी होती है (वह्निरनुष्णः) द्रव्य होने के कारण (द्रव्यत्वात्)। प्रस्तुत उदाहरण में अनुष्णत्व अर्थात् शीतलता साध्य है तथा द्रव्य पदार्थ होना इसमें हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है। जबकि हमें अग्नि को छूकर देखने से वह गर्म (उष्ण) प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में शीतलतारूप साध्य का अभाव 'उष्णत्व' हमें स्पार्शन प्रत्यक्ष (त्वचा के द्वारा किए गए स्पर्श नामक प्रत्यक्ष) द्वारा ही ज्ञात हो जाता है, इसलिए उक्त उदाहरण में बाधित नाम हेत्वाभास माना जाएगा।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम हेत्वाभास के अन्तिम पञ्चम भेद बाधित को परिभाषित किया है। पुनः इसका उदाहरण देने के पश्चात् इसे स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है।

(ii) भाषा की सरलता, शैली की स्पष्टता दर्शनीय है।

(iii) न्यायसूत्रकार ने इसका अन्य नाम 'कालात्ययापदिष्ट' दिया है।

(iv) स्पार्शन प्रत्यक्ष से अभिप्राय त्वचा के स्पर्श द्वारा किए गए 'प्रत्यक्ष' से है, क्योंकि हम किसी भी वस्तु की शीतलता अथवा उष्णता को अपनी त्वचा के स्पर्श से ही जान सकते हैं।

(v) अतः जब कोई व्यक्ति द्रव्य होने के कारण अग्नि को शीतल प्रतिपादित करना चाहता है तो हम अग्नि को छूकर देखते हैं, जिससे वह हमें उष्ण प्रतीत होती है। उस स्थिति में वक्ता के साध्य शीतलता का स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा अभाव सिद्ध होने से यहाँ प्रयुक्त द्रव्यत्वात् हेतु बाधित हेत्वाभास की श्रेणी में आएगा।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-55)

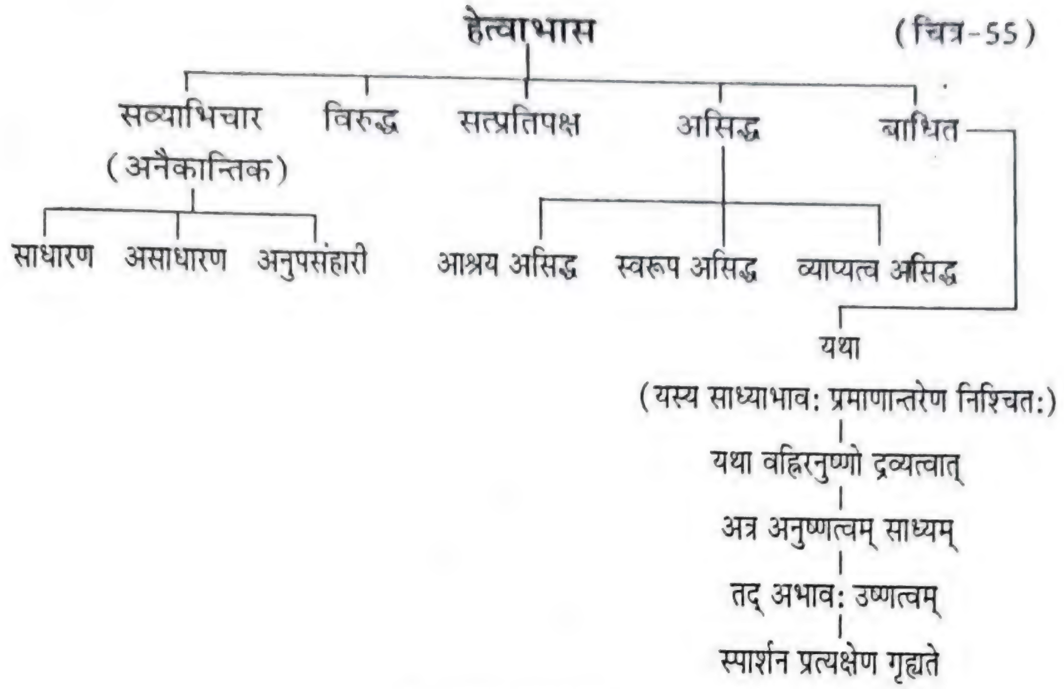

इत्यनुमानखण्डः।

•

अथोपमानखण्डः

अवतरणिका–इसप्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने अनुमान प्रमाण का भेद सहित विस्तारपूर्वक उल्लेख किया। साथ ही प्रसङ्ग प्राप्त होने पर हेतु, पक्ष, सपक्ष और विपक्ष को स्पष्ट करने के बाद हेत्वाभास के पाँच भेदों की गम्भीरतापूर्वक चर्चा की। इसके बाद प्रस्तुत अंश में तृतीय 'उपमान प्रमाण' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

उपमानस्य लक्षणम् उपमितिः तत्करणञ्च–

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि–कश्चिद् गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवय' इति श्रुत्वा, वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते।

पदच्छेद–उपमिति-करणम् उपमानम्। संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-ज्ञानम् उपमितिः। तत् करणम् सादृश्य-ज्ञानम्। अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरणम्-अवान्तर-व्यापारः। तथाहि-'कश्चित् गवय-शब्दार्थम्' अजानन् कुतश्चित् आरण्यक-पुरुषात् 'गो-सदृशः गवयः' इति श्रुत्वा, वनं गतः वाक्यार्थम् स्मरन् गो-सदृशम् पिण्डम् पश्यति। तत् अनन्तरम् 'असौ गवय-शब्द-वाच्यः' इति उपमिति उत्पद्यते।

दीपिका–उपमानं लक्षयति–उपमितीति।

अनुवाद–उपमिति का करण उपमान होता है। संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान (ही) उपमिति है तथा उस उपमिति का करण सादृश्य-ज्ञान है। (इसके अतिरिक्त) प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा कहे हुए वाक्य के अर्थ का स्मरण ही यहाँ अवान्तर व्यापार है। जैसे–कोई व्यक्ति गवय शब्द के अर्थ को नहीं जानता है और वह जंगल में रहने वाले किसी व्यक्ति से यह सुनकर कि–"गाय के समान ही गवय होता है", वन में गया तथा वहाँ (वनेचर द्वारा कहे गए) वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए गाय के समान पशु शरीर (पिण्ड) को देखता है। उसके पश्चात् ही उसे "यह गवय शब्द के द्वारा वाच्य है" इसप्रकार की 'उपमिति' उत्पन्न हो जाती है।

चन्द्रिका–नैयायिकों ने चार प्रकार के प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रथम दो प्रमाणों का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार तृतीय उपमान प्रमाण को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं। तदनुसार "उपमिति का करण उपमान प्रमाण कहलाता है।" पुनः उपमिति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–उपमिति के अन्तर्गत संज्ञा और संज्ञी का ज्ञान विद्यमान रहता है (संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध ज्ञानम् उपमितिः)।

इसके अतिरिक्त उस उपमिति का करण ही सादृश्य ज्ञान कहलाता है तथा किसी प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा जो बात कही जाती है, उस वाक्य का स्मरण 'उपमान प्रक्रिया' में अवान्तर व्यापार की भूमिका निर्वाह करता है। जिसे उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्टरूप में समझा जा सकता है–

कोई व्यक्ति 'गवय' शब्द के अर्थ से पूर्णतया अपरिचित है। इसलिए 'गवय' क्या होता है, वह लेशमात्र भी नहीं जानता है, किन्तु एक बार वह जंगल में जाता है। मार्ग में उसे कोई बूढ़ा व्यक्ति मिलता है और उसे कहता है कि बेटा! तुम जंगल में तो जा रहे हो, किन्तु गवय नाम जंगली पशु से सावधान रहना वह बड़ा खतरनाक होता है।

इस पर वह व्यक्ति उस बूढ़े व्यक्ति से कहता है कि मैं तो गवय को नहीं जानता हूँ, फिर मैं उसे कैसे पहचानूँगा तथा उससे कैसे सावधान हो सकूँगा? तब बूढ़ा व्यक्ति उसे फिर से कहता है कि–"तुमने गाय को देखा है? व्यक्ति बोला–हाँ गाय को तो मैं भली-भाँति जानता हूँ।"

इस पर बूढ़ा व्यक्ति पुनः कहता है कि–बस 'गवय' भी गाय के समान ही होता है। इस सम्पूर्ण वार्तालाप को हृदयङ्गम करके वह व्यक्ति जंगल में जाकर "गाय

के समान शरीर वाले पशु को देखता है" उसे देखकर उसे तत्काल बूढ़े व्यक्ति की बात का स्मरण हो आता है यथा-'गो तथा गवय इति' और इस वाक्य के अर्थ की स्मृति के साथ ही वह उस जंगली पशु को गवय के रूप में पहचान लेता है एवं वह उससे बचकर सावधानीपूर्वक निकल जाता है।

उपमान की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में "यह पशु ही गवय पद द्वारा वाच्य है" यह उपमिति है तथा इसका असाधारण कारण ही उपमान प्रमाण है। यह असाधारण कारण अर्थात् करण गो और गवय का सादृश्य ज्ञान ही है।

विशेष–(i) प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के बाद उपमान प्रमाण का तृतीय स्थान है।

(ii) उपमिति का अभिप्राय संज्ञा और संज्ञी-विषयक ज्ञान से है तथा इस ज्ञान का कारण गो और गवय जैसे पदार्थों की समानता है।

(iii) गवय एक जंगली पशु होता है जो गाय के समान ही प्रतीत होता है, किन्तु यह हिंसक होता है।

(iv) यहाँ गवय संज्ञा है तथा गवय पद संज्ञी के सम्बन्ध का कथन करता है। इसलिए गवय-पिण्ड तथा गवय पदार्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है। इसी को यहाँ संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध द्वारा कहा गया है, इसी को उपमिति कहते हैं।

(v) उपमिति के लिए प्रामाणिक अर्थात् आप्त व्यक्ति के वाक्य के अर्थ का ज्ञान और गाय इत्यादि के समान पशु को प्रत्यक्ष करना, दोनों ही आवश्यक हैं।

(vi) तर्कसंग्रहकार ने नव्य नैयायिकों का अनुकरण करते हुए उपमान को सादृश्य ज्ञान माना है। उनके अनुसार-गवयनिष्ठ-गोसादृश्यज्ञान ही उपमिति का असाधारण कारण है।

(vii) सिद्धान्त-चन्द्रोदयकार ने उपमान के भी तीन भेद माने हैं-(क) सादृश्य द्वारा, (ख) वैधर्म्य द्वारा, (ग) असाधारण धर्म द्वारा। उनके मत में गवय गो के समान है, यह प्रथम प्रकार का उपमान होगा।

(viii) जबकि अन्नंभट्ट ने उपमान के भेदों का उल्लेख नहीं किया है तथा गौतम के मत का अनुकरण करते हुए इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में परिगणित किया है।

(ix) इसके विपरीत वैशेषिक और सांख्य दोनों ही दर्शन 'उपमान' प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से मान्यता प्रदान नहीं करते हैं। उन्होंने इसे अनुमान का ही एक प्रकार माना है।

(x) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-56)

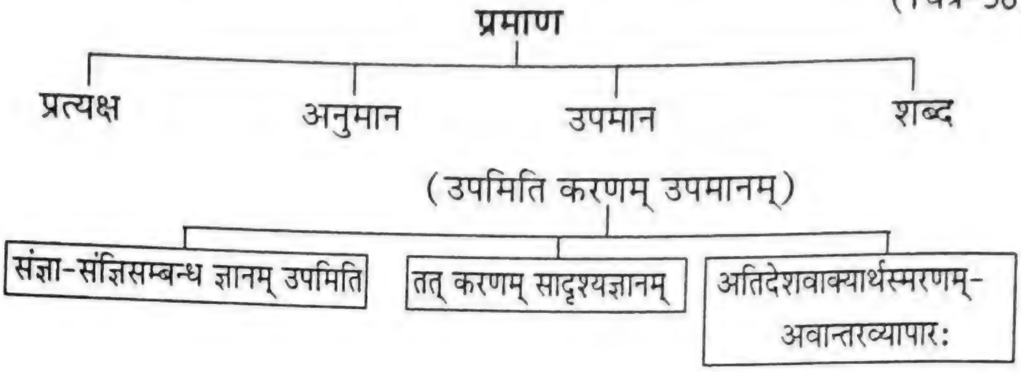

(चित्र-57)

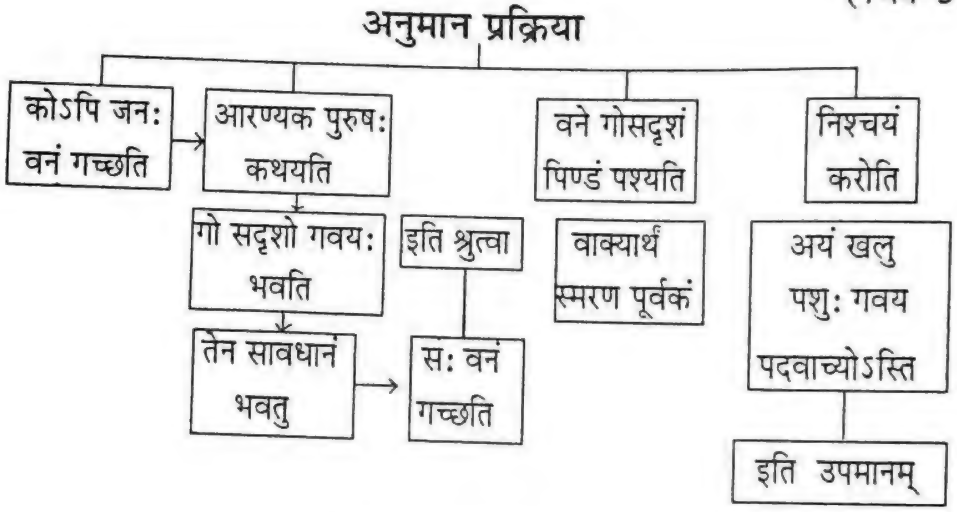

इत्युपमानखण्ड:।

अथ शब्दखण्ड:

अवतरणिका–प्रथम तीन प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान की व्याख्या प्रस्तुत करने के बाद तर्कसंग्रहकार अन्तिम चतुर्थ प्रमाण 'शब्द' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

शब्दप्रमाणस्य स्वरूपम्–

आप्तवाक्यं शब्द:। आप्तस्तु यथाऽर्थवक्ता। वाक्यं पदसमूह:। यथा-गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केत: शक्ति:।

पदच्छेद–आप्त-वाक्यम् शब्द:। आप्त तु: यथार्थवक्ता। वाक्यम् पदसमूह:। **यथा**-गाम् आनय, इति। शक्तम् पदम्। अस्मात् पदात् अयम् अर्थ: बोद्धव्य:, इति ईश्वरसङ्केत: शक्ति:।

दीपिका—शब्दं लक्षयति—आप्तेति। वाक्यं लक्षयति—वाक्यमिति। पदलक्षणमाह—शक्तमिति। अर्थस्मृत्यनुकूलः, पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः। सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः। तन्निरासार्थमाह—अस्मादिति। डित्थादीनामिव घटादीनामपि सङ्केत एव शक्तिः; न तु पदार्थान्तरमित्यर्थः।

गवादिशब्दानां जातावेव शक्तिः, विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्। व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिनेति केचित्। तन्न; 'गामानये'त्यादौ वृद्धव्यवहारात् सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव सम्भवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात्। शक्तिग्रहस्तु वृद्धव्यवहारेण। तथाहि—व्युत्पित्सुर्बालो गामानयेत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्ति-जनकज्ञानान्तरान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय, गां बधाने'ति। वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः, अश्वशब्दस्याश्वत्वविशिष्टे शक्तिरिति व्युत्पद्यते।

ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद्व्यवहारस्य कार्यवाक्ये एव व्युत्पत्तिर्न सिद्धपर इति चेन्न; 'काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात्; 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् सिद्धेऽपि मधुकरादिपदे व्युत्पत्तिदर्शनाच्च।

लक्षणाऽपि शब्दवृत्तिः। शक्यसम्बन्धो लक्षणा। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदवाच्यप्रवाहसम्बन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते। सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसम्बन्धाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्। लक्षणा त्रिविधा—(1) जहल्लक्षणा, (2) अजहल्लक्षणा, (3) जहदजहल्लक्षणा चेति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाभावस्तत्र जहदिति। यथा—'मञ्चाः क्रोशन्ति' इति। यत्र वाच्यार्थस्याप्यन्वयस्तत्राजहदिति। यथा—'छत्रिणो गच्छन्ती'ति। यत्र वाच्यैकदेशत्यागेनैकदेशान्वयस्तत्र जहदजहदिति। यथा—'तत्त्वमसि' इति। गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसम्बन्धस्वरूपा। यथा—'अग्निर्माणवक' इति। व्यञ्जनाऽपि शक्तिलक्षणान्तर्भूता—शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिनाऽन्यथासिद्धा। तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणबीजम्। तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपं तात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। नानार्थानुरोधात् तु प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्। द्वारमित्यादौ पिधेहीति शब्दाध्याहारः। नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाव्याहारासम्भवादर्थाध्याहार एव युक्त इति चेन्न; पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दज्ञाने हेतुत्वात्। अन्यथा 'घटः' 'कर्मत्वम्' 'आनयनं' 'कृतिः'—इत्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात्। पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः।

अवयवशक्तिर्योगः समुदायशक्ती रूढिः, नियतपद्मत्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः, अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसङ्गः। इतरान्विते शक्तिरिति प्राभाकराः। अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसम्भवादन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीयेति गौतमीयाः।

अनुवाद–आप्त (व्यक्ति) का वाक्य शब्द प्रमाण होता है। आप्त पुरुष (से अभिप्राय) यथार्थ वक्ता से है। पदों का समूह वाक्य होता है। जैसे-गाय लाओ शक्तियुक्त पद होता है। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए, इसप्रकार का ईश्वर-सङ्केत ही शक्ति है।

चन्द्रिका–जो वस्तु जैसी होती है, उसे वैसा ही बताने वाला व्यक्ति 'आप्त-पुरुष' कहलाता है, जिसे ग्रन्थकार ने 'यथार्थ वक्ता' कहा है और इसी यथार्थवक्ता का वाक्य 'शब्द प्रमाण' की श्रेणी में आता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यथार्थवक्ता वस्तुतः आप्त पुरुष कहलाता है तथा ऐसा व्यक्ति जो भी बात कहता है, वह सब शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आता है।

आप्त पुरुष और शब्द प्रमाण को परिभाषित करने के बाद तर्कसंग्रहकार ने वाक्य को शब्दों का समूह बताया है तथा इसका अत्यन्त सरल उदाहरण 'गाम् आनय' प्रस्तुत किया। साथ ही 'शक्तः पदम्' कहकर पद के लक्षण में शक्ति को प्रमुखता प्रदान की। तत्पश्चात् शक्ति को भी स्पष्ट करते हुए कहा कि–ईश्वर की वह इच्छा ही शक्ति होती है। जिसके कारण शब्द-विशेष एक अर्थ-विशेष को अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आचार्य अन्नंभट्ट भाषा का विकास ईश्वर से स्वीकार करते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए, इसप्रकार का ईश्वर का सङ्केत ही शक्ति कहलाता है और इस शक्ति से सम्पन्न पदों का समूह ही वाक्य होता है तथा आप्त पुरुष द्वारा प्रयुक्त वाक्य ही 'शब्द प्रमाण' होते हैं।

विशेष–(i) न्यायसूत्रकार ने भी आप्त पुरुष के द्वारा कहे गए वाक्यों को शब्द प्रमाण की संज्ञा प्रदान की है। (आप्तोपदेशः शब्दः-1/1/7)

(ii) प्रत्येक व्यक्ति आप्त पुरुष नहीं होता है, अपितु स्वस्थ स्मृति एवं ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न विषय का गहन ज्ञान रखने वाला तथा उसका भली-प्रकार सम्प्रेषण करने में समर्थ सत्य बोलने वाला प्रामाणिक व्यक्ति ही आप्त पुरुष की श्रेणी में आता है।

(iii) पदों के समूह को यहाँ वाक्य कहा गया है, जिसकी इसी क्रम में आगे व्याख्या की गई है। जहाँ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पद समूह को वाक्य संज्ञा प्रदान की गई है।

(iv) चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिकदर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं।

(v) बौद्ध और वैशेषिकदर्शनों में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में किया गया है।

(vi) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-58)

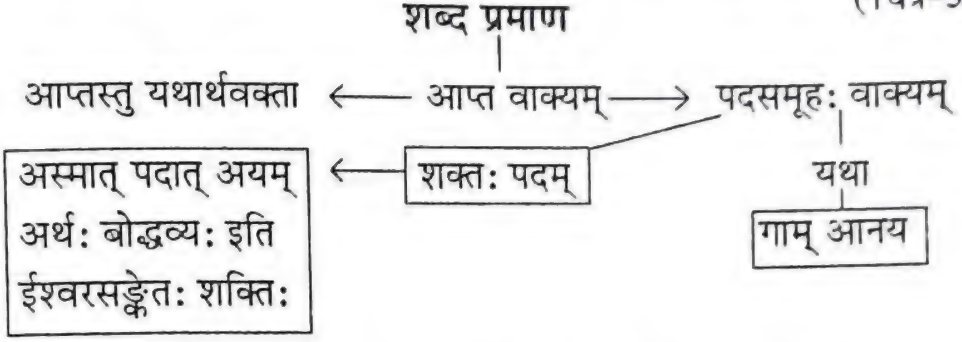

अवतरणिका–शब्द प्रमाण को परिभाषित करने के प्रसङ्ग में 'वाक्य' पद का प्रयोग हुआ था। अतः वाक्य के अर्थ को जानने में प्रयुक्त होने वाले अनिवार्य तत्त्व–आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–

वाक्याऽर्थज्ञाने हेतवस्तेषां लक्षणानि च–

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। तथा चाकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा-गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्-आकाङ्क्षाविरहात्। अग्निना सिञ्चेदिति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम्-सान्निध्याऽभावात्।

पदच्छेद–आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिः च वाक्यार्थ-ज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तर-व्यतिरेक-प्रयुक्त-अन्वय-अननुभावकत्वम्-आकाङ्क्षा। अर्थ अबाधः योग्यता। पदानाम् अविलम्बेन उच्चारणम् सन्निधिः। तथा च आकांक्षा-आदि रहितम् वाक्यम् अप्रमाणम्। यथा-गोः, अश्वः, पुरुषः हस्ति, इति न प्रमाणम्, आकांक्षा-विरहात्। अग्निना सिञ्चेत् इति न प्रमाणम्, योग्यता-विरहात्। प्रहरे-प्रहरे असह उच्चारितानि गाम् आनय इत्यादि पदानि न प्रमाणम्, सान्निध्य-अभावात्।

दीपिका–आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः। अन्यथाऽऽकाङ्क्षादि-

भ्रमाच्छब्दभ्रमो न स्यात्। आकाङ्क्षां लक्षयति–पदस्येति। योग्यतालक्षणमाह–अर्थेति। सन्निधिलक्षणमाह–पदानामिति। अविलम्बेन पदार्थोपस्थिति: सन्निधि:। उच्चारणं तु तदुपयोगितया उक्तम्। गौरश्व इति। घट: कर्मत्वमित्यप्यनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम्।

अनुवाद–आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि वाक्य के अर्थज्ञान के प्रति (कुल तीन) हेतु हैं। एक पद का अन्य अर्थ के अभाव में शब्द का बोध करवाने की असमर्थता ही आकांक्षा होती है तथा अर्थ-ज्ञान में बाधा का अभाव योग्यता है। (इसीप्रकार) पदों का बिना किसी विलम्ब के उच्चारण करना ही सन्निधि होती है। साथ ही आकांक्षा आदि से रहित वाक्य प्रमाण नहीं होता है। जैसे–गौ, अश्व, पुरुष और हाथी, इसप्रकार के शब्द समूह का प्रयोग आकांक्षा आदि से रहित होने के कारण प्रमाण नहीं है। (इसीप्रकार) 'अग्नि से सींचे' यह वाक्य भी योग्यता के न होने के कारण प्रमाण नहीं होगा। (इसके अतिरिक्त) एक-एक प्रहर के पश्चात् 'गो.... लाओ' इत्यादि पदों का समूह भी सन्निधि के अभाव के कारण प्रमाण नहीं होगा।

चन्द्रिका–तर्कसंग्रहकार शब्दप्रमाण प्रसङ्ग में वाक्य के अर्थ के ज्ञान के लिए मुख्यरूप से तीन हेतुओं का कथन करते हैं, क्योंकि इनमें से एक के भी अभाव में वाक्यों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। अत: ग्रन्थकार की दृष्टि से यथार्थ वक्ता द्वारा कहा गया आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इन तीनों विशेषताओं से युक्त पदों का समूहरूप वाक्य ही शब्दप्रमाण होता है। पुन: आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की इसप्रकार व्याख्या करते हैं–

(क) आकांक्षा–एक पद के शाब्दबोध के लिए दूसरे पद के प्रयोग अथवा श्रवण की अभिलाषा रखना ही आकांक्षा है। जिसे स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–"कोई पद तब तक पूरा अर्थ नहीं दे पाता है, जब तक उसके साथ कोई दूसरा पद प्रयोग न किया गया हो। जैसे–'घट' कहने के पश्चात् हमें अग्रिम शब्द को सुनने की आकांक्षा तब तक रहती है, जब तक इसकी पूर्ति के लिए 'आनय' आदि पद का प्रयोग नहीं कर दिया जाता है। इसप्रकार अन्य पद को जानने अथवा सुनने की यह इच्छा ही यहाँ 'आकांक्षा' है। इससे रहित वाक्य प्रमाण नहीं होता है।"

(ख) योग्यता–योग्यता से यहाँ अभिप्राय एक पद में दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध प्राप्त करने वाले अर्थ को प्रकट करने की क्षमता से है। जिसे हम दूसरे शब्दों में–"पदार्थों में अविरोध भी कह सकते हैं (अर्थाबाधो योग्यता)योग्यता के अभाव में कोई पदों का समूह वाक्य नहीं हो सकता है।"

जैसे–वह्निना सिञ्चति। यह एक पद-समूह होते हुए भी वाक्य कहलाने योग्य

नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त पदों में आकांक्षा तो है, किन्तु योग्यता का इनमें अभाव ही है। इसका कारण यही है कि अग्नि और सिञ्चन क्रिया में परस्पर विरोध है। अग्नि से हम जला तो सकते हैं, किन्तु सिञ्चन क्रिया इसके द्वारा सम्भव नहीं है। अत: 'वह्नि' पद के अर्थ का 'सिञ्चति' क्रियापद के अर्थ के साथ सम्बन्ध न हो पाने के कारण 'वह्निना सिंचति' पद-समूह में 'योग्यता' का अभाव माना जाएगा। इसलिए यह पदों का समूह होने पर भी वाक्य की श्रेणी में नहीं आएगा।

(ग) सन्निधि–दो या दो से अधिक पदों का अन्तरालरहित उच्चारण ही सन्निधि है। वाक्य की निर्मिति अनेक पदों के समूह से होती है। वाक्यार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है कि हम दूसरे शब्द को सुनने से पूर्व तक पहले पद के अर्थ का संस्कार बनाए रखें। दूसरे शब्दों में एक पद के उच्चारण के पश्चात् दूसरे पद के उच्चारण में इतनी देर नहीं होनी चाहिए कि पहले शब्द को सुनने से उत्पन्न संस्कार ही नष्ट हो जाए। अत: पदों का उच्चारण उचित अन्तराल के बाद किया जाना अनिवार्य है और पदों के उच्चारण के अन्तराल का औचित्य ही सन्निधि है। इसप्रकार सन्निधि का एक अर्थ–"पदों का अविलम्ब उच्चारण किया जाना भी कह सकते हैं", जिसे ग्रन्थकार ने कहा है–"पदानाम् अविलम्बेन उच्चारण सन्निधि:"। इसके अभाव में भी पदों का समूह वाक्य नहीं बन सकता है।

जैसे–यदि हम 'गो' शब्द का उच्चारण करने के पाँच मिनट बाद 'आनय' क्रिया पद का प्रयोग करें तो गो और आनय इन दोनों पदों में आकांक्षा और योग्यता होने पर भी पदों का यह समूह सन्निधि अर्थात् पदों का समयान्तराल सहित उच्चारण होने से वाक्य की श्रेणी में नहीं आएगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि पदों के समूह वाक्य में पदार्थ ज्ञान के लिए उनकी प्रामाणिकता हेतु आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इन तीन वाक्य हेतु रूप विशेषताओं का होना आवश्यक है। इनमें से किसी एक के अभाव में भी पदों का समूह वाक्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने यहाँ पदों के समूह को वाक्य कहने के लिए आवश्यक तीन हेतुओं की उदाहरण सहित सरल शैली में प्रस्तुति की है।

(ii) आचार्य विश्वनाथ ने अपने भाषा परिच्छेद में एक पद के अभाव में अन्य पद में सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने की अक्षमता को आकांक्षा कहा है।

(iii) उन्होंने तात्पर्यज्ञान नामक एक अन्य हेतु की अनिवार्यता का भी प्रतिपादन किया है। (आसत्तिर्योग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते)–भाषापरिच्छेद-82

(iv) वाक्य में प्रयुक्त पद के समूह के अर्थ को जानने में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इन तीन हेतुओं की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

(v) वाक्यार्थ ज्ञान की प्रक्रिया को शब्द प्रमाण के प्रसङ्ग में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया गया है।

(vi) सन्निधि को आसत्ति भी कहा जाता है। दोनों पदों का अर्थ समान ही है।

(vii) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-59)

वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु

आकांक्षा	योग्यता	सन्निधि (आसत्ति)
शाब्दबोध हेतु एक शब्द के साथ अन्य शब्द का प्रयोग	(अर्थ का बाधारहित होना)	पदों का अविलम्ब उच्चारण
	अग्निना सिञ्चेत्	गाम्..........आनय
गौरश्वः पुरुषो हस्तिः	योग्यतायाः	सन्निध्याः

आकांक्षायाः ——————अभावः एषु वाक्येषु ——————

अवतरणिका–वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु त्रय आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि को स्पष्ट करने के बाद तर्कसंग्रहकार वाक्य के वैदिक और लौकिक दो भेदों का उल्लेख करते हैं–

वाक्यस्य द्वौ भेदो–

वाक्यं द्विविधम्–वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्। वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः।

पदच्छेद–वाक्यम् द्विविधम्-वैदिकम् लौकिकम् च। वैदिकम् ईश्वरोक्तत्वात् सर्वम् एव प्रमाणम्। लौकिकम् तु आप्तोक्तम् प्रमाणम्। अन्यत् अप्रमाणम्। वाक्यार्थज्ञानम् शाब्द ज्ञानम्। तत् करणम् शब्दः।

दीपिका–वाक्यं विभजते–वाक्यमिति। वैदिके विशेषमाह–वैदिकमिति। ननु वेदस्याऽनादित्वात् कथमीश्वरोक्तमिति चेन्न; वेदः पौरुषेयः, वाक्यसमूहत्वात्, भारतादिवदित्यनुमानेन पौरुषेयत्वसिद्धेः। न च स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिः। गौतमादिभिः शिष्यपरम्परया वेदेऽपि कर्तुः स्मर्यमाणत्वेन साधनव्यापकत्वात्, तस्मात् 'तपस्तेपानात्

त्रयो वेदा अजायन्त' इति श्रुतेश्च। ननु वर्णा नित्याः 'स एवायं गकार' इति प्रत्यभिज्ञाबलात्। तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वमिति चेन्न; 'उत्पन्नो गकारो, नष्टो गकार' इति प्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात् 'सोऽयं गकार' इति प्रत्यभिज्ञायाः सेयं दीपज्वालेतिवत् साजात्यावलम्बनत्वात्। वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यत्वाच्च। तस्मादीश्वरोक्तो वेदः। मन्वादिस्मृतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। स्मृतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्यनात् तन्मूलभूता काचिच्छाखोच्छिन्नेति कल्प्यते। ननु पठ्यमानवेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेन्न; तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञानाभावेन बोधकत्वासम्भवात्। नन्वेतानि पदानि स्वस्मारितार्थसंसर्गवन्त्याकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वात् 'गामानय दण्डेने'ति मद्वाक्यवदित्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसम्भवाच्छब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेन्न, अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य शब्दात्प्रत्येमीत्यनुव्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसम्मतत्वात्। नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या कल्प्यत इति चेन्न; देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वादित्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। शते पञ्चाशदिति सम्भवोऽप्यनुमानमेव। इह वटे यक्षस्तिष्ठतीत्यैतिह्यमपि अज्ञातमूलवक्तृकः शब्द एव। चेष्टाऽपि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुरिति न मानान्तरम्। तस्मात् प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि।

अथ प्रामाण्यविचारः

अथ ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं, परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः-ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं, न वा इति? अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वम्। निषेधकोटिः परतस्त्वम्। अनुमानादि ग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनतावारणाय-यावदिति। इदं ज्ञानमप्रमेति ज्ञानेन प्रामाण्याग्रहाद् बाधवारणायाऽग्रामाण्याग्राहकेति। इदं ज्ञानमप्रमेत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्य-ग्राहकस्याऽप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात् स्वतस्त्वं न स्यादतस्तदिति। तस्मिन्-ग्राह्यप्रामाण्याश्रयेऽप्रामाण्याग्राहक इत्यर्थः। उदाहृतस्थले व्यवसायेऽप्रामाण्य-ग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये तदग्राहकत्वात् स्वतस्त्वसिद्धिः। ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते। घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्सम्बन्धस्या विषयीकरणाद्व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्। पुरोवर्तिनि प्रकारसम्बन्धस्यै प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेन्न; स्वतः प्रामाण्यग्रहे जलज्ञानं प्रमा न वेत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्। अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तस्मात् स्वतो

ग्राह्यत्वाभावात् परतो ग्राह्यत्वम्। तथाहि–प्रथमं जलज्ञानान्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे सति पूर्वोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमा। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवम्। यथाऽप्रमेति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते। द्वितीयाविज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्वयव्यतिरेकिणापि गृह्यते। प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। प्रमाऽसाधारणकारणं गुणः। अप्रमाऽसाधारणकारणं दोषः। तत्र प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः। अनुमितौ व्यापकवति व्याप्यज्ञानम्। उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानम्। शाब्दज्ञाने–यथार्थयोग्यताज्ञानम्। इत्याद्यूहनीयम्। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्यानुव्यवसायेनानुपस्थितत्वादप्रमात्वं परत एव गृह्यते। पित्तादिदोष-जन्यत्वादुत्पत्तौ परतस्त्वम्।

अथाऽन्यथाख्यातिव्यवस्थापनम्

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव नास्तीति–न च शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानात् प्रवृत्तिदर्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम्, रजतस्मृति-पुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवृत्तिसम्भवादुपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन नेदं रजतमित्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति चेन्न; सत्यरजतस्थले पुरोवर्त्तिविशिष्यकर-जतत्वप्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्तिजनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्।

अनुवाद–वैदिक और लौकिक रूप से वाक्य दो प्रकार का होता है। ईश्वर द्वारा उच्चारण किए जाने से सभी वैदिक वाक्य प्रमाण हैं। जबकि आप्त पुरुष द्वारा कहे गए लौकिक वाक्य ही प्रमाण होते हैं। अन्य सभी अप्रमाण हैं। वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शाब्द-ज्ञान होता है और उसका 'करण' शब्द ही है।

चन्द्रिका–शब्द प्रमाण की व्याख्या प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने 'आप्त वाक्य' को शब्दप्रमाण की श्रेणी में रखा तथा पदों के समूह को वाक्य की संज्ञा प्रदान की। प्रस्तुत अंश में वाक्य के वैदिक और लौकिक भेद से दो प्रकारों का उल्लेख किया। उनके अनुसार ईश्वर का कथन होने के कारण सभी वैदिक वाक्य अपौरुषेय हैं। अतः शब्दप्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

इसके विपरीत सभी लौकिक वाक्य 'शब्द प्रमाण' नहीं होते हैं, अपितु जो वाक्य आप्त पुरुषों द्वारा कहे जाते हैं, उन्हीं को प्रमाण की कोटि में रखा जाता है। आप्त पुरुष से अभिप्राय उन सांसारिक व्यक्तियों से है जो सदैव सत्य भाषण करते हैं, जिनकी स्मृति एवं सभी ज्ञानेन्द्रियाँ स्वस्थ अवस्था में हैं, जिन्होंने शास्त्रों का गहन

चिन्तन और मनन किया है जो अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम हैं। ऐसे लोगों द्वारा कहे गए वाक्य ही लौकिक शब्दप्रमाण की श्रेणी में परिगणित हैं। जबकि सभी वैदिक वाक्य आप्त वाक्य होने से शब्दप्रमाण माने गए हैं।

इसप्रकार श्रुतियों में कहे गए सभी वाक्य तथा आप्त कोटि के पुरुषों द्वारा कहे गए लौकिक वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्यों को ग्रन्थकार ने शब्दप्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया है। अत: हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सभी वैदिक वाक्य और आप्त वाक्यों द्वारा होने वाला ज्ञान शाब्द ज्ञान है तथा इस शाब्द ज्ञान का साधकतम होने के कारण ही ग्रन्थकार ने शब्द को इसके करण की संज्ञा प्रदान की है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने शब्द प्रमाण के वैदिक और लौकिक दो भेदों का उल्लेख किया है।

(ii) वैदिक वाक्यों से अभिप्राय-श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि से ग्रहण करना चाहिए।

(iii) श्रुति से तात्पर्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य से है।

(iv) नैयायिक और मीमांसक दोनों ही एक मत से वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, अधिकांश भारतीय दर्शन इन्हें 'शब्दप्रमाण' के रूप में स्वीकार करते हैं।

(v) ग्रन्थकार ने शब्दप्रमाण के विवेचन में शब्द को करण माना है और शब्द से यहाँ वाक्य अभिप्रेत है।

(vi) दीपिकाकार के अनुसार–वैशेषिक शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं, इसे पृथक् से मान्यता प्रदान नहीं करते हैं।

(vii) प्रस्तुत अंश तक ग्रन्थकार ने चार प्रकार के स्वीकृत प्रमाणों का विवेचन समाप्त कर दिया है। अत: प्रमाण प्रकरण यहाँ पूर्ण हो जाता है।

(viii) समस्त वैदिक वाक्यों को तर्कसंग्रहकार ईश्वरीय वचन होने के कारण शब्द प्रमाण मानने के पक्षधर हैं।

(ix) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-60)

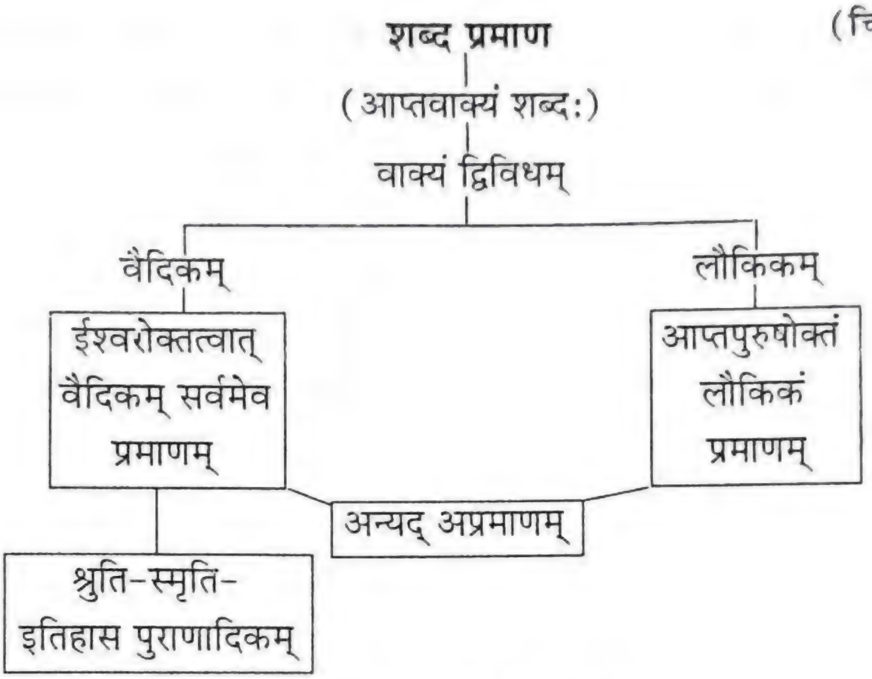

।। इति प्रमाण-मीमांसा प्रकरणम् ।।

●

अवशिष्ट-परिच्छेद

अवतरणिका–गुणलक्षण प्रकरण में ग्रन्थकार ने सभी प्रकार के व्यवहार के हेतु रूप गुण को 'बुद्धि' माना था तथा उसके स्मृति और अनुभव दो भेदों का उल्लेख किया था। तत्पश्चात् अनुभव को भी यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव रूप में दो भागों में विभाजित किया। यथार्थ अनुभव का विवेचन प्रमाण-मीमांसा प्रकरण में प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द भेद से विस्तारपूर्वक किया गया।

पुनः प्रस्तुत प्रकरण में अयथार्थ अनुभव के संशय, विपर्यय और तर्क नामक तीन भेदों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–

त्रिविधोऽयथार्थाऽनुभवः, संशयस्य लक्षणमुदाहरणं च, विपर्ययस्य लक्षणमुदाहरणं च, तर्कस्य लक्षणमुदाहरणं च–

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः-संशयविपर्ययतर्कभेदात्।

(i) एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा-स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।

(ii) मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा-शुक्ताविदं रजतमिति।

(iii) व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा–यदा वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

पदच्छेद–अयथार्थ-अनुभवः त्रिविधः-संशय-विपर्यय-तर्कभेदात्।

(i) एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध-नाना-धर्म-वैशिष्ट्य-अवगाहि-ज्ञानम् संशयः। यथा-स्थाणुः वा पुरुषः वा इति।

(ii) मिथ्या-ज्ञानम् विपर्ययः। यथा-शुक्तौ, 'इदम् रजतम्' इति।

(iii) व्याप्य-आरोपेण व्यापक-आरोपः तर्कः। यथा-यदा वह्निः न स्यात्, तर्हि धूमः अपि न स्यात्, इति।

दीपिका–अयथार्थानुभवं विभजते–अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वान्न त्रैविध्यविरोधः।

संशयलक्षणमाह-एकस्मिन्निति। घटपटाविति समूहालम्बनेऽतिव्याप्ति-वारणायैकेति। घटो द्रव्यमित्यादावतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेति। पटत्वविरुद्ध-घटत्वादित्यत्राऽतिव्याप्तिवारणाय नानेति।

विपर्ययलक्षणमाह–मिथ्येति। तदभाववति तत्प्रकारकनिश्चय इत्यर्थः।

तर्कं लक्षयति–व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद् भेदेन कीर्तितः।

अनुवाद–अयथार्थ अनुभव संशय, विपर्यय और तर्क भेद से तीन प्रकार का होता है।

(i) एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार के धर्मों की विशिष्टता से युक्त ज्ञान 'संशय' है। जैसे–यह स्थाणु है अथवा पुरुष।

(ii) मिथ्या ज्ञान (ही) विपर्यय है। जैसे-सीप में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान होना।

(iii) व्याप्य के आरोप के साथ व्यापक का आरोप करना (ही) तर्क है। जैसे–जब अग्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता।

चन्द्रिका–जो अनुभव यथार्थ अनुभव से विपरीत होता है, उसे अयथार्थ अनुभव कहते हैं, अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका वैसा अनुभव न होना ही अयथार्थ अनुभव कहलाता है। जो संशय, विपर्यय और तर्क भेद से तीन प्रकार का होता है। पुनः ग्रन्थकार अयथार्थ अनुभव के तीनों भेदों को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

(i) संशय–एक धर्मी में अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होना ही संशय होता है। इस सम्बन्ध में दीपिकाटीका में ग्रन्थकार कहते हैं कि–इसके लिए

तीन शर्तों की अनिवार्यता होती है। पहली, व्यक्ति को अनेक प्रकार के धर्मों का ज्ञान होना चाहिए। दूसरी, वे धर्म आपस में विरुद्धभाव लिए हुए होने चाहिएँ और तीसरी, वे सभी धर्म एक ही धर्मी में होने चाहिएँ। अत: इन तीन विशेषताओं से युक्त ज्ञान अयथार्थ अनुभव के संशय नामक भेद के अन्तर्गत आता है।

जैसे–दूरी पर अंधकार में स्थित, स्थिर वस्तु अथवा परछाईं को देखकर कोई व्यक्ति कहे कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष। इसे संशयात्मक अयथार्थ ज्ञान कहा जाएगा, क्योंकि यहाँ द्रष्टा को स्थाणु और पुरुष दोनों निर्णय न हो पाने की स्थिति में 'संशय' हो रहा है। अत: यह प्रथम प्रकार का अयथार्थ ज्ञान हुआ।

(ii) विपर्यय–मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय नाम अयथार्थ अनुभव का द्वितीय भेद है। इसमें विपरीत ज्ञान की स्थिति रहती है। अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है उसका उस रूप में ज्ञान होता है, जैसे–यदि कोई व्यक्ति सीपी को देखकर यह कहे कि 'यह तो चाँदी है' तो यह ज्ञान वस्तुत: मिथ्या ज्ञान ही है, जिसे ग्रन्थकार ने 'विपर्यय' की संज्ञा प्रदान की है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो एक प्रकार से यह विपर्यय वस्तुत: भ्रान्ति का ही भेद है। मृगतृष्णा, रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होना भी विपर्यय के ही उदाहरण हैं।

(iii) तर्क–अयथार्थ अनुभव का तृतीय भेद तर्क होता है। ग्रन्थकार ने इसे व्याप्य के आरोप से युक्त व्यापक का आरोप बताया है। जैसे-कोई कहे कि जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धुआँ नहीं होता है। प्रस्तुत उदाहरण में अग्नि का अभाव व्याप्य है और धूम का अभाव व्यापक। इसलिए यहाँ व्याप्य के आरोप में व्यापक का आरोप होने से यह 'तर्क' नामक अयथार्थ अनुभव कहा जाएगा।

वस्तुत: तर्कसंग्रहकार का यह लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है, पुनरपि इसे हम भिन्न प्रकार से समझने का प्रयास करते हैं–कोई व्यक्ति पर्वत पर धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करता है और कहता है–"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमत्वात्", अर्थात् यह पर्वत अग्नि से युक्त है, धूमवान् होने के कारण, क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (यत्र-यत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि:)।

किन्तु उसके साथ स्थित उसका विरोधी, उसकी इस व्याप्ति से असहमति व्यक्त करते हुए 'तर्क' करता है–"यदि पर्वत में अग्नि नहीं है, तो वहाँ धूम भी नहीं होना चाहिए।" अत: इस समय वहाँ हमें धुआँ दिखायी नहीं दे रहा है, तो अग्नि भी नहीं होनी चाहिए। यद्यपि उसका यह ज्ञान 'अयथार्थ तर्क' नामक कोटिक ही होगा,

क्योंकि अग्नि की उपस्थिति में भी धुएँ का होना आवश्यक नहीं है। जैसे-आग से तपे हुए लोहे के गोले में आग तो होती है, किन्तु धुआँ नहीं होता है।

वस्तुत: प्रस्तुत उदाहरण में 'धूम' व्याप्य है और अग्नि अधिक स्थानों में रहने के कारण व्यापक है तथा विरोधी व्यक्ति 'व्याप्य-धूम' को पहले आरोपित करके 'व्यापक-अग्नि' का अनुमान करता है। यही तर्क नामक अयथार्थज्ञान है। तर्क और विपर्यय में यही अन्तर है कि 'तर्क' में वक्ता जानबूझ कर असत्य को सत्य सिद्ध करने का सायास प्रयास करता है, किन्तु 'विपर्यय' में उसे असत्य का भान नहीं होता और वह उसे सत्य के समान ही मान बैठता है।

विशेष–(i) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने अयथार्थ अनुभव के तीन भेदों-संशय, विपर्यय और तर्क का उल्लेख किया है।

(ii) कुछ विद्वान् विपर्यय नामक अयथार्थ अनुभव को 'तर्क' नामक अयथार्थ अनुभव में ही सम्मिलित करने के पक्षधर हैं।

(iii) संज्ञयात्मक ज्ञान में चार प्रकार की सम्भावनाएँ होने के कारण वस्तुत: चतुष्कोटिक सन्देह होता है जो इसप्रकार होता है–यह स्थाणु है, यह स्थाणु नहीं है, यह पुरुष है, यह पुरुष नहीं है। ग्रन्थकार ने यहाँ केवल दो कोटियों की ओर ही संकेत किया है।

(iv) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-61)

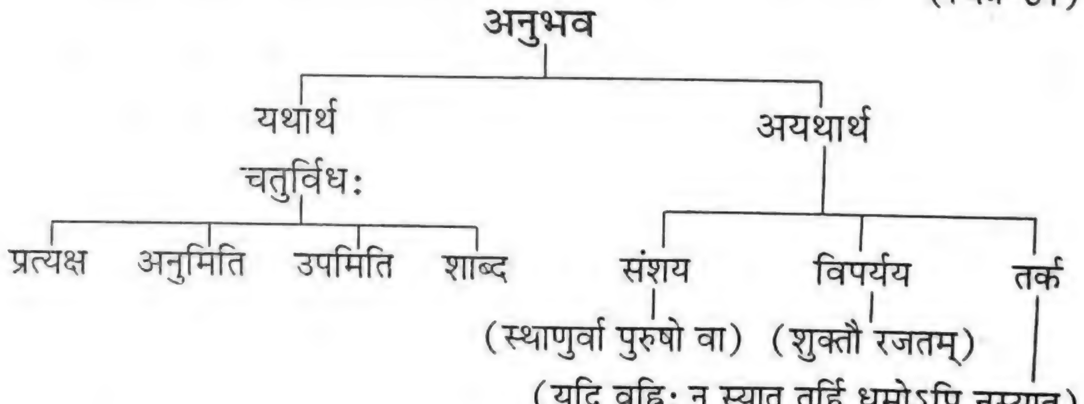

अवतरणिका–गुण लक्षण प्रकरण में बुद्धि के दो भेदों-स्मृति और अनुभव का उल्लेख किया था। जिनमें अनुभव नामक बुद्धि के भेदोपभेदों का यहाँ तक विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया। तत्पश्चात् प्रस्तुत अंश में स्मृति के भी भेदों का कथन करते हुए कहते हैं कि–

स्मृतेर्भेदौ–

स्मृतिरपि द्विविधा-यथार्थाऽयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्याऽयथार्था।

पदच्छेद–स्मृतिः अपि द्विविधा-यथार्था-अयथार्था च, प्रमा-जन्या यथार्था। अप्रमा-जन्या अयथार्था।

दीपिका–स्मृतिं विभजते–स्मृतिरिति।

अनुवाद–(संस्कार मात्र से उत्पन्न) स्मृति भी दो प्रकार की होती है–यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा (ज्ञान) से उत्पन्न यथार्थ स्मृति है (जबकि) अप्रमा से उत्पन्न होने वाली स्मृति अयथार्थ होती है।

चन्द्रिका–गुण लक्षण प्रकरण में ग्रन्थकार ने बुद्धि के स्मृति और अनुभव नामक दो भेदों का कथन करते हुए संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' कहा था। (संस्कारमात्रजन्यंग ज्ञानं स्मृतिः)। पुनः प्रसङ्ग प्राप्त होने पर अनुभव के समान यहाँ इसके भी ,यथार्थ स्मृति और अयथार्थ स्मृति रूप में दो भेद किए। साथ ही प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से होने वाली स्मृति को यथार्थ स्मृति बताया। जैसे–जब हम सीपी को देखकर उसे सीपी के रूप में ही स्मरण करते हैं, तो वह यथार्थ-स्मृति कहलाती है।

इसके विपरीत जब हमारा अनुभव अयथार्थ होता है, तो उसकी प्रमा से उत्पन्न स्मृति अयथार्थ कहलाती है। जैसे–सीपी में यद्यपि चाँदी की विद्यमानता नहीं है, किन्तु फिर भी हमें उसमें इसकी चमकादि के कारण चाँदी होने का भान होता है, इसका आधार वस्तुतः अयथार्थ स्मृति ही है, जिसके कारण चमक जैसी वस्तु को हम चाँदी समझ बैठते हैं।

वस्तुतः यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हम देखते हैं कि स्मृति भी अनुभव पर ही आधारित होती है, क्योंकि जैसा हमारा अनुभव होता है वैसी ही हमारी स्मृति भी होती है। यही कारण है कि अनुभव के यथार्थ और अयथार्थ के आधार पर ग्रन्थकार ने स्मृति के भी यथार्थ स्मृति और अयथार्थ स्मृति रूप से दो भेद किए हैं, क्योंकि यथार्थ अनुभव से ही यथार्थ स्मृति और अयथार्थ अनुभव से अयथार्थ स्मृति होती है।

इसका महत्त्वपूर्ण कारण यही है कि स्मृति कभी भी ज्ञान का सीधा साधन नहीं होती है, क्योंकि यह कभी भी उस स्थान अथवा समय पर नहीं होती, जब हम किसी

पदार्थ को देखते हैं, अपितु इन पदार्थों को एक या अधिक बार देखने से हमारे मन में उस वस्तु के प्रति कुछ संस्कार स्थापित हो जाते हैं। ये संस्थापित संस्कार ही कालान्तर में स्मृति कहलाते हैं। इसलिए स्मृति की यथार्थता अथवा अयथार्थता अनुभव की यथार्थता अथवा अयथार्थता पर आधारित होती है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार ने स्मृति के दो भेद किए हैं-यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ प्रमा से उत्पन्न स्मृति यथार्थ होती है, जबकि अयथार्थ प्रमा से उत्पन्न स्मृति अयथार्थ होती है।

(ii) ग्रन्थकार का 'स्मृति' विषयक विभाजन 'अनुभव' के भेदों पर ही आधारित है।

(iii) यही कारण है कि स्मृति की यथार्थता अथवा अयथार्थता हमारे मूल अनुभव की यथार्थता अथवा अयथार्थता पर निर्भर करती है।

(iv) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(चित्र-62)

ज्ञान / बुद्धि

द्विविधा

- स्मृति (संस्कार मात्रजन्यं ज्ञानम् स्मृतिः)
  - सा च द्विविधा
    - यथार्था (प्रमाजन्या यथार्था) (अयम् घटः)
    - अयथार्था (अप्रमाजन्याऽयथार्था) (शुक्तौ रजतम्)
- अनुभव (तद्भिन्नं ज्ञानम् अनुभवः)
  - सः च द्विविधः
    - यथार्थः
    - अयथार्थः

अवतरणिका–गुण विवेचन प्रकरण में ग्रन्थकार ने अभी तक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द और बुद्धि नामक कुल सोलह गुणों की उदाहरणपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की। पुनः प्रसङ्ग प्राप्त होने पर शेष गुणों-सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार को क्रमशः परिभाषित करते हैं कि–

सुखस्य लक्षणम्, दुःखस्य लक्षणम्, इच्छा-द्वेष-प्रयत्नानां लक्षणानि, धर्माऽधर्मयोर्लक्षणे, आत्ममात्रविशेषगुणाः, संस्कारभेदाः च

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः। विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्ध कर्मजन्यस्त्वधर्मः।

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्नाः द्विविधाः-नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्याः जीवस्य।

संस्कारस्त्रिविधः-वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादि-चतुष्टयमनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थाऽऽपादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः। इति गुणाः।

पदच्छेद–सर्वेषाम् अनुकूलवेदनीयम् सुखम्। सर्वेषाम् प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम्। इच्छा कामः। क्रोधः द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः। विहितकर्मजन्यः धर्मः। निषिद्ध-कर्मजन्यः तु अधर्मः।

बुद्धि-आदयः अष्टौ आत्म-मात्र-विशेषगुणाः। बुद्धि-इच्छा-प्रयत्नाः द्विविधाः-नित्या अनित्याः च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्याः जीवस्य।

संस्कारः त्रिविधः-वेगः, भावना, स्थिति-स्थापकः च इति। वेगः पृथिव्यादि-चतुष्टय-मनोवृत्तिः। अनुभव-जन्या स्मृतिः हेतुः भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथा कृतस्य पुनः तत् अवस्था आपादकः स्थिति-स्थापकः कटादि-पृथिवीवृत्तिः। इति गुणाः।

दीपिका–सुखं लक्षयति–सर्वेषामिति। सुख्यहमित्याद्यनुव्यवसायगम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम्। यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमिति द्रष्टव्यम्।

संस्कारं विभजते–संस्कार इति। संस्कारत्वजातिमान् संस्कारः। वेगस्याश्रयमाह–वेग इति। वेगत्वजातिमान् वेगः। भावनां लक्षयति–अनुभवेति। आत्मादावति-व्याप्तिवारणायानुभवेति। अनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय स्मृतीति। स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम्। स्थितिस्थापकं लक्षयति–अन्यथेति। सङ्ख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रवत्ववेगस्थितिस्थापकाः सामान्यगुणाः। अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः। द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्तिजातिमत्त्वं विशेषणगुणत्वम्।

अनुवाद–सबको अनुकूल प्रतीत होने वाला सुख होता है। सभी को प्रतिकूल

प्रतीत होने वाला दु:ख है। काम इच्छा है। क्रोध द्वेष है। कृति प्रयत्न है। विहित कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) धर्म है। निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) अधर्म है। बुद्धि आदि आठ केवल आत्मा में विद्यमान रहने वाले विशेष गुण हैं। बुद्धि, इच्छा एवं प्रयत्न नित्य और अनित्य भाव से दो प्रकार के होते हैं। (ये) ईश्वर के नित्य तथा जीव के अनित्य होते हैं।

(इसीप्रकार) वेग, भावना एवं स्थिति स्थापक भेद से संस्कार तीन प्रकार के होते हैं। (इनमें) वेग, पृथ्वी आदि चार और मन में स्थित रहता है तथा अनुभव से उत्पन्न और स्मरण की हेतु भावना केवल आत्मा में विद्यमान रहती है। (इसके अतिरिक्त) अन्यथा की हुई को फिर से उसी अवस्था में स्थापित कर देने वाला 'स्थिति-स्थापक' नामक गुण कटादि पृथिवी में रहता है। इसप्रकार केवल ये ही गुण हैं।

चन्द्रिका–ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट ने बुद्धि तक कुल सोलह गुणों की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की। तत्पश्चात् प्रस्तुत अंश में शेष बचे हुए आठ गुणों के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सभी प्राणियों द्वारा जिसका अनुकूल अनुभव किया जाता है, उसे सुख कहते हैं। इसीप्रकार जो सभी आत्माओं के लिए प्रतिकूलता के रूप में अनुभव होता है, वह दु:ख है।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति प्राप्त करने अथवा छोड़ने की जो कामना करता है, वही इच्छा है। क्रोध का प्रदर्शन ही 'द्वेष' है। कार्य को करने के संकल्प से लेकर पूर्णता तक किया गया प्रयास ही 'प्रयत्न' है। साथ ही वेद द्वारा बताए गए कर्मों की सम्पन्नता से उत्पन्न अदृष्ट ही 'धर्म' है, जबकि वेदों में जिन कार्यों का निषेध किया गया है, उन कर्मों को जानबूझकर अथवा अनजाने भी करने से उत्पन्न होने वाला 'अदृष्ट' ही अधर्म होता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि–बुद्धि, सुख, दु:ख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म इन आठ गुणों को ग्रन्थकार ने आत्मा के आठ विशेष गुण बताया है। इनमें बुद्धि, इच्छा एवं प्रयत्न नित्य होते हैं और प्राणिमात्र की बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न अनित्य की कोटि में आते हैं। जबकि शेष पाँच विशेष गुण प्राणिमात्र में रहने के कारण अनित्य की श्रेणी में आते हैं। प्रस्तुत स्थल पर विशेष गुण से ग्रन्थकार का अभिप्राय जो एक समय में एक ही पदार्थ में विद्यमान रहता है, उससे है, जैसे-संख्या।

दूसरे शब्दों में यहाँ ग्रन्थकार ने बुद्धि आदि आठ गुणों को आत्मा के विशेष

गुणों की संज्ञा प्रदान करते हुए, इनमें से बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न को नित्य, अनित्य भेद से दो प्रकार का बताया। इनमें ईश्वर के बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न नित्य होते हैं, जबकि जीव अर्थात्, जीवात्मा के बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न अनित्य होते हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने संस्कार को परिभाषित न करके सीधे ही इसके तीन भेदों–वेग, भावना और स्थिति स्थापक का उल्लेख किया तथा वेग की स्थिति पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार मूर्त पदार्थों के अतिरिक्त मन में भी बतायी, क्योंकि वेग गति सम्पन्न पदार्थों में ही रहता है। जबकि अनुभव से उत्पन्न भावना, स्मृति की जन्मदात्री है। जो केवल आत्मा में रहती है। इसीप्रकार संस्कार का स्थिति-स्थापक नामक तृतीय भेद वह शक्ति है, जो पदार्थ को अपने पूर्व रूप में ले आता है तथा कट (चटाई) आदि पृथिवी पदार्थों में विद्यमान रहता है। इतना विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार गुण प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि बस इतने ही गुण हैं।

विशेष–(i) सुख नामक गुण को प्रीति कहते हैं।

(ii) न्यायबोधिनीकार ने स्वयं के लिए अभीष्ट को सुख की संज्ञा प्रदान की है तथा इसीप्रकार दुःख भी अपने लिए विद्वेष का कारण कहा जा सकता है।

(iii) प्रयत्न से अभिप्राय यहाँ कार्य को करने के लिए सन्नद्ध होने के क्षण से ग्रहण करना चाहिए।

(iv) धर्म और अधर्म की परिभाषा में ग्रन्थकार ने वेद को महत्ता प्रदान करते हुए, उसके अनुकूल कार्यों से उत्पन्न पुण्य को धर्म तथा प्रतिकूल आचरण द्वारा उत्पन्न पाप को अधर्म माना है।

(v) आत्मा के विशेष गुणों की संख्या यहाँ आठ बतायी गयी है।

(vi) ग्रन्थकार ने बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म में से बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न इन तीनों के नित्य, अनित्य दो भेद किए हैं।

(vii) ईश्वर में नित्य बुद्धि, नित्य इच्छा और नित्य प्रयत्न नामक गुण विद्यमान रहते हैं।

(viii) जबकि अनित्य होने के कारण जीव में ये ही अनित्य बुद्धि, अनित्य इच्छा और अनित्य प्रयत्न के रूप में स्थित होते हैं।

(ix) ग्रन्थकार ने दीपिका टीका में भी संस्कार की परिभाषा नहीं दी है।

(x) यदि हम सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें तो 'भावना' ही वस्तुतः साक्षात् संस्कार है, जबकि वेग और स्थिति स्थापक साक्षात् संस्कार नहीं हैं।

(xi) भावना वस्तुतः ज्ञान के बाद उत्पन्न होने वाला गुण होता है, जो पहले ग्रहण किए गए ज्ञान का स्मरण कराती है।

(xii) यहाँ निर्दिष्ट स्थिति-स्थापक नामक संस्कार का भेद भौतिक विज्ञान के प्रत्यास्थता (Elasticity) नामक गुण से मिलता-जुलता है।

(xiii) वेग क्रिया का कारण है तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु तथा मन में स्थित रहता है।

(xiv) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है-

(चित्र-63)

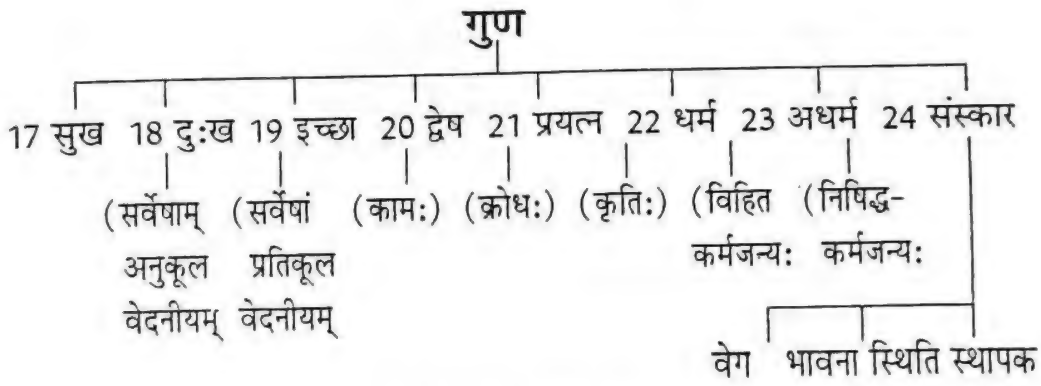

इति गुणनिरूपणम्।

•

अथ कर्मखण्डः

अवतरणिका–ग्रन्थ के प्रारम्भ में उल्लिखित चौबीस गुणों की व्याख्या के अनन्तर ग्रन्थकार 'कर्म' नामक तृतीय पदार्थ की सोदाहरण व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–

कर्मणो लक्षणं भेदाश्च–

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोग-हेतुरवक्षेपणम्। शरीरसन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्तिः।

पदच्छेद–चलनात्मकम् कर्म। ऊर्ध्व-देश-संयोग-हेतुः-उत्क्षेपणम्। अधः-देश-संयोग-हेतुः अवक्षेपणम्। शरीर-सन्निकृष्ट-संयोग-हेतुः आकुञ्चनम्। विप्रकृष्ट-संयोग-हेतुः प्रसारणम्। अन्यत् सर्वत् गमनम्। पृथिव्यादि- चतुष्टय-मनोमात्र-वृत्तिः।

दीपिका–कर्मलक्षणमाह–चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह-ऊर्ध्वेति। वक्रत्वसम्पादकं कर्म आकुञ्चनम्। ऋजुतासम्पादकं प्रसारणमित्यर्थ:।

अनुवाद–चलनात्मक क्रिया 'कर्म' नामक पदार्थ है। (उनमें) ऊर्ध्वदेश में संयोग का हेतु ही 'उत्क्षेपण' नामक कर्म है। अधोदेश में संयोग का कारण 'अवक्षेपण' नामक कर्म है। (इसीप्रकार) शरीर के समीप संयोग का हेतु 'आकुञ्चन' नामक कर्म है। (अपने शरीर से) दूर संयोग का कारण ही 'प्रसारण' है तथा शेष सभी 'गमन' नामक कर्म हैं। (ये सभी कर्म) पृथिवी आदि (जल, तेज, वायु) तथा मन में विद्यमान रहते हैं।

चन्द्रिका–इस अंश की विस्तारपूर्वक व्याख्या पृष्ठ संख्या 7-9 पर देखें। वहाँ ग्रन्थकार ने केवल 'कर्म' के भेदों का नामोल्लेखमात्र किया था। हमने उसकी व्याख्या प्रस्तुत प्रकरण के आधार पर ही की है। इसलिए पुनरावृत्ति से बचने के लिए यहाँ उसका पुन: उल्लेख नहीं किया जा रहा है। (द्रष्टव्य चित्र संख्या-4)

अवतरणिका–कर्म नामक पदार्थ का कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'सामान्य' नामक द्रव्य पदार्थ का उल्लेख करते हैं–

सामान्यस्य लक्षणं तस्य भेदौ च–

नित्यमेकमनेकाऽनुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधम्-परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

पदच्छेद–नित्यम् एकम् अनेक-अनुगतम् सामान्यम्। द्रव्य-गुण-कर्म-वृत्ति:। तत् द्विविधम्-पर-अपर-भेदात्। परम् सत्ता। अपरम् द्रव्यत्व-आदि।

दीपिका–सामान्यं लक्षयति–नित्यमिति। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय-नित्यमिति। परमाणुपरिमाणादावतिव्याप्तिवारणाय–अनेकेति। अनुगतत्वं समवेतत्वं, तेन घटाद्यत्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽप्यसमवेत इति नाभावादावतिव्याप्ति:।

अनुवाद–नित्य, एक एवं अनेक में स्थित रहने वाला (ही) सामान्य है। यह द्रव्य, गुण और कर्म में विद्यमान रहता है तथा पर और अपर भेद से वह दो प्रकार का होता है। (जिनमें) पर सामान्य सत्ता है, जबकि द्रव्यत्व आदि अपर हैं।

चन्द्रिका–विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य पृष्ठ 9-10 चित्र संख्या-8।

अवतरणिका–सामान्य नामक द्रव्य पदार्थ का उल्लेख करने के पश्चात् 'विशेष' नामक द्रव्य का कथन करते हुए कहते हैं कि–

विशेषलक्षणम्–

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

पदच्छेद–नित्य-द्रव्य-वृत्तयः व्यावर्तकाः विशेषाः।

दीपिका–विशेषं लक्षयति–नित्येति।

अनुवाद–नित्य द्रव्यों में विद्यमान रहने वाला व्यावर्तक ही विशेष हैं।

चन्द्रिका–विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या-11-12।

अवतरणिका–'विशेष' नामक द्रव्य का कथन करने के बाद ग्रन्थकार 'समवाय' नामक द्रव्य पदार्थ को स्पष्ट करते हैं–

समवायलक्षणम्–

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये, एकम-विनश्यदपराश्रितमेवाऽवतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा–अवयवाऽवयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

पदच्छेद–नित्य-सम्बन्धः समवायः। अयुत-सिद्ध-वृत्तिः। ययोः द्वयोः मध्ये एकम् अविनश्यत् अपर-आश्रितम् एव अवतिष्ठते, तौ अयुतसिद्धौ। यथा-अवयव-अवयविनौ, गुण-गुणिनौ, क्रिया-क्रियावन्तौ, जाति-व्यक्ती, विशेष-नित्य-द्रव्ये च इति।

दीपिका–समवायं लक्षयति–नित्यसम्बन्धेति। संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय-नित्येति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय-सम्बन्ध इति। अयुतसिद्धलक्षणमाह-ययोरिति! नीलो घट इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीति विशिष्टप्रत्ययवदिति समवायसिद्धिः। अवयवावयविनाविति। द्रव्यसमवायि-कारणमवयव.। तज्जन्यं द्रव्यमवयवि।

अनुवाद–समवाय (वस्तुतः) नित्य सम्बन्ध है। जो अयुतसिद्ध पदार्थों में विद्यमान रहता है। जिन दो पदार्थों में से एक अविनाश की अवस्था में (हमेशा) दूसरे पर आश्रित होकर ही स्थित रहता है। वे दोनों ही पदार्थ अयुत सिद्ध होते हैं। जैसे-अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा विशेष नित्य द्रव्य।

चन्द्रिका–विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या-12-16 चित्र संख्या-8।

अवतरणिका–'समवाय' नामक द्रव्य पदार्थ की विवेचना करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार अन्तिम सप्तम पदार्थ 'अभाव' का कथन करते हुए कहते हैं–

प्रागभावस्य लक्षणम्, प्रध्वंसाऽभावस्य लक्षणम्, अत्यन्ताऽभावस्य लक्षणमुदाहरणं च, अन्योन्याऽभावस्य लक्षणमुदाहरणं च–

अनादि सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा–' भूतले घटो नास्ती 'ति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा–घटः पटो नेति।

पदच्छेद–अनादि स–अन्तः प्राक्–अभावः। उत्पत्तेः पूर्वम् कार्यस्य। सादिः अनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्ति–अनन्तरम् कार्यस्य। त्रैकालिक–संसर्ग–अवच्छिन्न–प्रतियोगिताकः अत्यन्त–अभावः। यथा–'घटः पटः न इति'।

दीपिका–प्रागभावं लक्षयति–अनादिरिति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय–सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनादिरिति। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहारहेतुः प्रागभावः। प्रध्वंसं लक्षयति–सादिरिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय–सादिरिति। प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिर्ध्वस्त इति व्यवहारहेतुः ध्वंसः।

अत्यन्ताभावं लक्षयति–त्रैकालिक इति। अन्योन्याभावेऽति–व्याप्तिवारणाय–संसर्गावच्छिन्नेति। ध्वंसप्रागभावयोरतिव्याप्तिवारणाय–त्रैकालिकेति।

अन्योन्याभावं लक्षयति–तादात्म्येति। प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरप्यत्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। केवलदेवदत्ताभावाद् दण्ड्यभाव इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः। एकसत्त्वेऽपि द्वौ न स्तः इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नाऽभावः, संयोगसम्बन्धेन च घटवति समवायसम्बन्धेन घटाभावः, तत्तद्घटाभावाद् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसामान्याभावश्चातिरिक्तः। एवमन्योन्याभावोऽपि। घटत्वेन पटो नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावो नाङ्गीक्रियते। पटे घटत्वं नास्तीति तस्यार्थः। अतिरिक्तत्वे स केवलान्वयी।

सामयिकाभावोऽप्यत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। घटाभाववति घटानयनेऽत्यन्ताभावस्यान्यत्र गमनाभावेऽप्यप्रतीतेर्घटापसरणे सति प्रतीतेः। भूतले घटसंयोगप्रागभावप्रध्वंसयोर्घटात्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते। घटवति

तत्संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरसत्त्वादत्यन्ताभावस्याप्रतीतिः, घटापसरणे च संयोगध्वंससत्त्वात्प्रतीतिरिति। केवलाधिकरणेनैव नास्तीति व्यवहारोपपत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः, तत्र; अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अभावाभावो भाव एव, नातिरिक्तोऽनवस्थाप्रसङ्गात्। ध्वंसप्रागभावः, प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येवेति प्राञ्चः। अभावाभावस्त्वतिरिक्त एव। तृतीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नानवस्थेति नवीनाः।

अनुवाद-जिसका आदि न हो तथा अन्त-सहित 'प्राक्-अभाव' होता है तथा उत्पत्ति से पहले कार्य का 'प्रागभाव' होता है। जिसका प्रारम्भ तो हो किन्तु अन्त न हो, वह प्रध्वंस नामक अभाव है। उत्पत्ति के बाद ही कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है। (इसीप्रकार) तीनों कालों में होने वाला तथा संसर्ग की प्रतियोगिता से अवच्छिन्न ही 'अत्यन्ताभाव' होता है। जैसे-भूतल पर घट नहीं है। (इसके अलावा) जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से आच्छादित होती है, वह 'अन्योन्याभाव' है। जैसे-घट, पट नहीं है।

चन्द्रिका–विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या-16-19 चित्र संख्या-9।

अवतरणिका–इसप्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में उल्लिखित सभी द्रव्य पदार्थों का विस्तृत विवेचन करने के बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि-

पदार्थोपसंहारः–

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।।

पदच्छेद–सर्वेषाम् पदार्थानाम् यथा-यथम् उक्तेषु अन्तर्भावात् सप्त एव पदार्थाः इति सिद्धम्।

दीपिका–ननु 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ताऽवयव-तर्कनिर्णयवाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः-श्रेयसाधिगम' इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात् कथं सप्तैवेत्यत आह-सर्वेषामिति। सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः। आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयमिति द्वादशविधं प्रमेयम्। प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ। रागद्वेषमोहा दोषाः। रागः इच्छा। द्वेषो मन्युः। मोहः शरीरादावात्मत्वभ्रमः। प्रेत्यभावो मरणम्। फलं भोगः। अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनो दुःखध्वंसः। प्रयोजनं सुखप्राप्तिः दुःखहानिश्च। दृष्टान्तो महानसादिः। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगताऽर्थः सिद्धान्तः। निर्णयो

निश्चयः, स च प्रमाणफलम्। तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीना (अपरपक्षविदलनमात्रावसाना) वितण्डा। कथा नाम–नानावक्तृकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः। अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्। असदुत्तरं जातिः। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्याकार्यसमा जातयः। वादिनोपजयहेतुर्निग्रहस्थानं प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थकमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। शेषं सुगमम्। ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेन्न; प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात्। कारणत्वस्यैव शक्तिपदार्थत्वात्। ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाधेयशक्तिरङ्गीकार्येति चेन्न, भस्मादिसंयोगसमानकालीनास्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावदभावसहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात्। स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम्। यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य स्वत्वस्वरूपत्वात्, तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति।

अथ विधिर्निरूप्यते–प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः। तत्प्रतिपादको लिङ्गादिर्वा। कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्ये प्रवृत्तिदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम्। न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः। इष्टसाधनतालिङ्गककृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले, नित्यनैमित्तिकस्थले च विहितकाल जीवित्वनिमित्तकज्ञानजन्यत्वस्य (नित्यनैमित्तिकस्थले) प्रवर्तकत्वात्। न चाननुगमः। स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यत्वस्यानुगतत्वादिति गुरवः। तन्न; लाघवेन कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात्। न च नित्यनैमित्तिकस्थले इष्टसाधनात्वाभावादप्रवृत्तिप्रसङ्गः। तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात्। तस्मात् कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङ्गाद्यर्थः।

ननु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र लिङ्गास्वर्गसाधनमपूर्वकार्यं प्रतीयते, यागस्याशुतरविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात्तद्योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङ्गाद्यर्थः, कार्यं कृतिसाध्यं, कृतेः सविषयत्वाद्। विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेनान्वेति। कस्य कार्यमिति नियोज्याकाङ्क्षायां 'स्वर्गकामपदं नियोज्यः परतयान्वेति' कार्यबोद्धा नियोज्यः। तेन ज्योतिष्टोमनामकयागविषयकं स्वर्गकामस्य

कार्यमिति वाक्यार्थः सम्पद्यते। वैदिकलिङ्त्वात् 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति नित्यवाक्येऽप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते। 'आरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यात्' इत्यादौ लौकिकलिङः क्रियाकार्ये लक्षणेति चेन्न; यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेन इष्टसाधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वाहार्थमवान्तरव्यापारतयाऽपूर्वकल्पनात्। कीर्तनादिना नाशश्रुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः। लोकव्युत्पत्तिबलात् क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङ्गा बोध्यत इति लिङ्त्वेन रूपेण विध्यर्थकत्वम्। आख्यातत्वेन प्रयत्नार्थकत्वम्। 'पचति' 'पाकं करोती'ति विवरणदर्शनात्, किं करोतीति प्रश्ने पतीत्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्वनिश्चयात्। रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा। 'देवदत्तः पचति तण्डुलान्, देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः' इत्यत्र कर्तृकर्मणोर्नाख्यातार्थत्वम्। किन्तु तद्गतैकत्वादीनामेव। तयोराक्षेपादेव लाभः। प्रजयतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः। उपसर्गाणां द्योतकत्वेन, न तत्र शक्तिरस्ति।

पदार्थतत्वज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः। तथाहि–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्योः, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या श्रवणादीनामात्मतत्त्वसाक्षात्कारे हेतुत्वबोधनात्। श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यप्यसम्भावनानिवृत्तेर्युक्त्यनु-सन्धानरूपमननसाध्यत्वात्। मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगित्वम्। तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावहमित्यभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति, दोषाभावात्प्रवृत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावात्, जन्माभावे पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणो मोक्षो जायते। ज्ञानमेव मोक्षसाधनम्, मिथ्याज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात्। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति साधनान्तरनिषेधाच्च। ननु 'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुनेः'। इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वस्मरणाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेन्न; 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्। अभ्यासात्मकविज्ञानं कैवल्यं लभते नरः।' इत्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात्। ज्ञानद्वारैव कर्म मोक्षसाधनं, न साक्षात्। तस्मात्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य मोक्षः परमं प्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम्।

अनुवाद–वस्तुतः सभी पदार्थों का यथोचित रूप में ऊपर विवेचित (कहे गए) पदार्थों में ही अन्तर्भाव होने के कारण, यह सिद्ध होता है कि कुल सात ही पदार्थ हैं। (इससे कम अथवा अधिक नहीं हैं)।

अवतरणिका—इसप्रकार कुल सात पदार्थों की सिद्धि एवं उनका सोदाहरण विवेचन करने के पश्चात् तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट कहते हैं कि-

कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नंभट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।।

अन्वय—कणाद-न्यायमतयोः बाल-व्युत्पत्ति-सिद्धये विदुषा अन्नंभट्टेन तर्कसंग्रहः रचितः।

अनुवाद—महर्षि कणाद और न्यायदर्शन के (सिद्धान्तों के) सम्बन्ध में बालकों की कुशलता को सिद्ध करने के लिए विद्वान् अन्नंभट्ट द्वारा (इस) तर्कसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की गई।

चन्द्रिका—ग्रन्थकार ने प्रस्तुत तर्कसंग्रह की संरचना करते हुए महर्षि कणाद और न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का अत्यन्त सरलरूप में प्रतिपादन किया है और इसका उद्देश्य बालकों को अत्यन्त सरल शैली में इन सिद्धान्तों से परिचित कराना रहा है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट ने इस लघुकृति में अपने इस प्रयोजन को अत्यन्त कुशलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत किया है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में न्याय एवं कणाद के जटिल सिद्धान्तों का सरल भाषाशैली में प्रस्तुतीकरण ही इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जिसमें ग्रन्थकार को अप्रत्याशित सफलता भी प्राप्त हुई है। तर्कसंग्रह की लोकप्रियता इस बात का प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण है।

विशेष—(i) प्रस्तुत ग्रन्थ में महर्षि कणाद के सिद्धान्तों का अनुकरण करने के साथ-साथ न्यायदर्शन के सिद्धान्तों में भी आस्था व्यक्त करते हुए विवेचन किया गया है।

(ii) ग्रन्थकार द्वारा इस कृति की संरचना के उद्देश्य की ओर संकेत किया गया है।

(iii) आशय यह है कि इस ग्रन्थ में न्यायवैशेषिक के जटिल सिद्धान्तों को इतनी सरल अभिव्यक्ति प्रदान की गई है कि बालक (बाल बुद्धि व्यक्ति) भी इन्हें आसानी से हृदयङ्गम कर सकता है।

(iv) तर्कसंग्रह सामान्यरूप से वैशेषिकदर्शन का ग्रन्थ है, जिसके प्रणेता महर्षि कणाद माने गए हैं, किन्तु फिर भी इसमें ग्रन्थकार का स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा

है। अतः कुछ स्थलों पर इन्होंने न्यायदर्शन के सिद्धान्तों में अपनी गहन आस्था व्यक्त की है।

(v) 'विशेष' नामक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा जाता है। सर्वदर्शन संग्रह में इसे औलूक्य दर्शन भी कहा गया है। तदनुसार इसके प्रणेता 'उलूक' नामक आचार्य थे, किन्तु ग्रन्थकार ने महर्षि कणाद को ही इसका प्रणेता मानकर उनके नाम का यहाँ उल्लेख किया है।

(vi) तर्कसंग्रह में ग्रन्थकार ने वस्तुतः 'तर्क' शब्द से व्यवहृत होने वाले द्रव्यादि सात पदार्थों की ही सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है।

(vii) यहाँ प्रयुक्त विदुषा पद ग्रन्थकार के वैदुष्य के प्रति 'अहंमन्य' की भावना को भी व्यक्त करता है।

।। इति श्रीमदन्नम्भट्टविरचितस्तर्कसङ्ग्रहः समाप्तः।।

।। इसप्रकार श्रीमत् अन्नंभट्ट द्वारा विरचित तर्कसंग्रह समाप्त हुआ।।

।। तथा डॉ० राकेश शास्त्री द्वारा विरचित 'चन्द्रिका' व्याख्या भी पूर्ण हुई।।

• • •

(चित्र-1)

परिशिष्ट-1

वैशेषिकदर्शन के पदार्थ (सात)

- द्रव्य (नौ)
- गुण (चौबीस)
- कर्म (चलनात्मकम्) (पाँच)
  - उत्क्षेपण
  - अवक्षेपण
  - आकुञ्चन
  - प्रसारण
  - गमनम्
- सामान्य (दो)
  - नित्यम्
  - एकानुगतम्
    - पर (सत्ता)
    - अपर (द्रव्यत्वादि)
      - (द्रव्यगुणकर्मवृत्तिः)
- विशेष
  - अनन्त (नित्यद्रव्यवृत्तयः व्यावर्तकाः)
- समवाय (एक)
  - (नित्य सम्बन्धः एकः)
    - (अयुतसिद्धवृत्तिः)
      - अयुतसिद्धौ (ययोः द्वयोः मध्ये एकम् अविनश्यद्-अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते तौ)
        - अवयव-अवयवी
        - गुण-गुणी
        - क्रिया-क्रियावान्
        - जाति-व्यक्ति
        - विशेष-नित्य
- अभाव (चार)

वैशेषिकदर्शन के द्रव्य (नौ)

(चित्र-2)

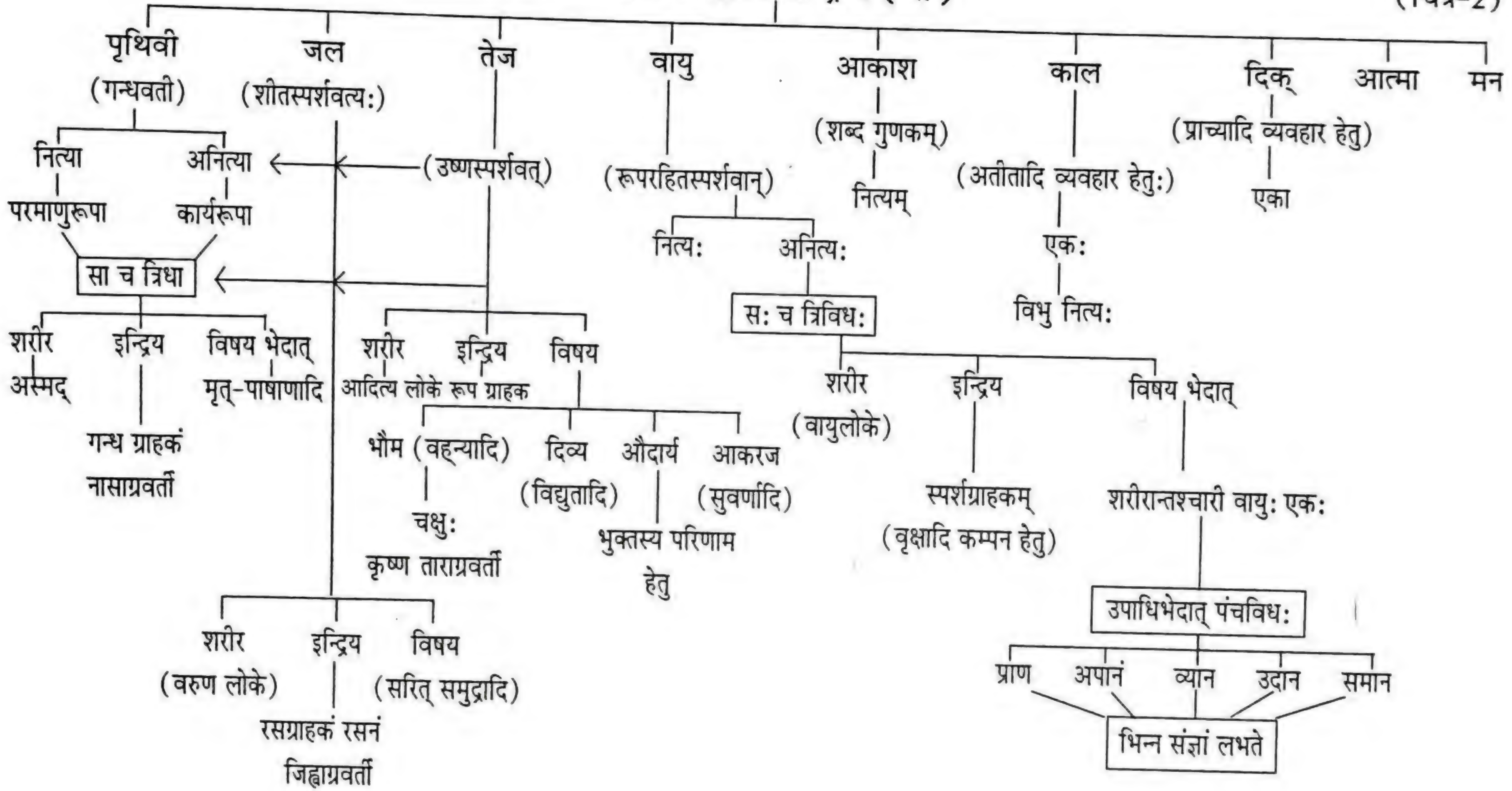

(क) वैशेषिकदर्शन के गुण (चौबीस)

(चित्र-3 क)

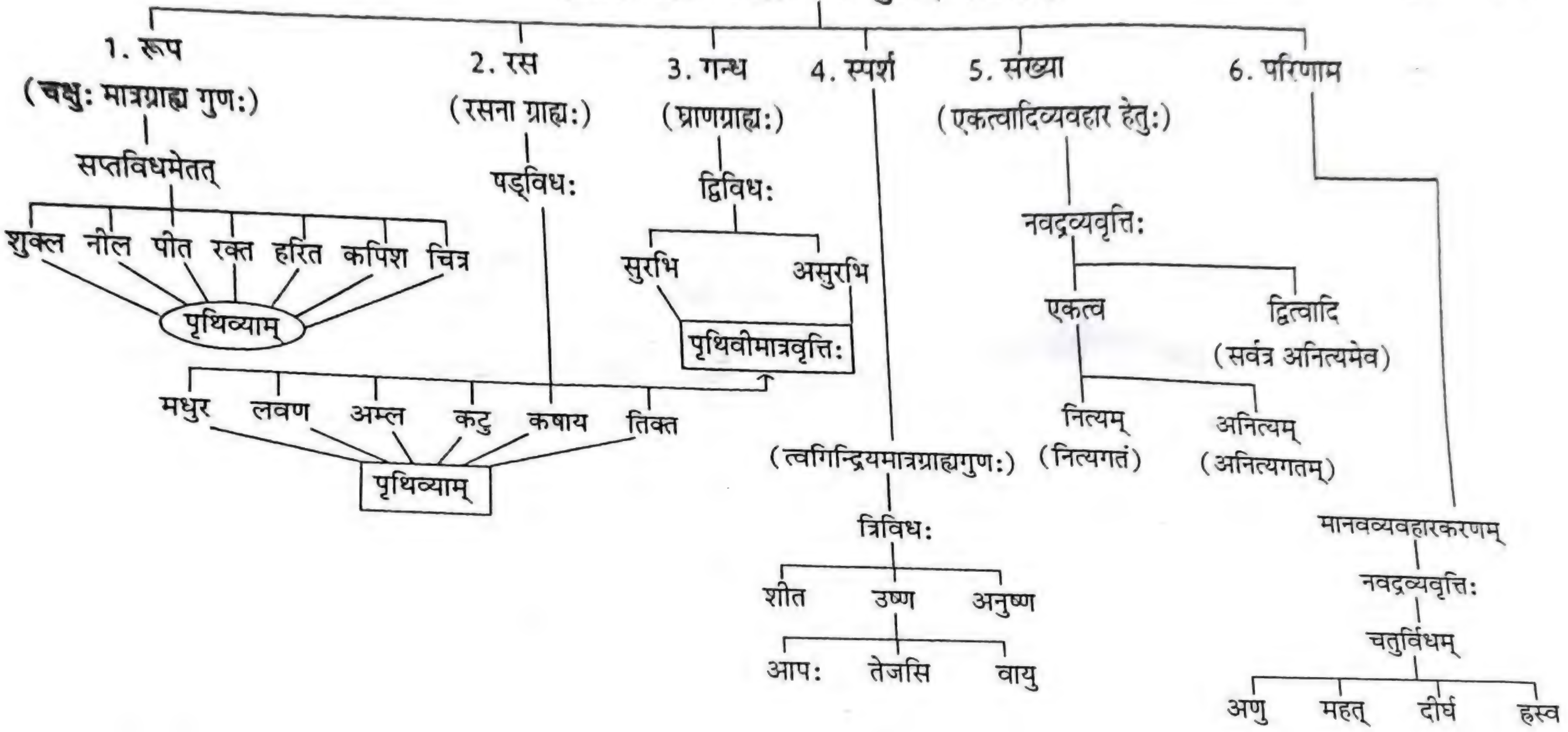

Contd............

(ख) वैशेषिकदर्शन के गुण (चौबीस)

(चित्र-3 ख)

- 7. पृथक्त्व
  - (पृथक् व्यवहार कारणम्)
    - सर्वद्रव्यवृत्तिः
- 8. संयोग
  - (संयुक्तव्यवहारहेतुः)
    - सर्वद्रव्यवृत्तिः
- 9. विभाग
  - (संयोगनाशक गुणः)
    - सर्वद्रव्यवृत्तिः
- 10. परत्व / 11. अपरत्व
  - (पर-अपरव्यवहार-असाधारणे कारणः)
    - पृथिव्यादि चतुष्टयमनोवृत्तिः
      - द्विविधे
        - दिक्कृतम् / कालकृतम्
          - दूरस्थेदिक्कृतम् परत्वम्
          - समीपस्थेदिक्कृतम् अपरत्वम्
          - ज्येष्ठेकालकृतम् परत्वम्
          - कनिष्ठे कालकृतम् अपरत्वम्
- 12. गुरुत्व
  - (आद्यपतन-असमवायिकारणम्)
    - पृथिवीजलवृत्तिः
      - द्विविधः
        - सांसिद्धिकम्
          - जले
            - घृतादौ अग्नि संयोगजन्यं द्रव्यत्वम्
        - नैमित्तिकम्
          - पृथिवी-तेजसोवृत्तिः
            - तेजसि
              - सुवर्णादौ

Contd...........

(चित्र-3 ग)

(ग) वैशेषिकदर्शन के गुण (चौबीस)

- 13. द्रवत्व
  - (आद्य स्यन्दन-असमवायिकारणम्)
    - पृथिवी-अप्-तेजसोवृत्तिः
- 14. स्नेह
  - चूर्णादिपिण्डीभाव हेतुः गुणः
    - जलमात्र वृत्तिः
- 15. शब्द
  - (श्रोत्रग्राह्यः)
    - द्विविधः
      - ध्वन्यात्मक (भेर्यादौ)
      - वर्णात्मक (संस्कृत भाषादिरूपः)
- 16. बुद्धि
  - (सर्वव्यवहारहेतु गुणः)
    - द्विविधः
      - स्मृतिः (संस्कारजन्यं ज्ञानम्)
      - अनुभवः (तद्भिन्नम् अनुभवः)
- 17. सुख
- 18. दुःख
- 19. इच्छा
- 20. द्वेष
- 21. प्रयत्न
- 22. धर्म
- 23. अधर्म
- 24. संस्कार

(चित्र-4)

प्रमाणम्

- **प्रत्यक्ष**
  (प्रत्यक्षज्ञानं करणं प्रत्यक्षम्)
  (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यम्)
  तच्च द्विविधम्
  - सविकल्पकम् — सप्रकारकम् ज्ञानम् — यथा — डित्थोऽयं श्यामोऽयम्
  - निर्विकल्पकम् — निष्प्रकारकम् ज्ञानम् — यथा — इदं किञ्चित्
- **अनुमान**
  (अनुमिति करणम्)
  तच्च द्विविधम्
  - स्वार्थानुमान
    स्वयं बार-बार धूम और अग्नि के साहचर्य को देखने से "यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" विषयक ज्ञान को प्राप्त करके
    पर्वत में धूम देखकर
    अग्नि का अनुमान करना
  - परार्थानुमान
    स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करके
    पर्वत में अग्नि के ज्ञान को
    अनुमिति कराना (परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमिति)
- **उपमान**
  (उपमितिकरणम्)
  (संज्ञा संज्ञि सम्बन्धत्व ज्ञानमुपमिति)
  तत्करणम् सादृश्यज्ञानम्
  यथा
  कश्चित् गवय पदार्थम् अजानन्, कुतश्चिद् आरण्यक पुरुषात् 'गो सदृशो गवय' इति श्रुत्वा वनं गतवान्। 'गो सदृशः गवय' इति वाक्यार्थं स्मरन् गो सदृशं पिण्डं पश्यति। अनन्तरं असौ अयं गवयः इति
  उपमितिं गृह्णाति
- **शब्द**
  (आप्तवाक्यं शब्दः)
  1. यथार्थवक्ता आप्तः
  2. पदसमूहः वाक्यम्
  3. शक्तम् पदम्
  4. अस्मात् पदार्थात् अयम् अर्थो बोद्धव्यः इति संकेतः
  शक्तिः

(चित्र-5)

(क) वाक्यार्थज्ञान हेतवः

- आकांक्षा
  - (पदस्य पदान्तर-व्यतिरेक-प्रयुक्त-अन्वय-अनुभावकत्वम् आकांक्षा)
- योग्यता
  - (अर्थ-अबाधः-योग्यता)
- सन्निधिः
  - (पदानाम्-अविलम्बेन-उच्चारणं-सन्निधिः)

(ख) अनुभवः

त्रिविधः

- संशय
  - एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नानाधर्म वैशिष्ट्य-अवगाहिज्ञानम्
  - यथा
  - स्थाणु र्वा पुरुषः वा, इति
- विपर्ययः
  - मिथ्याज्ञानं विपर्ययः
  - यथा
  - शुक्तौ
  - ('इदं रजतम्')
- तर्कः
  - व्याप्य-आरोपेण व्यापक आरोपः, तर्कः
  - यथा
  - यदि वह्निः न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति

(ग) स्मृतिः

ज्ञातविषयस्य ज्ञानं स्मृतिः

सा च द्विविधा

- यथार्था (प्रमाजन्या)
- अयथार्था (अप्रमाजन्या)

(चित्र-6)

प्रत्यक्षज्ञान हेतुः- इन्द्रियार्थ सन्निकर्षः

स च षड्विधः

- **संयोग** — (चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने) सन्निकर्षः
- **संयुक्त समवाय** — (घटरूप प्रत्यक्षजनने) सन्निकर्षः
  - चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्
- **संयुक्त समवेत समवाय** — (रूपत्व-सामान्य-प्रत्यक्षे) सन्निकर्षः
  - चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्
- **समवाय** — (श्रोत्रेण शब्द साक्षात्कारे) सन्निकर्षः
  - कर्णविवरवर्ति आकाशस्य श्रोत्रत्वात्
    - शब्दस्य आकाशगुणत्वात्
- **समवेत समवाय** — (शब्दस्य साक्षात्कारे) सन्निकर्षः
  - श्रोत्र समवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्
- **विशेषणविशेष्यभाव** — (विशेषण विशेष्यभाव प्रत्यक्षे) सन्निकर्षः
  - घट-अभाववद् भूतलम् चक्षुः संयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्

(चित्र-7)

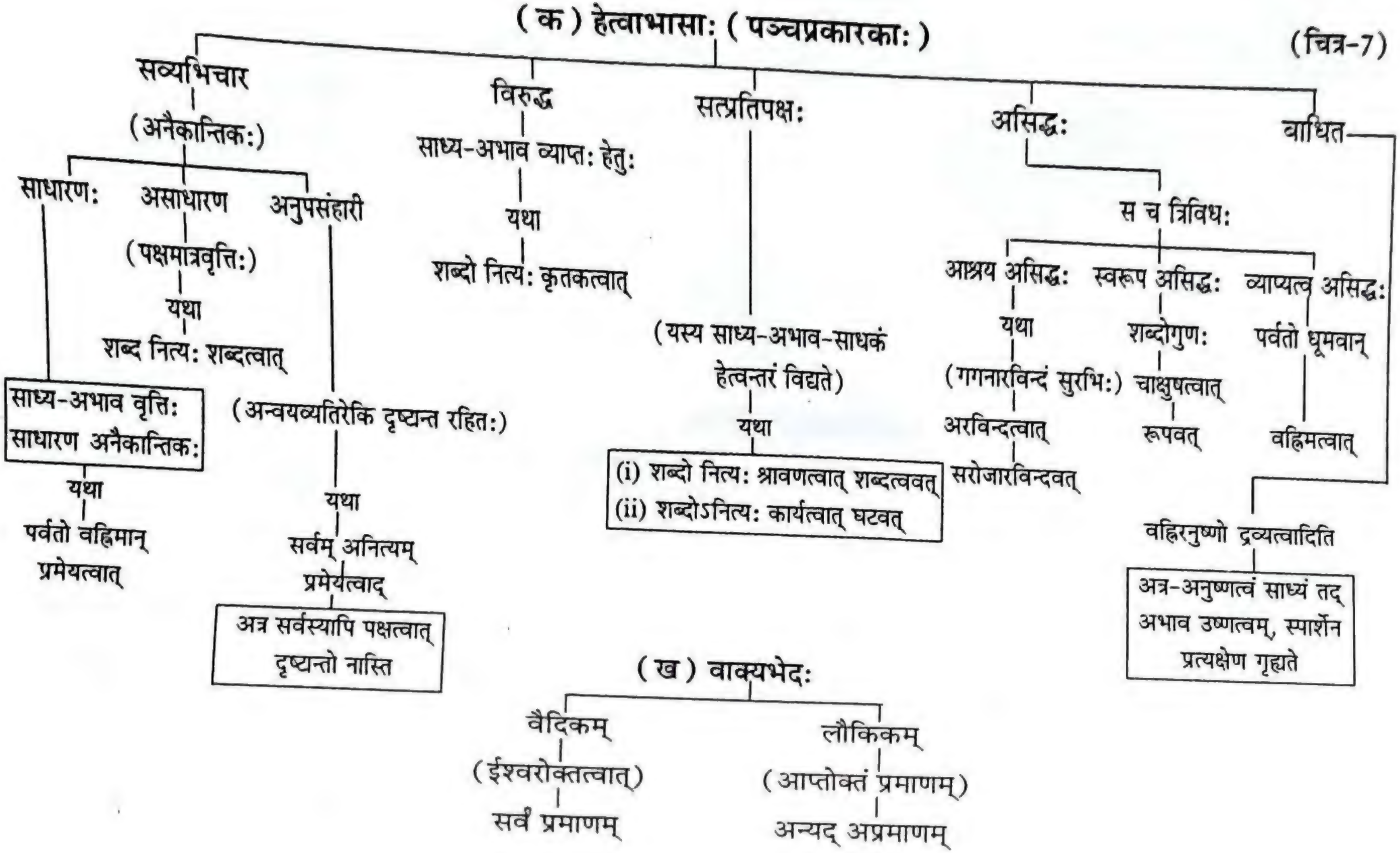
(क) हेत्वाभासा: (पञ्चप्रकारका:)
सव्यभिचार
(अनैकान्तिक:)
साधारण:
असाधारण
अनुपसंहारी
(पक्षमात्रवृत्ति:)
यथा
शब्द नित्य: शब्दत्वात्
साध्य-अभाव वृत्ति: साधारण अनैकान्तिक:
यथा
पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्
(अन्वयव्यतिरेकि दृष्यन्त रहित:)
यथा
सर्वम् अनित्यम् प्रमेयत्वाद्
अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वात् दृष्यन्तो नास्ति
विरुद्ध
साध्य-अभाव व्याप्त: हेतु:
यथा
शब्दो नित्य: कृतकत्वात्
सत्प्रतिपक्ष:
(यस्य साध्य-अभाव-साधकं हेत्वन्तरं विद्यते)
यथा
(i) शब्दो नित्य: श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्
(ii) शब्दोऽनित्य: कार्यत्वात् घटवत्
असिद्ध:
स च त्रिविध:
आश्रय असिद्ध:
स्वरूप असिद्ध:
व्याप्यत्व असिद्ध:
यथा
(गगनारविन्दं सुरभि:)
अरविन्दत्वात्
सरोजारविन्दवत्
शब्दोगुण:
चाक्षुषत्वात्
रूपवत्
पर्वतो धूमवान्
वह्निमत्वात्
बाधित
वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति
अत्र-अनुष्णत्वं साध्यं तद् अभाव उष्णत्वम्, स्पार्शेन प्रत्यक्षेण गृह्यते
(ख) वाक्यभेद:
वैदिकम्
(ईश्वरोक्तत्वात्)
सर्वं प्रमाणम्
लौकिकम्
(आप्तोक्तं प्रमाणम्)
अन्यद् अप्रमाणम्

(चित्र-8)

(क) अनुमान प्रमाण विषये पञ्चावयव वाक्यम्

- प्रतिज्ञा
  - पर्वतोऽयं वह्निमान्
  - (यह पर्वत अग्नि वाला है)
- हेतु
  - (धूमत्वात्)
  - (धूमवाला होने से)
- उदाहरण
  - यथा
  - महानसे
  - (जैसा रसोईघर में)
- उपनय
  - तथा चायम्
  - (वैसा ही यह भी धूम वाला है)
- निगमन
  - तथा अयमपि अग्निमान्
  - (तस्मात् तथा)
  - (अतः इस कारण यह भी अग्निमान् है)

(ख) अनुमाने पक्षादिकाः

- पक्ष
  - (संदिग्ध साध्यवान्-पक्षः)
  - यथा
  - धूमवत्वे हेतौ
  - पर्वतः
- सपक्ष
  - (निश्चित साध्यवान्-सपक्षः)
  - यथा
  - तत्रैव महानसः
  - रसोईघर
- विपक्ष
  - (निश्चित् साध्य-अभाववान्-विपक्षः)
  - यथा
  - तत्रैव
  - महाह्रदः
  - (तालाब)

(चित्र-९)

कारणम्

- कार्यं प्राक् अभाव प्रतियोगि कारणम्
- कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम्

तच्च त्रिविधम्

- समवायी (यत्समवेतं कार्यम् उत्पद्यते)
  - यथा
    1. तन्तवः पटस्य
    2. पटश्च स्वगतरूपादेः
- असमवायी (कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतत्त्वे सति, यत् कारणम्)
  - यथा
    1. तन्तु-संयोगः पटस्य
    2. तन्तु-रूपं पटरूपस्य
- निमित्त (तद् उभयभिन्नं कारणम्)
  - यथा
    1. तुरी वेमादिकं पटस्य

असाधारण कारणम्

करणम्

(यत् त्रिविध-कारणमध्ये-असाधारण कारणम्-तदेव)

(चित्र-10)

लिङ्गम्

त्रिविधम्

1. **अन्वयव्यतिरेकि**
   - (अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमत्)
   - यथा
   - वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्
   - (i) अन्वय व्याप्तिः
   - (यत्र धूमः तत्र वह्निः, यथा-महानसम् अन्वय व्याप्तिः)
   - (ii) व्यतिरेक व्याप्तिः
   - (यत्र वह्निः, नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा ह्रदः)

2. **केवलान्वयि**
   - (अन्वयमात्र व्याप्तिकं केवलान्वयि)
   - यथा
   - घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्
   - अत्र प्रमेयत्व-अभिधेयत्वयोः व्यतिरेक-व्याप्तिः नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वात् अभिधेयत्वाच्च।

3. **केवल व्यतिरेकि**
   - (व्यतिरेकमात्र व्याप्तिकम्)
   - यथा
   - पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्
   - यद् इतरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्
   - यथा
   - जलम्
   - न चेयं तथा तस्मात् न तथा इति
   - अत्र यद् गन्धवत् तद् इतर भिन्नम् इति अन्वय दृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्र पक्षत्वात्

परिशिष्ट-2

तर्कसंग्रहकार एवं उनकी कृति के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें

1. तर्कसंग्रह रचयिता – अन्नंभट्ट
2. अन्नंभट्ट की जन्मभूमि - कर्णाटक
3. न्यायदर्शन का समानधर्मा दर्शन – वैशेषिक
4. अन्नंभट्ट के इष्टदेव – शिव
5. तर्कसंग्रह के प्रकरण – आठ
6. प्रमेय पदार्थों की संख्या – सात
7. कर्म संख्या - पाँच
8. अभावों की संख्या – चार
9. पृथिवी आदि पदार्थों की संख्या – नौ
10. रूपादि गुणों के भेद – चौबीस
11. न्यायदर्शन के प्रमाण – चार
12. आत्मा के गुणों की संख्या – आठ
13. सम्बन्धों के प्रकार – दो
14. अभाव के प्रकार – चार
15. अव्याप्ति आदि दोषों के प्रकार – तीन
16. पृथिवी के प्रकार – दो
17. अनित्य पृथिवी के प्रकार – तीन
18. अनित्य जल के भेद – तीन
19. तेज के विषय – चार
20. सुवर्णादि के तेज का प्रकार – आकरज

21. प्राण वायु के प्रकार – पाँच
22. दिशा के भेद – दस
23. आत्मा के प्रकार – दो
24. रूप के प्रकार – सात
25. रूप की द्रव्यों में स्थिति – तीन में
26. रस के प्रकार – छः
27. गन्ध के प्रकार – दो
28. स्पर्श के प्रकार – तीन
29. संख्या की द्रव्यों में स्थिति – नौ में
30. परिमाण के भेद – चार
31. अनित्य परिमाणों के प्रकार – तीन
32. परत्व-अपरत्व के प्रकार – दो
33. गुरुत्व की स्थिति – पृथिवी और जल में
34. द्रव्यत्व की स्थिति – पृथिवी, जल और तेज
35. आकाश का विशेष गुण – शब्द
36. शब्द के प्रकार – ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक
37. बुद्धि के भेद – दो
38. अनुभव के प्रकार – दो
39. यथार्थ अनुभव के प्रकार – चार
40. कारण के भेद – तीन
41. प्रत्यक्ष के भेद – दो
42. इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध के प्रकार – छः
43. अनुमान के भेद – दो
44. लिङ्ग के प्रकार – तीन
45. हेत्वाभास के प्रकार – पाँच
46. सव्यभिचार हेत्वाभास के प्रकार – तीन
47. असिद्ध हेत्वाभास के प्रकार – तीन
48. अन्यथासिद्ध के भेद – पाँच
49. "गगनारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात्" में हेत्वाभास – आश्रय असिद्ध

• • •

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. भारतीय दर्शन शास्त्र (न्यायवैशेषिक), डॉ० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1953।
2. सांख्यकारिका, व्याख्याकार-डॉ० राकेश शास्त्री, संस्कृत ग्रन्थकार, दिल्ली, 1998।
3. दशपदार्थ शास्त्र, डॉ० एच० ऊई।
4. महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर।
5. तर्कसंग्रह, डॉ० बोडास।
6. तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2004।
7. न्याय एवं वैशेषिकदर्शन, संपादक, श्री राम शर्मा, शान्तिकुञ्ज हरिद्वार, सं. 2051।
8. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1971।
9. वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी, 2000।
10. किरणावली, उदयनाचार्य, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
11. भारतीय दर्शन, डॉ० एस० राधाकृष्णन्। अनु० नन्द किशोर गोभिल (भाग 1-2), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2002।
12. प्रशस्तपादभाष्यभूमिका, तर्काचार्य।
13. जर्नल ऑफ दॉ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, वोल्यूम-31।
14. वैशेषिक फिलोसफी, डॉ० एच० ऊई।
15. प्राइमर ऑफ इंडियन लॉजिक, कुप्पूस्वामी, मद्रास।
16. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ० हरिदत्त शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1966।
17. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1944।

18. क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री।
19. भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, शारदा गांधी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975।
20. नैषधचरित प्रकाशिका, नारायण भट्ट।
21.A न्याय लीलावत्ती, राजशेखर।
21.B न्याय कुसुमाञ्जलि।
21.C न्यायकन्दली।
22. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, डॉ० एस०एन० दास गुप्त।
23. वैशेषिकसूत्र।
24. प्रशस्तपाद भाष्य, व्याख्याकार-डॉ० श्री नारायण मिश्र, का० सं० ग्रन्थमाला, 173।
25. शृङ्गारप्रकाश।
26. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा टीका।
27. किरणावली, उदयनाचार्य।
28. संस्कृत साहित्य का इतिहास, ए०बी० कीथ, अनु० मंगलदेव शास्त्री।
29. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1980।
30. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुख मुनि, व्याख्याकार-स्वामी योगीन्द्र, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, 1956।
31. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उमेश मिश्र।
32. हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला, डी०सी० भट्टाचार्य।
33. तर्कभाषा, व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953।
34. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-नर्वदेश्वर तिवारी, भारतीय विद्या भवन, वाराणसी, 1997।
35. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार-डॉ० पंकज कुमार मिश्र, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001।
36. तर्कसंग्रह, सम्पा०-श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य, चौखंबा विद्याभावन, वाराणसी, 2003।
37. तर्कसंग्रह (नौ टीका सहित), सम्पादक-सत्कारि शर्मा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संवत् 2051।

38. भारतीय दर्शन : एक नयी दृष्टि, जगदीश चन्द्र जैन, चौखम्बा सुरभारती, बनारस, 1985।
39. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ० सूर्यकान्त, ओरियण्ट लॉगमेन, 1972।
40. तर्कभाषा, व्याख्याकार-गजानन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी, 1995।
41. न्यायदर्शनम्, उदयनारायण सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2004।
42. वैशेषिक एवं जैन तत्त्व मीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, डॉ० पंकज कुमार मिश्र, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1998।
43. भारतीय धर्म और दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी 2000।
44. भारतीय दर्शन, डॉ० श्रीकान्त पाण्डेय, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1993।
45. न्यायपरिचय, म०म० फणिभूषण तर्क वागीश, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1968।
46. महाभारतीय सांख्य, डॉ० राकेश शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2008।
47. तर्कसंग्रह (दीपिका), आचार्य आनन्द झा, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1976।

• • •

कतिपय व्याकरण-ग्रन्थाः

- **अष्टाध्यायी** (1-2 भाग)। 'चन्द्रलेखा' हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगि-विषयैरुपबृंहिता सूत्रपाठ-सूत्रवार्त्तिकोदाहरणानां सूच्या चान्विता। विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। पं. ईश्वरचन्द्र शर्मा
- **उणादिकोषः।** 'पीयूष'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतोऽनेकोपयोगिपरिशिष्टै-श्चोपबृंहि-तोऽनुसन्धानपरकदृष्ट्या निश्चितेन सूत्रपाठेन युतः। सोमलेखा एवं पं. ईश्वरचन्द्र।
- **काशिकावृत्तिः** (1-3 भाग)। 'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगि-विषयैरुप-बृंहिताकाशिकास्थ-सूत्र-वार्त्ति-केष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिको-दाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूची- भिरलंकृता। व्याख्याकार–पं. ईश्वरचन्द्र।
- **परिभाषेन्दुशेखरः** (1-2 भाग)। अभ्यंकरोपाह्ववासुदेव शास्त्रिविरचितया तत्त्वादर्शा-भिधया व्याख्यया समेतः, English Translation & Notes by F. Kielhorn
- **पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्।** 'आशुबोधिनी'-संस्कृत हिन्दीटीकाद्वयोपेतमनेको-पयोगि-परिशिष्टैरुपबृंहितम्। पं. ईश्वरचन्द्र
- **फिट्सूत्रपाठः।** 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीटीका सहित। व्याख्याकर्त्री–सोमलेखा। भूमिका लेखक–पं. ईश्वरचन्द्र।
- **बृहद्धातुकुसुमाकरः।** (सिद्धान्तकौमुदी के सभी धातु-रूपों का संग्रह)। पं. हरेकान्त मिश्र
- **बृहच्छब्दकुसुमाकरः।** (शब्दरूपों का संग्रह)। पं. हरेकान्त मिश्र
- **लघुशब्देन्दुशेखरः।** श्रीनागेशभट्ट। 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित। पञ्चसन्ध्यन्तः। आचार्य विश्वनाथ मिश्र
- **वैयाकरणभूषणसारः।** 'दर्पण' 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। डॉ. चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी
- **(वैयाकरण) सिद्धान्तकौमुदी** (1-4 भाग)। पुष्पाञ्जलि हिन्दी व्याख्या सहित। पं. ईश्वरचन्द्र
- **वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी**। श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितप्रणीता। विभक्त्यर्थ (कारक) प्रकरणम्। नाइसा-हिन्दीव्याख्योपेता। व्याख्याकर्त्री–डॉ. सुलेखादेवी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान - दिल्ली